रामचरितमानस में अलंकार-योजना

# रामचरितमानस में अलंकार-योजना

[ पटना विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि से विभूषित ]

लेखक

डॉ० वचनदेव कुमार, एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत)
पी-एच०डी०, डी० लिट्०

हिन्दी-विभाग, पटना कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

दिल्ली-६ ।। पटना-४

Ramcharitmanas Main Alankar-Yojna

(Thesis for D. Lit.)

By Dr. Bachan Deo Kumar

Price Rs. 41·00


| | |
|---|---|
| प्रकाशक | हिन्दी साहित्य संसार, पटना-४ |
| मुख्यालय | १५४३ नई सड़क, दिल्ली-६ |
| (C) | डॉ० बचनदेव कुमार |
| प्रथम मुद्रण | १९७१ |
| मूल्य | इकतालीस रुपये (४१·००) |
| मुद्रक | [illegible], पटना-४ |

# पुरोवाक्

और यह दूसरा शोध-प्रबन्ध 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' भी आपके समक्ष समुपस्थित है। इसके पूर्ववर्त्ती शोध-प्रबन्ध 'तुलसी के भक्त्यात्मक गीत-विशेषतः विनयपत्रिका' में मुझे कवि-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के अथाह गाम्भीर्य वाले अनाविल अन्तःकरण के जल-हिल्लोल की बांकी-झांकी लेने का सुयोग मिला था, तो इस शोध-प्रबन्ध 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' में इनकी कलात्मक प्रतिभा के प्रौढ़ि-प्रकर्ष के व्योमविहार का सुखकर एवं विस्मयकर आनन्द प्राप्त हुआ है।

रामचरितमानस की विश्व-विश्रुति का अन्यतम कारण यह भी है कि जिस किसी भी कोण से हम इस अद्भुत ग्रन्थ का अवलोकन करें, यह अपने प्रस्तार-विस्तार मे अमाप्य है। इसके एक अंश का सम्पूर्ण आकलन समग्र जीवन-साधना की अपेक्षा रखता है—ऐसा मैंने बार बार अनुभव किया है। अतः जब मैंने अलंकरण को दृष्टि-विन्दु मे रखकर शोध किया तो लगा यह अलकारों का कुबेर कोष है, जो भावो के अक्षय मधुकोष एवं विचारों के अमरकोष से सहजरूपेण सम्पृक्त है। इस अध्ययन से गोस्वामी तुलसीदास के कलात्मक औन्नत्य एवं औदात्य के रहस्यलोक के कई अनजाने द्वार उद्घाटित हुए और तुलसी-साहित्य पर अनुसंधान की कई नई दिशाओं का परिज्ञान भी हुआ है। यह शोध-प्रबन्ध ईषत् तुंदिल तो हो ही गया है, अधिकाधिक शास्त्रीय और पारिभाषिक सीमाओं से परिबद्ध भी; किन्तु यह मेरी विवशता है या शोध-कार्य की, मेरे लिए बतलाना सम्भव नही है।

हां! फिलहाल मैं तो इतना ही कहना चाहूँगा कि मानस चतुःशती की भव्य स्वागतवेला में यदि मैं इसके द्वारा मार्ग-सम्मार्जन भी कर सका तो अपने को सफलकाम मानूंगा, प्रलम्ब वन्दनवार में पत्रवत् टँग जाऊँ; ऐसी कामना करके उपहास का आलम्बन बनने का दुस्साहस कैसे करूँ? तुलसी साहित्य-शोधमंदिर के द्वार पर मैं इस कृति-कुसुम के साथ कभी पहुँचता अवश्य, किन्तु इतना शीघ्र पहुंचाने का सारा श्रेय मेरे अन्तरंग एवं हितैषी, हिन्दी साहित्य-संसार के सुयोग्य संचालक श्री रामकृष्ण शर्मा जी को है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिक नहीं, वरन् अनिवार्यतः स्वाभाविक है।

हिन्दी-विभाग, पटना कॉलेज,
पटना विश्वविद्यालय,
१ जुलाई, १९७१

वचनदेव कुमार

# विषय-तालिका

# प्राक्कथन

विषयप्रवेश :

रामचरितमानस एक ऐसी कालजयी, देशजयी रचना है कि संसार के प्रमुख देशो में अनेक विद्वानो ने इसकी मुक्तकठ से प्रशंसा की है। रामचरितमानस के समता-प्रदर्शन मे कोई उपमान उसी तरह उपयुक्त नही मालूम पडता, जिस तरह सीता के रूप-वर्णन मे। रामचरितमानस को हिमालय या महासागर से भी उपमित करने में हिचक मालूम पडती है; क्योंकि हिमालय की लम्बाई-चौडाई ही नही, ऊँचाई भी कई बार रौद डाली गयी, महासागरो की विस्तृति और अतलता को भी वैज्ञानिको ने नये-नये सयंत्रो से माप लिया है। किन्तु, रामचरितमानस की न तो गहराई अवतक पूर्णरूपेण मापी जा सकी और न ऊँचाई ही। सव कुछ अनुमान है और इस अनुमान को यथार्थ के धरातल पर लाने के लिए ही अनेक शोधकार्य हुए, हो रहे है और होगे।

अतः रामचरितमानस के किसी भी खंड को ले, किसी भी कोण से उसका अध्ययन करें, उसे मापने या परखने के लिए वर्षो का कठोर श्रम अपेक्षित है। आज से पॉच वर्ष पहले जव गुरुवर पं० जगन्नाथ राय शर्मा ने मुझे 'रामचरितमानस में अलकार-योजना' पर पुनर्शोध करने को कहा था, तो मैं समझ नही पाता था कि मुझे रामचरितमानस में इस विषय पर पर्याप्त सामग्री मिलेगी भी क्या ? जव मैंने इस विषय पर थोडा काम किया, तो मुझे लगा—"आवत यह सर अति कठिनाई"— और वढ़ने पर मुझे इतनी सामग्री मिलने लगी कि इस कार्य के संपादन का विश्वास दृढ़ होता गया। मैंने अनेकत्र इस विषय की चर्चा की। आरंभ मे कई शीर्पस्थ विद्वानो ने यही शंका व्यक्त की कि डी० लिट् के लिए इस विषय पर पर्याप्त सामग्री मिल सकेगी क्या ? मैंने जव उन्हें अपने शोध-कार्य की रुपरेखा वतलाई, तव उन विद्वानो ने वडे स्नेह से मुझे अपने कार्य को आगे वढ़ाने का आशीर्वाद दिया। ऐसे भी मुझे अनेक विश्वविद्यालयो के विद्वान्-विभागाध्यक्ष मिले, जिन्होंने आरभ मे ही मुझसे कहा था कि विषय सुंदर है और इस पर उत्तम कार्य हो सकता है।

मनुष्य के जीवन को अनेक सीमाएँ घेरती है—और इस शोधकार्य को करते मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि मैंने अपने कार्य के लिए वडा ही व्यापक विषय चुन लिया है। 'रामचरित-मानस मे अलंकार-योजना' क्या, रामचरितमानस की उपमाएँ, रामचरितमानस की उत्प्रेक्षाएँ, रामचरितमानस का रूपक-विधान आदि अलकार से सवद्ध अनेक विषय सकेतित किये जा सकते है, जिन पर डी० लिट् उपाधि के लिए गंभीर शोध-प्रवंध प्रस्तुत किये जा सकते है। अलकार-साहित्य के प्रसार और रामचरितमानस के विस्तार का जिन्हे किंचित् परिज्ञान होगा, उन्हे मेरा यह कथन आश्चर्यकर कदापि नही मालूम पडेगा।

अतः, इस लध्वाभामी विपय का इतना अछोर-अकूल विस्तार होने लगा कि वहुत स्थलो पर मैंने अलकार के सूक्ष्म भेदोपभेदों की उपेक्षा कर स्थूल भेदो के आधार पर ही अपना विवेचन किया है। हाँ, यह विषय इतना रोचक हे तथा इसके विवेचन से गोस्वामी तुलसीदास की

कार्यित्री प्रतिभा एवं मंडन-विलक्षणता के अनेक अनुद्‌घाटित गवाक्ष खुलते हैं, इसलिए यत्र-तत्र मैंने सोद्धरण विवेचन का लोभ संवरण नहीं किया है।

## रामचरितमानस में अलंकार-योजना पर किये गये कार्य :

गोस्वामी तुलसीदास पर आलोचनात्मक अध्ययन का श्रीगणेश करने वाले अँग्रेज विद्वान् एच० एच० विल्सन हैं। उन्होंने 'ए स्केच ऑव दि रेलिजस सेक्ट्स आन दि हिन्दूज' नामक निबंध लिखा, जो सन् १८३१ ई० के 'एशियाटिक रिसर्चेज' में पहली बार छपा। इस निबंध में भक्तमाल एवं जनश्रुतियों के आधार पर तुलसीदास के प्रामाणिक जीवनवृत्त को समुपस्थित करने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास पर स्वान्तः सुखाय गवेषणात्मक निबंध-लेखन का शुभारंभ जो सन् १८३१ ई० में हुआ, वह अद्यावधि चल रहा है। ऐसे उपाधि-कामना-रहित लेखकों में जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबंधु, श्री शिवनंदन सहाय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, श्री रामचंद्र द्विवेदी, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, बाबू श्यामसुंदर दास, डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य रामचंद्र द्विवेदी, डॉ० भगीरथ मिश्र तथा श्री नारायण सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

तुलसी-साहित्य पर सर्वप्रथम शोध-कार्य करनेवाले विदेशी विद्वान् लुइजि पिओ तेस्सितोरी हैं। उन्होंने सन् १९११ ई० मे 'फ्लोरेन्स' विश्वविद्यालय में 'रामचरितमानस और रामायण के तुलनात्मक अध्ययन' पर शोध-उपाधि प्राप्त की। तुलसी-साहित्य पर उपाधि हेतु शोध-कार्य करनेवाले दूसरे विदेशी विद्वान जे० एन० कारपेन्टर हैं। इन्होंने सन् १९१८ ई० में लन्दन विश्व-विद्यालय मे 'तुलसीदास का धर्मदर्शन' ( थियॉलॉजी ऑव तुलसीदास ) पर शोध-प्रबंध समर्पित किया। सन् १९११ ई० से अबतक तुलसी-साहित्य पर अनेक शोध-प्रबंध लिखे गये, जिनकी तालिका इस प्रकार है—

१ : रामचरितमानस और रामायण के तुलनात्मक अध्ययन—फ्लोरेन्स — सन् १९११ ई०
२ : तुलसी का धर्मदर्शन—जे० एन० कारपेन्टर—लंदन — सन् १९१८ ई०
३ : तुलसीदर्शन—श्री बलदेव प्रसाद मिश्र, नागपुर — सन् १९३८ ई०
४ : रामचरितमानस में तुलसी की शिल्प-कला—श्री हरिहर नाथ हुक्कू — सन् १९३९ ई०
५ : तुलसीदास : जीवनी और कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन —डॉ माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग — सन् १९४० ई०
६ : रामकथा—उत्पत्ति और विकास—फादर कामिल बुल्के—प्रयाग — सन् १९४९ ई०
७ : तुलसीदास और उनका युग—श्री राजपति दीक्षित—काशी — सन् १९४९ ई०
८ : रामचरितमानस के स्रोत और रचनाक्रम—कु० वोदविल—पेरिस — सन् १९५० ई०
९ : तुलसीदास का दर्शन—रामदत्त भारद्वाज—आगरा — सन् १९५३ ई०
१० : तुलसीदास की भाषा—श्री देवकीनन्दन श्रीवास्तव—लखनऊ — सन् १९५३ ई०
११ : रामचरितमानस के साहित्यिक स्रोत—श्री सीताराम कपूर—आगरा — सन् १९५५ ई०
१२ : तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—श्री राजाराम रस्तोगी—पटना — सन् १९५७ ई०
१३ : रामभक्ति शाखा—श्री रामनिरंजन पांडेय — सन् १९५७ ई०
१४ : कृतिवासी बंगला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन —श्री रामनाथ त्रिपाठी पीएच० डी०—आगरा — सन् १९५७ ई०

१५ : महाकवि भानुदत्त के नेपाली रामायण और गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—कमला सांकृत्यायन—पीएच० डी० —आगरा सन् १९५९ ई०

१६ : कंव रामायण और तुलसी रामायण का तुलनात्मक अध्ययन—शंकर राजू नायडू—पीएच० डी०—मद्रास सन् १९५९ ई०

१७ : वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन—विद्या मिश्र —पीएच० डी०—लखनऊ सन् १९५९ ई०

१८ : वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन —रामप्रकाश अग्रवाल—पीएच० डी०—आगरा सन् १९६० ई०

१९ : तुलसीदर्शन-मीमांसा—उदयभानु सिंह—डी० लिट्—लखनऊ सन् १९६० ई०

२० : रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव—विजयवहादुर अवस्थी —पीएच० डी०—दिल्ली सन् १९६० ई०

२१ : तुलसी की काव्यकला—भाग्यवती सिंह—पीएच० डी०—लखनऊ सन् १९६० ई०

२२ : तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा-श्रीधर सिंह पीएच०डी०—आगरा सन् १९६१ ई०

२३ : तुलसीदास और भारतीय संस्कृति—रघुराज शरण शर्मा—पीएच० डी० —आगरा सन् १९६१ ई०

२४ : तुलसीदास का समाज-दर्शन—महेश प्रसाद चतुर्वेदी- पीएच० डी०—सागर सन् १९६१ ई०

२५ : रामचरितमानस की अंतर्कथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन —वी० डी० पाण्डेय—पीएच० डी०—आगरा सन् १९६१ ई०

२६ : रामचरितमानस के विशिष्ट संदर्भ में तुलसीदास का शिक्षा-दर्शन —शम्भुलाल शर्मा—पीएच० डी०—राजस्थान सन् १९६१ ई०

२७ : तुलसी का सामाजिक दर्शन—विष्णुशर्मा मिश्र ,, ,, लखनऊ सन् १९६२ ई०

२८ : जैनकवि स्वयंभू के पदुमचरित्र (अपभ्रंश) तथा तुलसीकृत रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन —ओम् प्रकाश दीक्षित— ,, ,, आगरा सन् १९६२ ई०

२९ : तुलसी के काव्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण —अम्बिका प्रसाद वाजपेयी—डी० लिट्—आगरा सन् १९६२ ई०

३० : रामचरितमानस और रामचंद्रिका का तुलनात्मक अध्ययन —जगदीश नारायण—पीएच० डी०—आगरा सन् १९६२ ई०

३१ : तुलसीदास और रामभक्ति संप्रदाय के प्रसिद्ध मलयालन कवि —एम० जार्ज—पीएच० डी०—आगरा सन् १९६२ ई०

३२ : रामलीला की उत्पत्ति तथा विकास—विशेषतः मानस की रामलीला —मोहन राम यादव—पीएच० डी०—काशी सन् १९६२ ई०

३३ : तुलसी के भक्त्यात्मक गीत : विशेषतः विनयपत्रिका —वचनदेव कुमार—पीएच० डी०—पटना सन् १९६२ ई०

३४ : तुलसीदास के काव्य में अलंकार-योजना—
नरेन्द्र कुमार—पीएच० डी०—दिल्ली सन् १९६३ ई०
३५ : तुलसी-साहित्य पर संस्कृत के अनार्ष प्रबंधों की छाया —
रामतवक्या शर्मा—डी० लिट्—पटना सन् १९६५ ई०
३६ : रामचरितमानस में भक्ति—सत्यनारायण शर्मा—पीएच० डी०—बिहार सन् १९६६ ई०
३७ : रामचरितमानस में वर्णित समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन
—कृष्णनंदन अभिलाषी—पीएच० डी०—पटना सन् १९६७ ई०

अब तक तो मैंने गोस्वामी तुलसीदास या रामचरितमानस पर सामान्यतः किये गये अनुसंधान-कार्यों का उल्लेख किया है। तुलसी-साहित्य, विशेषतः रामचरितमानस के अलंकार पर किये गये कार्यों का विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कार्य मुख्यतः छह श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

१ : स्वतंत्र पुस्तक-रूप में,
२ : आलोचना-ग्रन्थों मे,
३ : शोध-प्रबंध के रूप में,
४ : मानस की टीकाओं में,
५ : पत्र-पत्रिकाओं में तथा
६ : हिन्दी की अलंकार-पुस्तकों मे।

तुलसी-साहित्य में अलंकारों का प्रयोग इतनी प्रचुरता और विविधता से हुआ है कि इस ओर सर्वप्रथम ध्यान जाना आवश्यक था। रीतिकाल मे जब कविता-कामिनी अलकारों से लद गयी थी, जब साहित्यालोचन के प्रमुख मानदंड अलंकार थे, उसी समय रसरूप का ध्यान इस ओर आया। रसरूप ने 'तुलसीभूषण' नामक अलंकार-पुस्तक की रचना आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सन् १७५४ ई० में की। इस पुस्तक में रसरूप ने छह शब्दालंकारों (अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, सचित्र तथा पुनरुक्तवदाभास) एवं एक सौ ग्यारह अर्थालंकारों (आशीष से मुद्रा) का विवेचन किया है। रसरूप अर्थालंकारों का अक्षरक्रम से उल्लेख करना चाहते हैं, किन्तु अन्त तक इसका निर्वाह वे कर नहीं पाये। लक्षण स्वनिर्मित है, किन्तु उनके आधार अप्पय दीक्षित, मम्मट और केशवदास हैं।

इन अलंकारों के उदाहरण उन्होंने केवल रामचरितमानस से ही नहीं, वरन् समग्र तुलसी-साहित्य से देने का प्रयत्न किया है। रसरूप ने आक्षेप के अनेक भेद किये हैं। जैसे—प्रेमाक्षेप, अधीरजा आक्षेप, धीरजा आक्षेप, संशयाक्षेप मरणाक्षेप, धर्माक्षेप, उपायाक्षेप, शिक्षाक्षेप और आशीर्वादाक्षेप आदि। इन सबके उदाहरण मानस से ही दिये गये है।

उन्होंने उपमा के अनेक भेदों को भी उदाहृत करने का प्रयत्न किया है। यथा—रत्नोपमा, प्रतिवस्तूपमा, गुणाधिकोपमा, मालोपमा, स्तवकोपमा, दूषणोपमा, भूषणोपमा, नियमोपमा, अभूतोपमा, निर्णयोपमा, लक्षणोपमा, विरोधोपमा, अतिशयोपमा, विपरीतोपमा तथा सकीर्णोपमा। इनके उदाहरण मानस से ही नहीं वरन् गीतावली, बरवै रामायण तथा रामशलाका से भी दिये गये हैं। रसरूप ने 'उक्ति' के अट्ठाइस भेदों की चर्चा की। उक्ति के बारे मे उनका कथन है—

उपज बुद्धि विवेक बल विविध तर्क जेहि ठौर।
अष्टाविंशति उक्ति है कहै सुकवि सरिमौर॥

इन उक्तियों के नाम हैं—रूपकातिशयोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, अत्युक्ति, अत्यंतातिशयोक्ति, संबंधातिशयोक्ति, असबंधातिशयोक्ति, व्यधिकरणोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, विनोक्ति, निरुक्ति, प्रौढ़ोक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, विरोधोक्ति, स्वभावोक्ति, समासोक्ति, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, उन्मतोक्ति, दृढ़ातिशयोक्ति, यथार्थातिशयोक्ति, मापह्नुवातिशयोक्ति, अन्यभवातिशयोक्ति, पर्यास्तातिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति।

इनमे भी सभी के उदाहरण मानस से नही दिये गये है। मानस से जहाँ कहो दिये गये हैं, वहाँ एक या दो।

रसरूप ने धन्यता तथा निर्णय—दो अर्थालंकारो की उद्भावना कर काव्यशास्त्र को समृद्ध किया है। धन्यता तथा निर्णय की रसरूपकृत परिभाषाएँ निम्नोद्धृत हैं—

धन्यता—

करन अर्थ ते अधिक जहाँ उपजावे कछु बात।
धन्यता तासो कहत है, जा को मत अवदात॥

—तुलसीभूषण, पृष्ठ २३

निर्णय—

जहाँ होत है एक की निर्णय बहुमुख मोह।
अलंकार निर्णय कहत, तातें कवि कुल नाह।

—तुलसीभूषण, पृष्ठ २३

इन दोनो के उदाहरण मानस से नही दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त पदुमनदास की 'काव्यमंजरी' के आधार पर 'उन्मतोक्ति' तथा 'चन्द्रोदय' के आधार पर विक्षेप अलंकार का विवेचन किया गया है।[1] ये दोनो अलंकार-शास्त्र में बहुत विख्यात नही हैं। रसरूप ने इन दोनों के उदाहरण मानस से ही दिये हैं। उन्मतोक्ति का उदाहरण है—

जिन्हे विरचि बड़ भयेऊ बिधाता। महिमा अवधि रामु पितु माता॥
पुनि सुनहु महामहिपाल मणि, तुम सन धन्य न कोई।
राम लखन जा के तनय, विश्व विभूषण दोई॥

तुलसीभूषण, पृष्ठ १२

विक्षेप का उदाहरण है—

सुनि मतिमंद देहि अब पूरा। काटें सीस कि होइअ सूरा॥
इन्द्रपालि कहुँ कहिअ न बीरा। काटई निज कर सकल सरीरा॥
जमहिं पतंग विमोहबस, भार वहहि खर वृन्द।
ते नहि सूर कहावहि, सुनु रावन मति मन्द॥

—तुलसीभूषण पृष्ठ. ३४

रसरूपकृत 'तुलसीभूषण'[2] तुलसी-साहित्य के अलंकार पक्ष से संवद्ध अनुसंधान-कार्य का प्रथम, किन्तु सुदृढ़ चरण है। इस पुस्तक से रामचरितमानस के अलकारपक्ष पर कार्य करने के लिए एक आधार प्राप्त होता हे, इसे स्वीकार करने में मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नही है।

---

१ रीतिकालीन अलकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, ओमप्रकाश शास्त्री, पृष्ठ ११८

२ 'तुलसीभूषण' प्रकाशित नहीं है। यह नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की हस्तलेख संख्या ९३५ है।

२ : दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति श्री सुमति की 'तुलसीभूषण' है। इस पुस्तक की पांडुलिपि विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना में प्रकाशनार्थ सुरक्षित है। यह पुस्तक न केवल रामचरितमानस या तुलसी-साहित्य से संवद्ध है, वरन् इसमें समग्र राम-साहित्य से अलंकारों के उदाहरण देने का यत्न किया गया है। इस पुस्तक से महत्त्वपूर्ण अलंकारों के अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। इस पुस्तक की रचना सन् १९३० ई० के आसपास हुई।

३ : तुलसीभूषण—इसके लेखक पं० विहारीलाल चौबे हैं। तुलसी-साहित्य में प्राप्त अलंकारों के ऊपर यह एक लघु पुस्तक है।

४ : मानस-रहस्य—यह पुस्तक रामचरितमानस के अलंकारों का अति संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करती है। पुस्तक १०८ पृष्ठों की है। लेखक श्री सरदार कवि है।

५ : मानस-दर्पण—यह ६० पृष्ठों की एक छोटी-सी पुस्तक है। पुस्तक श्री चन्द्रमौलि सुकुल द्वारा सन् १९१३ ई० में लिखी गयी। इस पुस्तक में रामचरितमानस से रस, भाव, अलंकार, गुण तथा रीति के उदाहरण दिये गये हैं। एकाध उदाहरण वरवै रामायण से भी दिये गये है। लेखक के अनुसार—"इस पुस्तक में अलंकारों आदि के लक्षण संस्कृत-साहित्य से और उदाहरण तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' से लिये गये हैं, पर दो-एक स्थानों में 'वरवा रामायण' से भी लिये है। इसमें दो काम सिद्ध होते हैं, एक तो उदाहरण देखने के लिए सैकड़ो पुस्तकें नहीं खोजनी पड़ती, किन्तु केवल एक ही पुस्तक से पूरा काम चल जाता है, जो हर एक घर मे पाई जाती है, दूसरे इसी वहाने राम जी का नाम निकलता है और अन्य अलंकार-ग्रन्थो के कामाचार वाली फूहड़ वातो से वचाव होता है।"[1]

इस पुस्तक के ४१ से ६० पृष्ठ तक अलंकारो का विवेचन है। शब्दालंकार में वक्रोक्ति अनुप्रास, पुनरुक्तवदाभास, यमक, श्लेष तथा अर्थालंकार में उपमा, मालोपमा, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, मन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुत प्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोधाभास, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्ति, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, सूक्ष्म, सार, असंगति, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि और संकर का विवेचन हुआ है। एक-दो उदाहरणों से ही लेखक ने संतोष किया है। सामान्य का उदाहरण रामचरितमानस को छोड वरवै रामायण से दिया गया है।

**आलोचना-ग्रंथों में :**

गोस्वामी तुलसीदास पर जितने आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उतने हिंदी के किसी अन्य कवि पर नहीं, ऐसा सुज्ञात है। काव्य-संपदा के विवेचन के लिए अलंकार एक प्रमुख उपदान है, अतः अनेक आलोचना एवं शोध प्रबंधों में तुलसी-साहित्य में आगत अलंकारों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

---

१ : भूमिका से

१ : गोस्वामी तुलसीदास—स्व० बाबू शिवनंदन सहाय ने अपनी इस पुस्तक में पृष्ठ १६३-१६७ तक 'रामायण में रूपकादि की बहार' शीर्षक से एक परिच्छेद लिखा है। इस निबंध में रूपकों के अतिरिक्त उपमाओं, यमक तथा अनुप्रास की भी चर्चा है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

२ : गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' के पृष्ठ १४७ से १६६ पृष्ठ अर्थात् १९ पृष्ठों मे तुलसी के 'अलंकार-विधान' पर विचार किया है। यहाँ अलकार के कार्य पर विचार करते हुए उन्होंने तुलसी-साहित्य मे अलंकार-विनियोग-सौंदर्य पर विचार किया है। उनका यह विवेचन सारगर्भ है,फिर भी इसमे मानस मे प्रयुक्त दस-पाँच अलंकारों के उदाहरण के अतिरिक्त हमारे कार्य के लिए और कुछ प्राप्त नहीं होता। यह पुस्तक पहली बार सम्वत् १९८० अर्थात् सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुई थी।

३ : तुलसी-साहित्य-रत्नाकर—तुलसी-साहित्य-रत्नाकर के लेखक पं० रामचन्द्र द्विवेदी हैं। इस पुस्तक के अवसान-खण्ड अर्थात् तृतीय खड—ग्रन्थालोचन के अंतर्गत अलंकार और तुलसीदास पर विचार किया गया है। शब्दालकार के अंतर्गत १ : अनुप्रास, २ : यमक, ३ : श्लेष, ४ : पुनरुक्ति प्रकाश, ५ : पुनरुक्तवदाभास, ६ : वीप्सा, ७ : वक्रोक्ति और प्रहेलिका :, अर्थालंकार के अंतर्गत—१ : उपमा, २ : प्रतीप, ३ : रूपक, ४ : परिणाम, ५ : उल्लेख, ६ : स्मरण, ७ : भ्रान्ति, ८ : सन्देह, ९ : अपह्नुति, १० : उत्प्रेक्षा, ११ : अतिशयोक्ति, १२ : तुल्ययोगिता, १३ : दीपक, १४ : आवृत्ति दीपक, १५ : कारकदीपक, १६ : मालादीपक, १७ : देहरी दीपक, १८ : प्रतिवस्तूपमा, १९ : दृष्टान्त, २० : निदर्शना, २१ : व्यतिरेक, २२ : सहोक्ति, २३ : विनोक्ति, २४ : समासोक्ति, २५ : परिकर, २६ : परिकरांकुर, २७ : अप्रस्तुत प्रशंसा, २८ : प्रस्तुतांकुर, २९ : पर्यायोक्त, ३० : व्याजस्तुति, ३१ : व्याजनिन्दा, ३२ : आक्षेप, ३३ : विरोधाभास, ३४ : विभावना, ३५ : विशेषोक्ति, ३६ : असंभव, ३७ : असंगति, ३८ : विषम, ३९ : सम, ४० : विचित्र, ४१ : अधिक, ४२ : अल्प, ४३ : अन्योन्य, ४४ : विशेष, ४५ : व्याघात, ४६ : कारणमाला, ४७ : एकावली, ४८ : सार, ४९ : क्रम, ५० : पर्याय, ५१ : परिवृत्ति, ५२ : परिसंख्या, ५३ : विकल्प, ५४ : समुच्चय, ५५ : समाधि, ५६ : प्रत्यनीक, ५७ : काव्यार्थापत्ति, ५८ : काव्यलिंग, ५९ : अर्थान्तरन्यास, ६० : विकस्वर, ६१ : प्रौढ़ोक्ति, ६२ : सभावना, ६३ : मिथ्याध्यवसित, ६४ : ललित, ६५ : प्रहर्षण, ६६ : विषादन, ६७ : उल्लास, ६८ : अवज्ञा, ६९ : अनुज्ञा, ७० : तिरस्कार, ७१ : लेश, ७२ : मुद्रा, ७३ : रत्नावली, ७४ : तद्गुण, ७५ : अतद्गुण, ७६ : पूर्वरूप, ७७ : अनुगुण, ७८ : मीलित, ७९ : उन्मीलित, ८० : सामान्य, ८१ : विशेष, ८२ : विशेषकोन्मीलित, ८३ : गूढ़ोत्तर, ८४ : चित्रोत्तर, ८५ : सूक्ष्म, ८६ : पिहित, ८७ : व्याजोक्ति, ८८ : गूढ़ोक्ति, ८९ : विवृतोक्ति, ९० : युक्ति, ९१ : लोकोक्ति, ९२ : छेकोक्ति, ९३ : स्वभावोक्ति, ९४ : भाविक, ९५ : उदात्त, ९६ : अत्युक्ति, ९७ : प्रतिषेध, ९८ : विधि, ९९ : प्रमाण, १०० : हेतु तथा उभयालंकार मे संकर संसृष्टि के समग्र तुलसी-साहित्य से अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

द्विवेदी जी ने उपमा के अंतर्गत ही मालोपमा, उपमेयोपमा तथा अनन्वयोपमा को समाविष्ट कर लिया है तथा दीपक, आवृत्तिदीपक, कारकदीपक, मालादीपक तथा देहरीदीपक को अलग-अलग अलंकार माना है।

इन उदाहरणों में ग्रन्थों के संदर्भ-संकेत की बात तो दूर, इनके नाम भी नहीं दिये गये हैं। ये उदाहरण गोस्वामी जी के ग्रन्थों के हैं, बस इतना ही जाना जा सकता है।

४ : तुलसीदास—डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपने शोध-प्रबंध 'तुलसीदास' में गोस्वामी तुलसीदास के कल्पना-विलास पर विचार करते हुए महज कुछेक पृष्ठों में, तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, उदाहरण, रूपक, अपह्नुति, काव्यलिंग, प्रतीप-जैसे अलंकारों का उल्लेख मात्र किया है। यहाँ हमें मानस में प्रयुक्त कुछ अलंकारों के दस-पाँच उदाहरण भर मिल जाते हैं।[1] यह पुस्तक पहली बार सन् १९४२ ई० में प्रकाशित हुई थी।

५ : तुलसीदास आचार्य चंद्रबली पांडेय ने अपनी पुस्तक 'तुलसीदास' में 'काव्यकौशल' के अंतर्गत ३५ पृष्ठों[2] में तुलसीदास के अलंकार-कौशल पर विचार किया है। इस विश्लेषण-क्रम में उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, रूपक, उल्लेख, दृष्टांत, निदर्शना, अनन्वय, असम, श्लेष तथा अनुप्रास तक ही अपने को सीमित रखा है। रामचरितमानस की अलंकार-योजना पर विचार करने के लिए इस पुस्तक में किंचित् सामग्री उपलब्ध हो जाती है। यह पुस्तक पहली बार संवत् २००५ में छपी। पुनः इसका संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण संवत् २०१४ में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ।

६ : तुलसी—प्रो० रामबहोरी शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'तुलसी' में 'अलकृति' शीर्षक के अंतर्गत तुलसी-साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों पर विचार किया है। बारह-तेरह पृष्ठों[3] में समग्र तुलसी-साहित्य में अनुभूत अलंकारों पर विचार करना संभव है ही नहीं। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९४९ ई० में हुआ था।

७ : तुलसीदास और उनका युग—डॉ० राजपति दीक्षित ने अपने शोध-प्रबंध 'तुलसीदास और उनका युग' के दशम् परिच्छेद 'तुलसी का साहित्यिक उपहार' के अंतर्गत तुलसी-साहित्य में विनियुक्त अलंकारों का विवेचन किया है। यहाँ हमें मानस में प्रयुक्त कुछेक अलंकारों के सौन्दर्य का परिज्ञान होता है। अलंकार-अंश पुस्तक के ४३९ वें पृष्ठ से ४५१ पृष्ठ तक है। पुस्तक २००९ संवत् में प्रकाशित हुई है।

८ : गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में तुलसी के 'अप्रस्तुत विधान' के अंतर्गत रूपक, उत्प्रेक्षा एवं उपमा-जैसे प्रमुख अलंकारों का उल्लेख किया है। यह अंश पुस्तक में केवल दस पृष्ठों ( पृष्ठ ८१-९१ तक ) में है। यह सन् १९५६ ई० में प्रकाशित हुई थी।

९ : तुलसी-मानस-रत्नाकर—डॉ० भाग्यवती सिंह ने 'तुलसी-मानस-रत्नाकर' के पृष्ठ २९५ से पृष्ठ ३०८ तक तुलसी के अलंकार पर विचार किया है। इन दस पृष्ठों में मानस में प्रयुक्त पर्यायोक्ति, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, अपह्नुति, उल्लेख, सन्देह, सहोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्यतिरेक तथा श्लेष के कुछ उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

१० : रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डॉ० राजकुमार पांडेय ने इस शोध-प्रबंध के एकादश परिच्छेद के चतुर्थ अधिकरण में 'मानस में अलंकार-नियोजना' पर

---

१ : तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ ३२७ से पृष्ठ ३५० तक

२ : तुलसीदास, आचार्य चन्द्रबली पांडेय, पृष्ठ २०५ से पृष्ठ २४० तक

३ : तुलसी, रामबहोरी शुक्ल, पृष्ठ १९८ से पृष्ठ २११ तक

विचार किया है। यह अधिकरण पृष्ठ ३७४ से ३८९ अर्थात् केवल १५ पृष्ठों का है। इन १५ पृष्ठों में लेखक ने मानस में प्रयुक्त अलंकारों पर विहंगम दृष्टि डाली है। यही कारण है कि उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, रूपकातिशयोक्ति एवं अतिशयोक्ति केवल पाँच अलंकारों के कुछ उदाहरण देकर ही लेखक संतुष्ट हो गया है। यह पुस्तक सन् १९६३ ई० में प्रकाशित हुई है।

११ : तुलसी-काव्य-मीमांसा—तुलसी-काव्य-मीमांसा के लेखक डॉ० उदयभानु सिंह हैं। इस पुस्तक के नवम् अध्याय में लेखक ने तुलसी के कलापक्ष पर विचार किया है। कलापक्ष के अंतर्गत लेखक ने लगभग तेरह पृष्ठों में सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य के अलंकार-विधान पर प्रकाश डाला है। स्थान-संकोच के कारण उन्होंने तुलसी की अलंकार-प्रयुक्ति के कतिपय सिद्धांतों का उल्लेख तथा तुलसी-साहित्य से कुछ उदाहरण प्रदान कर इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है। पुस्तक का प्रकाशन-काल सन् १९६६ ई० है।

**शोध-प्रबंध :**

तुलसीदास के काव्य में अलंकार-योजना पर श्री नरेन्द्र कुमार ने दिल्ली विश्वविद्यालय से सन् १९६३ ई० में पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस शोध-प्रबंध में कुल दस अध्याय हैं—

१ : अलंकार का विवेचन, विकास और वर्गीकरण
२ : शब्दालंकार
३ : भेदाभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार
४ : अभेदप्रधान सादृश्यमूलक अलंकार
५ : गम्योपम्याश्रय सादृश्यमूलक अलंकार
६ : विरोधगर्भ अलंकार
७ : शृंखलामूलक एवं गूढार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार
८ : न्यायमूलक अलंकार
९ : अन्य अलंकार
१० : उपसंहार

डॉ० नरेन्द्र कुमार ने अपना कार्य परिश्रमपूर्वक किया है, फिर भी तुलसी-साहित्य जैसे व्यापक विषय को ले लेने के कारण शोध-कार्य में जैसी गहराई अपेक्षित होती है, उसका अभाव सर्वत्र खटकता है। (१) उन्होंने अलंकार का विवेचन करते हुए मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, कवितावली-जैसे ग्रंथों से ही उदाहरण दिये हैं; क्योकि इन ग्रंथों की टीकाओं में यत्रतत्र अलंकार-निर्देश किया गया है। श्री कुमार ने इसकी चिंता भी नही की कि गोस्वामी तुलसीदास के द्वादश प्रामाणिक ग्रन्थ है और उन सब के अलंकार-विधान पर विचार होना आवश्यक है। इन विभिन्न ग्रन्थों के अलंकार-नियोजन में वैशिष्ट्य पार्थक्य क्या है—यदि इस ओर शोधकर्त्ता ध्यान देता, तो तुलसी-काव्य-परीक्षण की एक नयी दिशा उद्घाटित होती। (२) उन्होंने तुलसी-साहित्य मे अनेक अलंकारों का विवेचन किया है, किन्तु फिर भी अनेक अलकारों को छोड दिया है। (३) अलंकारों के उदाहरण एकत्र कर देना भी महत्त्वपूर्ण काय है, किन्तु इन अलंकारों ने काव्यात्मक सौंदर्य, कथा-शृंखला, चरित्र-निरूपण एवं वातावरण-निर्माण मे कैसा योग दिया है, इस पर भी विचार करना आवश्यक था। यह शोध-ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

२ : रामचरितमानस के उपमान पर डॉ० लीला ओझा को इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सन् १९६५ ई० में पीएच० डी० की उपाधि मिली। यह कार्य भाषा-वैज्ञानिक है। रामचरितमानस में प्रयुक्त उपमानो-उपमेयो की सूची से ही प्रायः सम्पूर्ण शोध-प्रबंध समाप्त हो गया है।

## मानस की टीकाएँ :

१ : मानस-मयंक—पं० शिवलाल पाठक ने मानस की चुनी हुई दोहे-चौपाइयो का दोहों में भावार्थ लिखा है। यह पुस्तक खड्गविलास प्रेस, बॉकीपुर से सन् १९२० ई० में छपी थी। इस पुस्तक में पाठक जी ने कही-कही अलंकारों का निर्देश किया है।

२ : रामचरितमानस की टीका—इसके प्रणेता त्रिवेणी बॉध गुफा (दारागंज) के श्रीस्वामी अवधबिहारीदास परमहंस है। इस पुस्तक में मानस की थोड़ी चौपाइयों और दोहे में यत्र-तत्र उपमेय उपमान बतलाये गये हैं।

३ : महावीर प्रसाद मालवीय 'वीर कवि' ने रामचरितमानस की टीका की है, जिसमे स्थल-स्थल पर उन्होंने रामचरितमानस में अलंकारो का निर्देश किया है। यह पुस्तक बेल-वेडियर प्रेस, इलाहाबाद से सं० १९६९ यानी सन् १९२१ ई० में प्रकाशित हुई थी। रामचरित-मानस में इन्होंने अनेक स्थलो पर अलंकार का उल्लेख किया है। टीकाकार ने अलंकार-प्रकाश, काव्य-निर्णय, भाषाभूषण तथा अलंकार-मजूषा के आधार पर अलंकारों का निर्देश किया है। मालवीय जी ने बहुत सारे स्थानो में अलकारोल्लेख किया ही नही है।

४ : मानसदीपिका—मानसदीपिका के रचनाकार श्री रघुनाथ दास है। इसका प्रणयन-काल संवत् १९३० अर्थात् सन् १८७३ ई० है। मानस की टीकाओ में यह पहली कृति है, जिसमें मानस में प्राप्त सभी प्रमुख अलंकारो के केवल एक-एक उदाहरण दिये गये हैं। इसी पुस्तक मे मानस में प्राप्त कुछ प्रमुख चित्रबंधों का भी उल्लेख किया गया है। यह अंश मानस-मयूख वर्ष २, चतुर्थ प्रकाश के पृष्ठ २५४ से पृष्ठ २७१ तक में प्राप्त होता है।

५ : मानस-पीयूष—मानस-पीयूष के संपादक एवं संकलनकर्त्ता श्री अंजनीनंदनशरण तथा श्री शीतला सहाय हैं। इन्होने भी मानस की टीकाओ मे कही-कही अलंकारो का निर्देश किया है। ऐसा भी देखा जाता है कि पूरे-के-पूरे कांड में दो-चार स्थलो के सिवा अलंकारो का उल्लेख है ही नही। यह पुस्तक गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित है।

६ : सिद्धान्ततिलक — इसमें श्री श्रीकान्तशरण जी ने रामचरितमानस की टीका करते हुए कही-कही अलंकारों का निर्देश किया है। किन्तु, ये निर्देश अत्यल्प है। यह ग्रन्थ तिलक पुस्तक भडार, पटना से प्रकाशित है।

## पत्र पत्रिकाओं के निबंध :

हिंदी का पहला पत्र 'उदन्त मार्त्तण्ड' (साप्ताहिक) ३० मई, सन् १८२६ ई० को कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। इसके सपादक थे पंडित युगल किशोर। फिर 'बंगदूत' (९ मई, १८२९ ई०) तथा 'बनारस' (सन् १८४४ ई०) निकले। 'बनारस' के संपादक थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद। सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' निकली। फिर 'माधुरी', 'सुधा' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' आदि पत्रिकाएँ निकली। आज तो हिंदी में कई दर्जन परिनिष्ठित पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं।

एक रामचरितमानस से संबद्ध ही 'मानसमयूख', 'मानसमणि', 'तुलसीदास' तथा 'रामलीला'-जैसी पत्रिकाएँ निकल रही हैं। किन्तु, 'रामचरितमानस के अलंकार पक्ष' पर इन पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कम निबंध देखने को मिलते हैं। जो मिलते है, वे भी उल्लेखनीय प्रतीत नही होते। इन निबंधो में दो-एक निबंध महत्त्वपूर्ण हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'माधुरी', वर्ष २, खंड १, संख्या १, पृष्ठ ७४ में 'तुलसी की उपमाएँ' शीर्षक निबंध लिखा था। इस निबंध में उन्होने तुलसी के उपमा-वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला है। इस प्रकार अन्य पत्र-पत्रिकाओं में कुछ निबंध बिखरे है, किन्तु वे बहुत महत्त्वपूर्ण नही है।

**अलंकार-ग्रन्थों में :**

जब हिंदी का व्यापक प्रचार-प्रसार होने लगा, तो अलंकार के सामान्य ज्ञान के लिए विद्वानो ने अलकार-संबंधी पुस्तको का प्रणयन प्रारम्भ किया। इन अलंकारो के उदाहरण-स्वरूप इन लेखको ने तुलसी-साहित्य विशेषतः रामचरितमानस के भी कतिपय उदाहरण दिये है। रामचरितमानस की अलंकार-योजना पर कार्य करते समय इनसे भी ईषत् लाभ हुआ है, अतः इनका उल्लेख अनावश्यक नही होगा। अलंकार-सबंधी छात्रोपयोगी पुस्तकें तो असंख्य हैं, अतः उन सब के नाम न गिनाकर कुछ प्रमुख पुस्तको का उल्लेख ही किया जा रहा है। इन पुस्तको मे महत्त्वपूर्ण है---स्व० लाला भगवानदीन कृत 'अलंकार मञ्जूषा' तथा 'अलंकार चद्रिका', आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा कृत 'अलंकार मुक्तावली', डॉ० सत्येन्द्र कृत 'काव्य श्री', पं० रामदहिन मिश्र कृत 'काव्य-दर्पण' तथा श्री आर्येन्द्र शर्मा कृत 'अलंकार-प्रकाश' आदि।

इतनी आधार-सामग्री के रहते हुए भी रामचरितमानस के अलंकार पक्ष पर कार्य करने की इतनी संभावना दृष्टिगत होने लगी कि मैंने अपने शोधोत्तर शोध के लिए 'रामचरितमानस' में 'अलंकार-योजना' पर कार्य करना ही उपयुक्त समझा। तुलसी-साहित्य के अध्येता जानते हैं कि तुलसी-दर्शन पर डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र को सन् १९३८ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि मिली। पुनः 'तुलसीदास का दर्शन' पर आगरा विश्वविद्यालय ने श्री रामदत्त भारद्वाज को सन् १९५३ ई० में पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की। पुनः सन् १९६० ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय ने डॉ० उभयभानु सिंह को 'तुलसी-दर्शन-मीमासा' पर डी० लिट् की उपाधि प्रदान की। विद्वान् परीक्षको ने एक ही विषय पर तीनो बार तीन विद्वानो को शोध-उपाधियाँ प्रदान की। इसका एकमात्र कारण यही है कि तीनो ने गोस्वामी तुलसीदास के दर्शन को बिलकुल अभिनव कोणो से देखा और विश्लेषित किया।

रामचरितमानस-जैसे साहित्यिक सौन्दर्य से आपूर्ण ग्रन्थ के अलंकार-पक्ष का सागोपाग परीक्षण अबतक नही हो पाया है। अतः, मैने मानस के अलंकार-निरूपण की सूक्ष्म रेखाओं को उरेहने तथा उसपर अपने निष्कर्ष व्यक्त करने के लिए इस विषय पर शोध किया।

**कार्य में कठिनाई :**

किन्तु इस कार्य में मुझे जो कठिनाइयाँ झेलनी पडी है, उन्हे यहाँ बतलाना न तो संभव है और न उचित ही। साधारण-सी कठिनाई की ओर ध्यान आकृष्ट करना अप्रासागिक न होगा। मानस के एक दोहे को ले—

प्रिय लागहिं अति सबहि मम भनिति रामजस संग ।
दारु बिचारु कि करइ कोउ बंदिअ मलय प्रसंग ॥
१.१० (क)

इस दोहे में तीन विद्वानों ने तीन अलंकार माने हैं। आचार्य चंद्रवली पांडेय यहाँ निदर्शना[1] अलंकार मानते हैं, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा यहाँ दृष्टान्त[2] अलंकार मानते है और श्री नरेन्द्रकुमार ने अपने शोध-प्रबंध में इसे प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त दोनो के अंतर्गत रखा है।

ऐसे ही अलंकारो की संख्या और भेद-प्रभेद को लेकर कठिनाई अनेकत्र हुई है। असंगति, निदर्शना, प्रतीप, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा एवं आक्षेप आदि के भेदोपभेदो और परिभाषाओं को लेकर आलंकारिकों में पर्याप्त मतभेद दीख पड़ता है। इन भेदों की परिभाषाओं के त्याग-ग्रहण में किसी आचार्य को आधार मानकर अन्य को छोड दिया गया है।

मानस की पुरानी टीकाओं एवं अन्य हस्तलेखों को प्राप्त करने में भी मुझे जिन दुःखद स्थितियों से गुजरना पड़ा है, उनका बखान करना संभव नही। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने तो शोध-प्रबंध देखने के लिए जो शुल्क रखा है, वह तो है ही, साथ-ही-साथ यह भी नियम बना दिया है कि हस्तलेख से दस प्रतिशत अंश ही नकल किये जा सकते हैं। हिसाब जोड़कर हस्तलेख के उपयोग करने मे बडी असुविधा होती है। सभा के पहरेदार सर पर सवार रहते हैं कि कही ज्यादा तो उतारा नही जा रहा है। यह स्थिति शोधार्थियों को कितने कष्ट में डालती है, इसका अनुमान तो वही कर सकता है, जो इस स्थिति से गुजरा हो।

## शोध-प्रबंध की रूपरेखा :

'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' नामक मेरे इस शोध-प्रबंध के दो खंड हैं। इसका प्रथम खंड 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' तथा द्वितीय खंड 'मानस अलंकार-कोष' है।

प्रथम खंड 'रामचरितमानस में अलंकार-योजना' में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे अलंकार की परिभाषा—अलंकारों का सामान्य विवेचन, संस्कृत तथा हिन्दी के काव्यशास्त्रियो द्वारा अलंकार-विवेचन और अलंकारों का वर्गीकरण किया गया है। द्वितीय अध्याय में शब्दालंकार, तृतीय मे सादृश्यमूलक, चतुर्थ में विरोधगर्भ, पंचम मे न्यायमूलक, षष्ठम् में शृंखला-मूलक एवं गूढ़ार्थप्रतीति मूल अलंकार विवेचित हैं। द्वितीय से षष्ठ अध्याय तक वे ही अलंकार लिये गये हैं, जिन्हे रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' मे स्वीकार किया है। सप्तम् अध्याय में रुय्यक के वर्गीकरण से बहिर्गत अलंकारो पर विचार किया गया है। अष्टम् अध्याय में उभयालंकार का विवेचन हुआ है। नवम् अध्याय में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय मे तुलसी के अलंकार-प्रयोग-नैपुण्य के ऊपर अनेक प्रकार से प्रकाश डाला गया है। गोस्वामी तुलसीदास के अलंकरण-निपुणता-प्रदर्शन के लिए पाश्चात्य अलंकारो की भी चर्चा की गयी है।

द्वितीय खंड—'मानस-अलंकार-कोष' के भी तीन उपखंड हैं। प्रथम उपखंड में मानस में प्राप्त प्रायः सभी प्रमुख अलंकारों को एक विशेष क्रम से संगृहीत किया गया है। द्वितीय उपखंड

---

१. तुलसीदास, आचार्य चंद्रबली पांडेय, पृष्ठ १६३
२. अलंकार मुक्तावली, आचार्य देवेंद्रनाथ शर्मा, पृष्ठ १२०

मे रामचरितमानस में आवृत्त अलंकारो एवं अप्रस्तुतो वाली पंक्तियो को एकत्र किया गया है। तृतीय उपखंड में सहायक ग्रन्थ-सूची दी गयी है।

## शोध-प्रबंध की मौलिकता :

आचार्य राजशेखर की पंक्ति "सर्वेभ्यः परेभ्य एव व्युत्पद्यतं" का स्मरण रखते हुए भी यह ससंकोच कहना पड़ता है कि—

(१) रामचरितमानस के अलंकारपक्ष का इतना व्यापक उद्घाटन-विवेचन-समीक्षण अद्यावधि हुआ नही था। मानस से यत्रतत्र उदाहरण दे-देकर कुछ लिखा गया था, किन्तु मानस की प्रत्येक पंक्ति के यथासाध्य अलंकारान्वेषण अपने में एक कष्टसाध्य कार्य है।

(२) मानस में कौन-सा अलंकार कितनी बार आया है और उसके आधार पर गोस्वामी जी की अलंकार-योजना पर निष्कर्ष निकालने का यत्न किया गया है।

(३) मानस मे कौन-सा अलंकार एवं अप्रस्तुत कितनी बार आवृत्त हुआ है, इसकी एक सूची प्रदान कर आवृत्ति-औचित्य अनौचित्य पर विचार प्रथमतः मेरे ही शोध-प्रबंध मे हुआ है।

(४) सम पात्रो से संबद्ध उपमानो में परिवर्त्तन के औचित्य एवं काव्यात्मक सौन्दर्य का विशकलन इसकी मौलिकता में परिगणनीय हो सकता है।

(५) अनेकानेक अलंकारो के प्रयोग की अनिवार्यता एवं सार्थकता का अन्वेषण इस शोध-प्रबंध में अनेकत्र मिलेगा।

(६) रामचरितमानस में पाश्चात्य अलंकारो की चर्चा इस शोध-प्रबंध में पहली बार हुई है।

## आभार-प्रदर्शन :

'तुलसी के भक्त्यात्मक गीत—विशेषतः विनयपत्रिका' पर सन १९६२ ई० में पटना विश्वविद्यालय ने मुझे पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की। शोध-प्रबंध प्रकाशित होते ही पटना, मगध, भागलपुर, राजस्थान, नागपुर, कलकत्ता आदि विश्वविद्यालयो ने इसे एम० ए० पाठ्यक्रम में स्थान देकर मुझे प्रोत्साहित किया। एक अकिंचन को विद्वानों से इतना स्नेह प्राप्त होने पर उसके कार्य में शैथिल्य आ जाता है। मैं तो सचमुच निष्क्रिय हो जाता यदि मेरे समक्ष गुरुदेव आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा का प्रेरक-प्रोत्साहक देवोपम व्यक्तित्व न होता। वस्तुतः यह शोध-प्रबंध उन्ही के बार-बार निद्राभंग करने का सुफल है। पॉच वर्षों की शोधावधि मे मैने उनसे जो बहुविध सहायता पाई है, इसके लिये मेरा विशुद्ध अनौपचारिक मन उनका अदेय ऋण स्वीकार करता है।

गुरुवर पं० जगन्नाथ राय शर्मा, भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष पटना विश्वविद्यालय, पटना सुदूर देहात से अनेक कष्ट झेलकर यहॉ आये और उन्होने सहायता प्रदान की। इसके लिए मेरा रोम-रोम उनका आभार स्वीकार करता है।

मुझे अपने शोध को नई दिशा देने में भारत-विख्यात विद्वान् पं० आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी से पूरी सहायता मिली है, अतः उनके प्रति आभार न स्वीकार करना अपराध ही होगा। सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने अपने विश्वविद्यालय से अप्रकाशित शोध-प्रबंध

भिजवाकर मुझ पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए मैं उनके प्रति अपनी सहज कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कार्य को समाप्त करने में मुझे डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर', डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, डॉ० उदयनारायण तिवारी तथा प्रो० कल्याणमल लोढ़ा जी से जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है, उसके लिए औपचारिकतावश कुछ कहना अच्छा नहीं लग रहा है।

इस शोध-कार्य के क्रम में मुझे वाराणसी के 'मानसमयूख' के संपादक पं० रामदास जी, अपने निर्देशन में शोध करनेवाले श्री हरिहर सिंह शास्त्री तथा मित्रवर डॉ० त्रिभुवन सिंह, डॉ० शिवकरण सिंह, डॉ० बच्चन पाठक तथा प्रो० हनुमान प्रसाद शर्मा से जो सहयोग मिला है, उसे मैं भूल नहीं सकता। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के प्रबंध-मंत्री पं० रामप्रताप त्रिपाठी एवं बेलवेडियर प्रेस के संचालक से भी मुझे आशातीत सहायता मिली। इसके लिए उनका आभार मानता हूँ। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के श्री परमानंद पांडेय तथा श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने जो सहृदयता दिखलाई है, उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक मानता हूँ।

अपने मित्रों में डॉ० गोपाल राय, डॉ० रामतवक्या शर्मा, डॉ० रामचन्द्र प्रसाद तथा डॉ० रामदीन मिश्र से भी मुझे सहयोग मिलता रहा है और इस कारण उनके प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इस शोध-कार्य में मुझे अपने अनुज श्री राजीवरंजन तथा छात्र श्री राधामोहन प्रसाद से बड़ी ही सहायता मिली है, लगा इन दोनों ने पूर्णतः गुरु-ऋण चुका दिये हैं।

अंत में मैं यह कहना चाहूँगा कि इस शोध-प्रबंध के अतिविस्तृत हो जाने के कारण मैंने प्रथम खंड में यत्र-तत्र विवेचन का लोभ संवरण किया है तथा द्वितीय खंड में अलंकारों और अलंकार-आवृत्ति के सैकड़ों उदाहरणों को छोड़ दिया है। अतः, यदि सुधीजन अभावों की ओर कम ध्यान देकर, त्रुटियों को सुधारकर, अच्छाइयों को सराह सकें, तो अपने संकल्प की सार्थकता मानूँगा।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई॥

—:o:—

उद्धरण एवं संदर्भ
पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
द्वारा संपादित रामचरितमानस
(काशी राज संस्करण) से दिये गये हैं।

# अलंकार : विवेचन, विकास और वर्गीकरण

## अलंकार की परिभाषा :

'अलंकार' शब्द अलं+कृ के योग से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से दी जाती है—एक अलंकरोतीति अलंकारः अर्थात् जो आभूषित करता हो, वह अलंकार है। दो—अलंक्रियते ऽनेनेत्यलंकारः—अर्थात् जिसके द्वारा कोई पदार्थ आभूषित हो, उसे अलंकार कहते हैं। अलंकार के विकास को जानने के लिए दोनों परिभाषाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु, इन दोनों व्युत्पत्तियों से इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि किस प्रकार साध्य के रूप में गृहीत अलंकार साधन के रूप में स्वीकृत किया जाने लगा।

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भामह ने शब्दार्थ-वक्रता अर्थात् वैचित्र्य को ही अलंकार माना है।[1] दण्डी काव्य के शोभाविधायक धर्म को अलंकार मानते हैं।[2] वामन के विचार से काव्य-सौंदर्य ही अलंकार है।[3] रुद्रट की मान्यता है—"अभिधान के कथन के प्रकारविशेष अथवा कवि-प्रतिभा से प्रादुर्भूत कथनविशेष ही अलंकार है।"[4] आचार्य कुंतक का कहना है—"विदग्धों की कथन-भंगी ही वक्रोक्ति है और वही अलंकार है।"[5] विश्वनाथ कहते हैं—"शब्द और अर्थ के शोभातिशायी अर्थात् सौंदर्य की विभूति के बढ़ानेवाले धर्म अलंकार है।"[6] महिम भट्ट ने "चारुत्व का प्रयोग अलंकार के लिए किया तथा शब्दार्थ की विच्छित्ति को अलंकार संज्ञा प्रदान की।[7]

हिन्दी के अनेक रीतिकालीन कवियों ने अलंकार-संबंधी अपने विचार व्यक्त किये हैं। कई के मत उद्धृत हैं :

गोपमनि—

शब्दार्थ रचना रुचिर, अलंकार को जान,
भाव भेद गुण रूप ते प्रकट होत है आन।

—रामचन्द्राभरण। ८

---

१ : वक्राभिधेय—शब्दोक्तिरिष्टावाचामलकृति'—काव्यालंकार १-३७
२ : काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते—काव्यादर्श २/१
३ : सौंदर्यमलंकारः—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन १/१/२
४ : अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकारा'—हिन्दी साहित्य-कोश, पृष्ठ ६१
५ : वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।—वक्रोक्तिजीवित १ · १०
६ : शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादिनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ऽङ्गदादिवत्।
साहित्य दर्पण १०/१
अन्य (क) अलंकारणाय अभिधात्मत्व उपगतं, तेषां मङ्गिमणिति रूपत्वतात्।
व्यक्ति विवेक, महिमभट्ट, पृष्ठ ७४४
(ख) तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलंकारः
(ग) नमिसाधु—ततो यावन्तो हृदयावर्जका अर्थप्रकारास्तावन्तोऽलंकारा'
७ : चारुत्वमलंकार' तथा च शब्दार्थ योर्विच्छित्तिरलंकार'। व्यक्तिविवेक

चिन्तामणि —

अलंकार ज्यों पुरुष को हारादिक मन जानि,
अनुप्रासोपमादिक कविता अलंकार ज्यों जानि। ४

—कविकुलकल्पतरु, पृष्ठ २३

कुलपति—

रसहि बढ़ाये होय जहाँ कबहुंक अंग निवास,
अनुप्रास उपमादि है, अलंकार सुप्रकास। १३

—रसरहस्य, पृष्ठ ६१

दास—

अर्थ शब्द कर करत हैं, जो रस कों उपकार,
भूषण जैसे जीव को, ते कहिये अलंकार।

—अलंकारमाला, पृष्ठ १

गोप ने अलंकार को 'रुचिर रचना', चिन्तामणि ने 'हारादिवत्', कुलपति ने 'रसवर्द्धक' तथा देव ने 'रसोपकारक' माना है। इन लक्षणों पर मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

इस तरह अन्य विद्वानों ने अलंकार को परिभाषित करने की चेष्टा की है। शिप्ले ने लिखा है—"अलंकार वाणी के विभूषण है, अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभावोत्पादन की शक्ति, भाषा में सौंदर्य तथा श्रोताओं का मनोविनोद आदि इनके फल हैं।"[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।"[2]

## अलंकार का विवेचन :

इन परिभाषाओं से अलंकार-संबंधी कई धारणाओं के गवाक्ष खुलते है। अलंकार काव्य को आभूषित-विभूषित ही नहीं करता, वरन् काव्य को अलम् पर्याप्त-पूर्ण भी करता है। अलकार का काव्य के साथ अविनाभाव संबंध है। काव्य को अलकार के साथ ही ग्रहण करना चाहिए।[3] यह काव्य का बाह्य धर्म नहीं, वरन आंतर धर्म है, यह कर्ण का कवच कुंडल है, जो रचना का अभिन्न अंग है। भावावेग की तीव्रता मे अलंकार स्वयमेव आपाधापी करके "अहंपूर्विकया"[4] आ जाते हैं। ऐसे अलकारों को 'कटक' 'केयूर' की भाँति बहिरंग मानना कतई उचित नहीं। इसलिए आनंदवर्द्धन कहते हैं—"तस्मान्न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।" ऐसे अलंकारो को भरत के 'समानाभिनय प्रकरण' मे उक्त कामिनी का हावभावालंकार ही मानना चाहिए।[5]

---

1 : Dictionary of World Literature—Figure of Speech, Joseph T. Shipley Page. 169

२ : गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १८७

३ : काव्यं ग्राह्यमलंकारात्—वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १/१-१

४ : अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः अहम्पूर्विकया परापतन्ति। —ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन

5 : Some Concepts of Alankar Shastra, Raghwan, Page 51

इन अलंकारों को हम किसी प्रकार से वृक्ष की छाल की तरह नही निकाल सकते। केवल उक्ति काव्य नही, सालंकार चमत्कृत उक्ति ही काव्य की गौरवमयी आख्या की अधिकारिणी है। आग मे यदि दाहकता नही तो उसे आग नही कह सकते, राख का ढेर ही कहेंगे। अतः, जयदेव ने उद्घोष किया—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।[1]

किन्तु, इससे हटकर एक दूसरी दृष्टि भी सामने आती रही। ये आचार्य अलंकार को बिलकुल काव्य का बाह्य धर्म मानते है। वामन ने कहा था कि काव्य अलंकार से ही ग्राह्य होता है तो मम्मट ने काव्य की परिभाषा मे दोषहीनता, शब्दार्थ तथा गुणवत्ता की अनिवार्यता तो स्वीकार की किन्तु, अलकार की अनिवार्यता नही।[2] अलंकार रहे तो ठीक है, न रहे तो कोई हर्ज नही। मम्मट ने गुणों को काव्य का साक्षात् धर्म स्वीकार किया तथा अलंकार को शब्दार्थ का शोभाकारक धर्म माना। उन्होने कहा—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।[3]

शब्दार्थ काव्य के शरीर है। अलंकार काव्य-शरीर की शोभा बढाते है। काव्य में अलंकारो का वही स्थान है, जो मनुष्य के शरीर पर हारादि आभूषणो का। विश्वनाथ ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा कि "शोभा को अतिशयित करने वाले, रस भाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है, वे अंगद (बाजूबंद) आदि की तरह हैं।"—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्।[4]

विश्वनाथ के इस कथन के ये परिणाम निकलते है—

(१) अलंकार काव्य के सहज एवं अनिवार्य गुण नही है। केवल अस्थिर धर्म है, अर्थात् कभी वर्त्तमान रहते हैं, कभी नही।

(२) काव्य की शोभा (सौंदर्य) अलंकार पर निर्भर नही है। सत्काव्य में अलंकार जहाँ वर्त्तमान रहता है, वहाँ शोभा की सृष्टि नही करता, केवल वृद्धि ही करता है।

(३) काव्य का सौन्दर्य है रस, अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है। अर्थात् सत्काव्य में अलंकार का स्वतन्त्र अस्तित्व भी मान्य नही है।[5]

अलंकार के बिना भी काव्य हो सकता है,' इसे मानने में कठिनाई नही हो सकती है। किन्तु, अलकार को कटक, कुंडल या इयरिंग मानना उचित नही मालूम पडता। कोई सुन्दरी जिस प्रकार स्वेच्छया आभूषण पहनती या उतारती है, उसी प्रकार काव्य मे अलंकार नही होते। यह भी नही होता कि कवि ने कविता लिख डाली और जहाँ-तहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा—रूपक-

१ : चन्द्रालोक—प्रथम मयूख / ८ वां श्लोक
२ : तददोषौशब्दार्थौसगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।
३ : काव्यप्रकाश— ८/६७
४ : साहित्यदर्पण--१०/१
५ : रीतिकाव्य की भूमिका--डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ८८ (१९४९ ई० का प्रकाशन)

दीपक आदि खोस दिये। काव्य में अलंकार-प्रयोग पर एक सादृश्य और भी सामने है। अभिनव गुप्त कहते हैं कि वैसे तो अलंकार कटक-केयूरवत् ही हैं किन्तु जब वे रसाक्षिप्त, अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य और सुश्लिष्ट होते हैं, तो उन्हें नायिका के अंग पर आलेपित कुंकुम से उपमित कर सकते हैं। अलंकार जब संकेतित रहते हैं, तो वे आत्मा की प्रवृत्ति ग्रहण कर लेते हैं। वे कहते हैं—

"एतदुक्तं भवति—सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसंपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का संभावना। एवंभूता चेयं व्यंग्यता, यदप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालंकारेभ्यः उत्कर्षमलंकाराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह-तत्रेति।"

—ध्वन्यालोकलोचन

अलंकार को कटक-केयूर से उपमित करना भोज को अच्छा न जान पड़ा और उन्होंने अलंकार का त्रिधा विभाजन किया—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार। 'शब्दालंकार बाह्य है और वस्त्र, माल्यादि कटक-केयूर आभूषण की तरह है। आभ्यन्तर अलंकार दंतपरिष्कार, नखच्छेद तथा अलक-मंडन की तरह हैं और बाह्याभ्यन्तर अर्थात् उभयालंकार स्नानोपरि अलकों को धूपगंधित करने की तरह हैं—

अलङ्कारास्च त्रिधा-बाह्याः, आभ्यन्तराः, बाह्याभ्यन्तराश्च। तेषु बाह्याः—वस्त्र-माल्य-विभूषणादयः। आभ्यन्तराः—दन्तपरिकर्म-नखच्छेद-अलककल्पनादयः। बाह्याभ्यन्तराः—स्नान-धूप-विलेपनादयः।

—शृंगार प्रकाश

किन्तु, भोज के इस सादृश्यन (सीमीलराइजिंग) से अलंकार के वास्तविक महत्त्व का पता नहीं चलता। वस्तुतः उपमादि की दंत-परिष्कार आदि से समता दिखलाना केवल मौलिकता-प्रदर्शन का ही प्रयास है। रीतिकाल मे देव ने शब्दालंकार एवं अर्थालंकार को भावविटप का फल-फूल माना है। उनके इस कथन में नवीनता ही नहीं, वरन् अलंकार के यथार्थ महत्त्व-प्रतिपादन की ओर अभिनव चरण-न्यास है।

श्वेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छन्द पात्र परियोग।
अलंकार शब्दार्थ के फूल फलनि, रूमोद।
मधुर सुजस-रस अमरतरु, अमर अमी रस मोद।[1]

इसी प्रकार अलंकार की किसी भी बाह्य पदार्थ से समता दिखलाना उचित नहीं। मधुर आकृति को मंडन की आवश्यकता नहीं पड़ती। (किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्-अभिज्ञानशाकुन्तल १।२६) किन्तु, मधुर आकर्षक काव्य अधिकांशतः सालंकार ही उत्पन्न होते हैं। केशवदास की दृष्टि में सरस, सुवर्ण, सुवृत्त वनिता भले न राजती हो, किन्तु मुझे तो ऐसा लगता है कि भूषण के बिना भी उसकी अनायास मादन शोभा तथा आंगिक-लावण्य को देखकर भला किस सहृदय का हृदय आनंदातिरेक से उत्फुल्ल न होगा? वल्कलधारिणी शकुन्तला ने जो दुष्यंत को आकृष्ट किया, नेकलेस-पायजेब बाजूबंद से लदकर क्या दुष्यंत को अधिक आकृष्ट कर पाती? किन्तु, कविता के साथ ऐसी बात नहीं होती। अलंकार-गुण आदि

१ : शब्द रसायन, पृष्ठ ८८

सभी रासायनिक प्रक्रिया में ढलकर ही सुन्दर काव्य का निर्माण करते हैं। क्रोचे ने भी अलंकार-अलंकार्य मे अभेद स्थापित किया है। उनका कहना है—

"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression externally? In that case it must always remain separate. Internllay? In that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole."[1]

पंत जी ने भी 'पल्लव' की भूमिका मे अलंकार का स्वरूप एवंविध स्पष्ट किया है—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र है।···वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है।"[२]

वस्तुतः ऐसे अलंकार काव्य-जगत् की अक्षय निधि है। महाकवियो के काव्य का अध्ययन वस्तुतः ऐसे ही स्वतः स्फूर्त एवं अनायास प्रयुक्त अलकारो की दृष्टि से होना चाहिए। जहाँ अलंकार चिपकाये गये पेवंद या गॅवार स्त्री के लदे कड़े-छड़े की भाँति हो, वहाँ तो सत्काव्य को स्खलित कर देते हैं। हम इस शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय से देखेंगे कि तुलसीदास द्वारा नियोजित शताधिक अलंकार काव्यसंरचना के अनिवार्य अंग है या आरोपित पदार्थ। वस्तुतः यह अध्ययन गोस्वामी तुलसीदास के श्रेष्ठ कलाकार एव उनके सौन्दर्यवादी को आलोचना के न्यायालय में उपस्थित कर ही उनकी महत्ता की जाँच करेगा।

### अलंकार : उद्भव और विकास :

मानव जबसे प्रभावोत्पादक आकर्षक रीति से आत्माभिव्यक्ति का प्रयास करने लगा, तब से ही अलंकारों का उदय हुआ। हमारा सर्वप्रथम लिखित ग्रंथ ऋग्वेद—जो देव का अमर काव्य है[३]—आलंकारिक उक्तियों से भरा पडा है। एक-दो उदाहरण देखें—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।

—ऋ० १०-७१-४

अर्थात् इस वाणी को एक देखता हुआ भी नही देखता और सुनता हुआ भी नही सुनता, और दूसरे ( विद्वान ) के सामने वह अपने शरीर को फैला देता है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी निहिताऽधिवाचि।

—ऋ० १०-७१-२

1 · Expression and Rhetoric–Croce
२ · 'पल्लव' की भूमिका, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ २६
३ : देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

अर्थात् धीर लोग अपने प्रज्ञान मन के द्वारा उस प्रकार वाणी को अपशब्दो से रहित कर देते है, जिस प्रकार चालनी से चालकर सत्तू स्वच्छ किया जाता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्यो अभिचाकशीति।

—ऋ० १-१६४-२०

अर्थात् दो सुंदर पंखवाले साथ रहनेवाले मित्र रूप पक्षी एक ही वृक्ष पर स्थित है। उनमें एक तो स्वादु पिप्पल खाता है और दूसरा न खाता हुआ अपना प्रकाश फैलाता है।

पहले उदाहरण में विरोधाभास और उपमा, दूसरे में उपमा तथा तीसरे में रूपक, विभावना, विशेषोक्ति तथा वृत्त्यनुप्रास का सुंदर विनियोग हुआ है। इतना ही नही, वैदिक साहित्य से ऐसे सैकडो मंत्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें एक-से-एक अछूती उपमा और उत्प्रेक्षा मिलती है।

**निरुक्त—**

लक्ष्योपरांत लक्षण ग्रंथ का निर्माण सर्वज्ञात ही है। वेदो में अलंकारो के पुष्कल प्रयोग को देखकर यास्क ने अपने निरुक्त में उसके सम्यक् विश्लेषण का प्रयास किया। मेरी दृष्टि में यास्क का निरुक्त अलंकारशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। उन्होंने निरुक्त के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद में उपमा का लक्षण इस प्रकार दिया—

अथातः उपमाः। यत् अतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्यः।

अर्थात् गार्ग्य का कथन है कि जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न रहे, किन्तु दोनो में थोडा सादृश्य रहे, तो उपमा होती है। इसकी तुलना यदि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की इस परिभाषा "साम्य वाच्यमवैधर्म्य वाक्यैक्य उपमा द्वयोः" तथा A simili consists in giving formal expression to the likeness said to exist between two different objects—(J. C. Neisfield. Eng. Grammar, P. 393) तो बात स्पष्ट हो जाती है। इन काव्यशास्त्रियों से शताब्दियों पूर्व यास्क ने उपमा की सही परिभाषा दी। उपमान और उपमेय के बारे में अनेक आलकारिको ने यह बात कही कि उपमान को उपमेय से अधिक गुणवाला होना चाहिये। जैसे मुख से चाँद जबतक आकर्षक नही, तबतक मुख के उपमान के लिए उसे चुनने का कोई अर्थ नही। यास्क ने बड़ी स्पष्टता से इसको निरुक्त में व्यक्त किया—

तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते।

अर्थात् किसी महत् या प्रसिद्ध गुण के द्वारा किसी लघु या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाय।

यास्क ने उपमा का स्वरूप निर्धारण ही नहीं, बल्कि उन्होंने अपने निरुक्त मे उपमा के चार भेद भी किये—कर्मोपमा ( ३-१५ ), भूतोपमा ( ३-१६ ) रूपोपमा ( ३-१६ ) तथा सिद्धोपमा ( ३-१६ )। यास्क के विवचन से पता चलता है कि उनके समय तक वैदिक मंत्रो के सुस्पष्ट अर्थ-ज्ञान के लिए उपमा की व्याख्या आवश्यक थी। सादृश्यमूलक अलंकारो में बीजभूता उपमा के सम्यक् विश्लेषण से ज्ञान होता है कि वैदिक साहित्य में अलंकार का बीजवपन ही नहीं, वरन् उसका प्रस्फुटन भी स्पष्ट हो चला था।

व्याकरण—

निरुक्त की तरह ही व्याकरण की गणना वेद के छह अंगों के अंतर्गत होती है। यदि निरुक्त वेद-क्रिया के लिए कर्ण-सदृश है, तो व्याकरण तो मुख-तुल्य ही माना गया। ( मुखं व्याकरणं स्मृतम् )। पाणिनीय व्याकरण को देखने से पता चलता है कि उसके पहले शताब्दियों तक अनेकानेक उत्तम व्याकरण-ग्रंथ लिखे गये, किन्तु आज वे सभी अप्राप्य हैं। आज तो हमारे पास प्राचीनतम व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही शेष है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में उपमा के चारों तत्त्वों—उपमेय, उपमान, वाचक और साधारण धर्म पर प्रकाश डाला है।

१ : तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्—( अ० २/३/७२ )

२ : उपमानानि सामान्यवचनैः ( २/१/५५ )

३ : उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे ( २/१/५६ )

इतना ही नहीं, पीछे चलकर उपमा के श्रौती, आर्थी आदि भेद व्याकरणशास्त्र के आधार पर ही हुए।

पाणिनि के सूत्रों के पश्चात् कात्यायन तथा पतंजलि के महाभाष्य में उपमावाचक शब्दों की चर्चा है।[1]

भरत—नाट्यशास्त्र (ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी)

वैयाकरणों के पश्चात् अलंकारशास्त्र के विकास में भरत का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय के ४५ श्लोकों ( ४३ से ८७ तक ) में अलंकारों का विवेचन किया है। इनमें उन्होंने उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक—इन्हीं चार अलंकारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।[2] उन्होंने उपमा के पाँच प्रकार बतलाये हैं। वे हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किंचित् सदृशी ( ४५ से ४९ तक )। रूपक तथा दीपक संक्षेप में वर्णित हैं। उन्होंने यमक के दस भेदों की चर्चा ( ६८-८७ ) पर्याप्त रूप से की है।

भामह : काव्यालंकार ( सन् ५००-६०० ई० के बीच )

भामह अलंकारशास्त्र के आद्य आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में बार-बार, अन्यैः, कैश्चिद्, अपरे और केचिद् आदि शब्दों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'राम शर्माच्युत', 'राजमित्र' तथा 'मेधाविन्' आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का भी प्रयोग किया है। यद्यपि इस ग्रंथ में 'मेधाविन्'[3] नामक पूर्ववर्त्ती आचार्य का उल्लेख किया है किन्तु मेधाविन् की कोई कृति अद्यावधि हमें उपलब्ध न होती। मेधाविन् कोई ख्यात काव्यशास्त्री थे, इस तथ्य को इसलिए अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि पश्चात्वर्त्ती वामन आदि आलंकारिकों ने इसका उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि भरत मुनि और आचार्य भरत के बीच अनेक काव्यशास्त्री हुए। किन्तु, यह दुर्भाग्य की बात है कि उनकी कृतियाँ हमें उपलब्ध नहीं होतीं। भरत के पश्चात् प्राप्त काव्यशास्त्रीय ग्रंथ आचार्य भामह का 'काव्यालंकार' ही है।

१ : भारतीय साहित्यशास्त्र, पृष्ठ ६

२ : उपमा, दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा। काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्त्तिताः॥—४३

३ : काव्यालंकार २-१९, ३९, ४०, ८८

४ : काव्यालंकारसूत्राणि—४-२-११

भामह ने अपने इस ग्रंथ का बहुलांश दूसरे परिच्छेद से पंचम परिच्छेद तक अलंकार-निरूपण के लिए ही लिखा है। भरत द्वारा निर्दिष्ट चार अलंकारों के पश्चात् भामह द्वारा वर्णित अड़तीस अलंकार उनकी महत्ता प्रतिपादित करने के लिए अलम् हैं। भरत और भामह के मध्य की कड़ी न मिलने के कारण अलंकार संख्या-वृद्धि के सम्पूर्ण श्रेय के भागी भामह अनायास हो जाते हैं। उन्होंने इन अलंकारों का वर्णन किया है—

शब्दालंकार—१ : अनुप्रास, २ : यमक।

अर्थालंकार—१ : रूपक, २ : दीपक, ३ : उपमा, ४ : आक्षेप, ५ : अर्थान्तरन्यास, ६ : व्यतिरेक, ७ : विभावना, ८ : समासोक्ति, ९ : अतिशयोक्ति, १० : यथासंख्य, ११ : उत्प्रेक्षा, १२ : स्वभावोक्ति, १३ : प्रेय, १४ : रसवत्, १५ : ऊर्जस्वी, १६ : पर्यायोक्त, १७ : समाहित, १८ : उदात्त, १९ : श्लिष्ट, २० : अपह्नुति, २१ : विशेषोक्ति, २२ : विरोध, २३ : तुल्ययोगिता, २४ : अप्रस्तुतप्रशंसा, २५ : व्याजस्तुति, २६ : निदर्शना, २७ : उपमारूपक, २८ : उपमेयोपमा, २९ : सहोक्ति, ३० : परिवृत्ति, ३१ : ससंदेह, ३२ : अनन्वय, ३३ : उत्प्रेक्षावयव, ३४ : संसृष्टि, ३५ : भाविकत्व और ३६ : आशीः।

भामह के अलंकार-निरूपण की कतिपय उल्लेख्य विशेषताएँ ये हैं :—

१ : शब्दालंकार और अर्थालंकार का उन्होंने सीमा-निर्धारण नहीं किया है।

२ : अलंकारों के पौर्वापर्य के यौक्तिक क्रम का अभाव है। एक अलंकार के अनन्तर दूसरा अलंकार स्वेच्छया रख दिया गया है।

३ : लाटानुप्रास, ग्राम्यानुप्रास, दीपक, प्रेय, समाहित, ऊर्जस्वी और उदात्त आदि अनेक अलंकारों के केवल उदाहरण ही हैं, लक्षण नहीं।

४ : परम्परानुमोदित अलंकारों में हेतु, सूक्ष्म और लेश का खंडन किया है; क्योंकि उनमें वक्रोक्ति[1] नहीं है।

५ : स्वभावोक्ति की अलंकारता भी उन्हें स्वीकार्य नहीं।[2]

६ : रसवत्, ऊर्जस्वी तथा समाहित को अलंकार मानकर भामह ने इनको भी अलंकार के अन्तर्गत समेटना चाहा।

७ : भामह का अलंकार-निरूपण इतना स्पष्ट और सुलझा हुआ रहा है कि इनके पीछे के आलंकारिकों ने 'उत्प्रेक्षावयव' तथा 'उपमारूपक' को छोड़कर सभी अलंकारों को ग्रहण कर लिया।[3]

## दंडी—काव्यादर्श (६०० ई० के पूर्व)

अलंकारों के इतिहास में दंडी ने काव्यादर्श के रूप में दूसरा अध्याय जोड़ा है। इस पुस्तक में तीन परिच्छेद हैं। श्लोक-संख्या (१०५+३६८+१८७) ६६० है। इस पुस्तक के

---

१ : हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः।—२-८६

२ : स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते। २/९३

३ : भामह के वैशिष्ट्य के लिए देखें, भामहविरचित काव्यालंकार, भाष्यकार, श्री० देवेन्द्रनाथ शर्मा, भूमिका-भाग।

अधिकांश में भी अलंकार-निरूपण ही है। कुल अलंकारो की संख्या ३५ है। ये अलंकार है—१ : स्वभावोक्ति, २ : उपमा, ३ : रूपक, ४ : दीपक, ५ : आवृत्ति, ६ : आक्षेप, ७ : अर्थान्तर-न्यास, ८ : व्यतिरेक, ९ : विभावना, १० : समासोक्ति, ११ : अतिशयोक्ति, १२ : उत्प्रेक्षा, १३ : हेतु, १४ : सूक्ष्म, १५ : लेश (लव), १६ : यथासंख्य (या क्रम), १७ : प्रेय, १८ : रसवत्, १९ : ऊर्जस्वि २० : पर्यायोक्ति, २१ : समाहित, २२ : उदात्त, २३ : अपह्नुति, २४ : श्लेष, २५ : विशेषोक्ति, २६ : तुल्ययोगिता, २७ : विरोध, २८ : अप्रस्तुतप्रशंसा, २९ : व्याजोक्ति, ३० : निदर्शना, ३१ : सहोक्ति, ३२ : परिवृत्ति, ३३ : आशीः, ३४ : संकीर्ण, ३५ : भाविक।

१ : दडी ने भामह द्वारा तिरस्कृत स्वभावोक्ति को अपने काव्यादर्श में प्रथमतः विवेच्य माना है। इसका दूसरा नाम 'जाति'[1] रखा है।

२ : भामह द्वारा परित्यक्त हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारो को उन्होने उत्तम अलंकार माने है।[2]

३ : उपमा के उन्होने ३२ भेद किये तथा उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, अतिशयोक्ति, भ्रान्तिमान और संशय को उपमा के अंतर्गत ही मान लिया।

४ : उन्होने रूपक के सोलह तथा आक्षेप के चौबीस भेद किये। तीसरे परिच्छेद मे यमक का ७७ श्लोको में सविस्तर वर्णन किया है।

५ : उन्होंने भामह के उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को छोड़ दिया तथा उसके वाद सभी आलंकारिको ने दडी के मार्ग का ही अनुगमन किया।

६ : दंडी ने दीपकावृत्ति नामक दीपक भेद की उद्भावना की है। पीछे चलकर उसे कई आलंकारिकों ने स्वतन्त्र अलकार माना।[3]

७ : दंडी ने अलंकारो का मूल अतिशयोक्ति माना, जबकि भामह वक्रोक्ति मानते थे। काव्य में वक्रोक्ति से रमणीयता तथा अतिशयोक्ति से लोकोत्तरता-असाधारणता आती है।

### उद्भट—काव्यालंकार-सार-संग्रह (सन् ८०० ई० के लगभग)

उद्भट की यह पुस्तक छह अध्यायो (वर्गों) मे विभक्त है। इनमें कुल ७९ कारिकाएँ हैं, जिनमें ४१ अलकारो के लक्षण प्रस्तुत किये गये हे। ९० उदाहरण उन्ही की स्वरचित पुस्तक 'कुमार संभवम् से लिये गये हैं जैसा कि उनके व्यांख्याकार प्रतीहारेन्दुराज का कथन है। ये अलकार ६ वर्गों मे हैं—

प्रथम वर्ग :— १ : पुनरुक्तवदाभास, २ : छेकानुप्रास, ३ : अनुप्रास ४ : लाटानुप्रास, ५ : रूपक, ६ : दीपक, ७ : उपमा, ८ : प्रतिवस्तूपमा।

---

१ : नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।—२/८

२ : हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। २/२३५

३ : अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा। २/११६

द्वितीय वर्ग :—१ : आक्षेप, २ : अर्थान्तरन्यास, ३ : व्यतिरेक, ४ : विभावना, ५ : समासोक्ति, ६ : अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग :— १ : यथासंख्य, २ : उत्प्रेक्षा, ३ : स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग :— १ : प्रेयस्वत्, २ : रसवत्, ३ : ऊर्जस्वि, ४ : पर्यायोक्ति, ५ : समाहित, ६ : उदात्त ७ : श्लिष्ट।

पंचम वर्ग :— १ : अपह्नुति, २ : विशेषोक्ति, ३ : विरोध, ४ : तुल्ययोगिता, ५ : अप्रस्तुत-प्रशंसा, ६ : व्याजस्तुति, ७ : निदर्शना, ८ : संकर, ९ : उपमेयोपमा, १० : सहोक्ति, ११ : परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग :— १ : ससंदेह, २ : अनन्वय, ३ : संसृष्टि, ४ : भाविक, ५ : काव्यहेतु (काव्य लिंग), ६ : काव्य दृष्टान्त (दृष्टान्त)।

(८+६+३+७+११+६=४१)।

इन ४१ अलंकारों को छह वर्गों में विभक्त कर रखने का कोई वैज्ञानिक कारण नही दीख पड़ता है। उद्‌भट अलंकार-निरुपण में भामह के चरणचिह्नो पर ही बढ़ते गये हैं। हाँ, कुछ अलंकारों की परिभाषाओं को उन्होंने भामह से ज्यों-का-त्यो उधार ले लिया है और कुछेक में परिवर्त्तन किया है।

अतिशयोक्ति, विभावना, यथासंख्य, सहोक्ति, ससंदेह तथा अनन्वय अलंकारों की परिभापाएँ भामह की पुस्तक से ली गयी हैं। इन अलंकारो के लक्षण से उद्‌भट भली-भाँति सहमत थे। अतः, एक ही वात को शब्दान्तर से कहना उन्हे अभिमत नही हुआ। आक्षेप, उत्प्रेक्षा, विरोध, भाविक, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्त, रसवत् के थोडा हेरफेर के साथ उन्होने स्वीकार किया। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उद्भट में मौलिकता का अभाव था। उन्होने भामहोक्त यमक, उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को विलकुल छोड दिया है तथा अन्य अलंकारो की ऐसी परिभापाएँ वनायी हैं, जिनका संवल पाकर मम्मट-जैसे आचार्य ने काव्य- प्रकाश में अलंकारों के लक्षण निरूपित किये है।

उद्‌भट ने अलंकारशास्त्र को पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास, निदर्शना, संकर, काव्यलिंग तथा दृष्टान्त—ये छह अलंकार उपहार दिये। लाटानुप्राम का उदाहरण तो भामह ने दिया, किन्तु उसका लक्षण तो पहली वार उद्‌भट ने ही दिया। निदर्शना के वदले उनकी पुस्तक मे विदर्शना मिलता है, किन्तु यह लिपिकार के हस्तकौशल के सिवा और कुछ ज्ञात नहीं होता। उद्‌भट काव्यलिंग के लिए काव्यहेतु तथा दृष्टान्त के लिए काव्यदृष्टान्त का प्रयोग करते हैं, किन्तु काव्यहेतु और काव्यदृष्टान्त वस्तुतः काव्यलिंग और दृष्टान्त ही हैं। इसका स्पष्टीकरण मूल पुस्तक तथा प्रतीहारेन्दुराज की लघुवृत्ति के अध्ययन के अनन्तर हो जाता है।

उद्‌भट ने दंडी द्वारा मान्य हेतु, सूक्ष्म और लेश को छोड दिया। ऐसा लगता है कि भामह-विवरण के लेखक ने भामह तथा अपनी कश्मीरी परंपरा के संरक्षण के लिए ही ऐसा किया है।

अलंकार (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा) की स्थिति वाच्य में ही नहीं, व्यंग्य में भी माना है।

शब्दश्लेप और अर्थश्लेप दोनों को उद्‌भट ने अर्थालंकार ही माना। अन्य अलंकारों के साथ श्लेप के रहने पर श्लेप का ही सर्वोपरि महत्त्व है। उपमा का इन्होंने व्याकरण के आधार

पर विभाजन किया। इस तरह अनेक स्थलो पर उद्भट की मौलिकता के दर्शन होते है। अलंकार-शास्त्र के विकास में उनका योग भी कम महत्त्वपूर्ण नही।

## वामन : काव्यालंकार सूत्र ( सन् ८५० ई० के पूर्व )

वामन ने अपनी पुस्तक 'काव्यालंकार सूत्र' को सूत्र-वृत्ति शैली में लिखा है। पूरी पुस्तक पाँच अधिकरणो और द्वादश अध्यायो में विभक्त है तथा सूत्र-संख्या ३१६ है। वामन रीति-संप्रदाय के संस्थापक है। उन्होने पाँच अधिकरणो में चतुर्थ को आलकारिक अधिकरण रखा है।

वामन ने केवल तैंतीस अलंकारो को परिभाषित-उदाहृत किया है। ये है—१ : यमक, २ : अनुप्रास, ३ : उपमा, ४ : प्रतिवस्तूपमा, ५ : समासोक्ति, ६ : अप्रस्तुतप्रशंसा, ७ अपह्नुति, ८ : रूपक, ६ : श्लेष, १० : वक्रोक्ति, ११ : उत्प्रेक्षा, १२ : अतिशयोक्ति, १३ : सन्देह, १४ : विरोध, १५ : विभावना, १६ : अनन्वय, १७ : उपमेयोपमा, १८ : परिवृत्ति, १६ : क्रम, २० : दीपक, २१ निदर्शना, २२ : अर्थान्तरन्यास, २३ : व्यतिरेक, २४ : विशेषोक्ति, २५ : व्याजस्तुति, २६ : व्याजोक्ति, २७ : तुल्ययोगिता, २८ : आक्षेप, २६ : सहोक्ति, ३० : समाहित, ३१ : ससृष्टि।

१ : वामन ने पर्यायोक्त, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म अलकारो को छोड दिया है।

२ : भामह ने जिसे सशयोपमा तथा उद्भट ने 'ससन्देह' नाम दिया था, उसे वामन ने 'सन्देह' कहा और पीछे यही ग्रहीत हुआ।

३ : पूर्ववर्त्ती भामह तथा उत्तरवर्त्ती विश्वनाथ, मम्मटादि ने जिसे यथासंख्य के नाम से अभिहित किया था, उसे वामन ने 'क्रम' कहा।

४ : वामन ने अलंकारशास्त्र को 'व्याजोक्ति' और 'वक्रोक्ति' दो नवीन अलंकार दिये। वक्रोक्ति को अर्थालंकार में पहली बार वामन ने ही स्वीकार किया।

५ : वामन के कुछ अलंकारो की परिभाषाएँ भामह पर आधारित हैं—जैसे उपमा,[1] विभावना।

६ : भामह ने अलंकार के मूल 'वक्रोक्ति' तथा 'दंडी' ने 'अतिशयोक्ति' को सम्मान दिया था।

वामन ने यमक, अनुप्रास को छोडकर जिन तीस अलंकारो का उल्लेख किया है, उन्हे उपमाप्रपंच मानते है।

---

१ उपमा—

(क) विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा —काव्यालंकार—द्वितीय परिच्छेद, ३०

(ख) उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा। —काव्यालकार सूत्र—४, २, १

विभावना—

(क) क्रियाया' प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति। —काव्यालंकार—द्वितीय परिच्छेद, ७७

(ख) क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् —काव्यालकार सूत्र—४, ३ २०

## रुद्रट : काव्यालंकार (सन् ८०० से सन् ८५० ई० के बीच)

रुद्रट का 'काव्यालंकार' सोलह अध्यायों में विभक्त है। १२वें अध्याय के ४०वें पद्य के बाद जो १४ पद्य प्रक्षिप्त माने जाते है, यदि उन्हे भी संयुक्त कर लें, तो कुल पद्य-संख्या ७४८ हो जाती है। पुस्तक में ४६५ कारिकाएँ और २५३ उदाहरण है।

ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि इस पुस्तक में अलंकार मुख्य प्रतिपाद्य है। ३६४ पद्यो मे अर्थात् लगभग आधी पुस्तक में केवल अलंकारो का विवेचन है। रुद्रट ने ५१[1] अलंकारो का विवेचन किया है, जिनमे २६ अलंकार ही ऐसे है जो भरत, भामह, दंडी और उद्भट द्वारा पूर्वतः निरूपित हो चुके थे। २५ अलंकारो के आविष्कार का श्रेय काव्यालंकार के इतिहास मे किसी अन्य आचार्य को प्राप्त नही। ऐसा लगता है कि रुद्रट ने शताब्दियो से प्रवाहित आचार्यवर्ग की मौखिक परंपरा का लाभ अपनी पुस्तक मे भरपूर उठाया है। ये २५ नवीन अलंकार निम्न प्रकार है—

वास्तव वर्ग— १ : समुच्चय, २ : भाव, ३ : पर्याय, ४ : विषम, ५ : अनुमान, ६ : परिकर, ७ : परिसंख्य, ८ : कारणमाला, ९ : अन्योन्य, १० : उत्तर, ११ : सार, १२ : मीलित, १३ : एकावली।

औपम्य वर्ग— १ : मत, २ : प्रतीप, ३ : भ्रान्तिमान, ४ : प्रत्यनीक, ५ : साम्य, ६ : स्मरण।

---

१ : अलंकार संख्या पर मतभेद—१ : पोद्दार जी ५८ अर्थात अलकारो में ७ को दो-दो बार आवृत्त मानते है और श्लेष को अर्थश्लेष-शब्दश्लेष से दो बार मानते है। यदि इन आठ को न गिना जाय, तो शेष ५० रह जाते है।

—काव्यकल्पद्रुम, अलंकार मंजरी, पृष्ठ २८

किन्तु डॉ० सत्यदेव चौधरी अर्थालंकारों की संख्या ५७ ही मानते है। वे चार को ही दो-दो वर्ग में रखते हैं—जैसे उत्तर और समुच्चय अलंकार वास्तवगत भी है और औपम्यगत भी। उत्प्रेक्षा औपम्यगत भी है और अतिशयगत भी तथा विषम वास्तवगत भी है और अतिशतगत भी। किन्तु इन चार लक्षणो और उदाहरणों से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि ये अपने-अपने वर्ग में भिन्न-भिन्न ही हैं। अतः रुद्रट-निरूपित अलकारों को संख्या ५७ ही माननी चाहिए। इनसे चार कम करके ५३ नहीं।

—डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृष्ठ ८

—रुद्रट-प्रणीत काव्यालकार की भूमिका,

किन्तु ये दोनो मत भ्रमपूर्ण हैं। रुद्रट ने वास्तव वर्ग मे २३, औपम्य वर्ग में २१, अतिशय वर्ग में १२ तथा श्लेष वर्ग मे १ अलकार—अर्थात कुल ५७ अलकार रखे है। इन ५७ अलकारों में ६ अलंकार दो बार आये है।

१ : उत्तर वास्तव वर्ग तथा औपम्य वर्ग में भी
२ : विषम वास्तव वर्ग तथा अतिशय वर्ग में भी
३ : सहोक्ति वास्तव वर्ग तथा औपम्य वर्ग में भी
४ : समुच्चय वास्तव वर्ग तथा औपम्य वर्ग मे भी
५ : उत्प्रेक्षा औपम्य वर्ग तथा अतिशय वर्ग में भी
६ : पूर्व औपम्य वर्ग तथा अतिशय वर्ग मे।

श्लेष शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों जगहों में है। किन्तु, शब्दश्लेष और अर्थश्लेष वस्तुतः दो अलंकार हैं। अतः, इन्हे एक मानना उचित नहीं। अतः रुद्रट-प्रयुक्त अलंकार-संख्या ५१ ही माननी चाहिए।

अतिशय वर्ग—१ : विशेष, २ : तद्गुण, ३ : अधिक, ४ : असंगति, ५ : पिहित, ६ : व्याघात ।
=२५

२ : श्लेष के उन्होने अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास—दस भेद किये ।

३ : रुद्रट ने रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि और समाहित इन चार अलंकारो को छोड दिये ।

४ : उपमेयोपमा और अनन्वय को उपमा के अंतर्गत मानकर इन दोनो को स्वतंत्र अलंकार न रहने दिया ।

५ : भामह मम्मट की व्याजस्तुति को व्याजश्लेष, उद्भट ने जिसे उदात्त का द्वितीय भेद माना उसे ही अवसर, जिसे दंडी-मम्मट ने स्वभावोक्ति कहा, उसको जाति तथा अतिशयोक्ति[१] को पूर्व अलंकार [२]माना ।

६ : पॉच शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा चित्र । वामन ने जिस वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना था, रुद्रट ने शब्दालंकार माना और यही पीछे मान्य हुआ । इन अलंकारो में अवसर, भाव, मत, मान्य है ।

७ : उभयन्यास—ये छह अलंकार चमत्कारशून्यता के कारण मान्य नही हुए । १९ अलंकार तो सभी आलंकारिको के कंठहार बने रहे ।

८ : रूद्रट ने ही पहली बार एक ठोस आधार पर अलंकारो के चार वर्ग स्थापित किये—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ।

### आनन्दवर्द्धन—ध्वन्यालोक ( ९ वीं शताब्दी )

यह चार उद्‌योतो में विभक्त है । इस पुस्तक में कुल १२९ कारिकाऍ है, जिनपर वृत्ति लिखी गयी है । इस पुस्तक का महत्त्व ध्वनि-सिद्धान्त-निरूपण के लिए है, न कि अलंकार-निरुपण के लिए ।

### राजशेखर : काव्यमीमांसा ( १० वी शताब्दी )

यह पुस्तक अठारह अध्यायो में विभक्त है । जैसा कि नाम से ही सुस्पष्ट है, यह पुस्तक काव्यालोचन-संबंधी है । इसमें अलंकार-निरूपण का प्रयास नही किया गया । भट्ट नायक का 'हृदय-दर्पण' तथा महिम भट्ट का 'व्यक्ति-विवेक'—ध्वनि-सिद्धान्त के खंडन में लिखा गया । मुकुल भट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा भट्टतौत की 'काव्य-कौतुक'—ये दोनो पुस्तकें भी अलंकार के विकास में योग नही देतीं । क्षेमेन्द्र की 'कविकंठाभरण' और 'औचित्य-विचार चर्चा' भी औचित्य को ध्यान में रखकर लिखी गयी है ।

### भोज : 'सरस्वती कंठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश' ( सन् १०३०-१०५० ई० के बीच )

'शृंगारप्रकाश' छत्तीस अध्यायो में विभक्त भीमकाय ग्रन्थ है । इसके दसवें अध्याय में शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार का विवेचन है । अलंकार-निरूपण के लिए

१ : कार्यकारणयोर्यश्चपौर्वापर्यविपर्यय : काव्य प्रकाश, १०/१००

२ : यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद्भवेत् पूर्वम्, काव्यालंकार, अध्याय ९, कारिका—३

उनका 'सरस्वती-कंठाभरण' ही उल्लेखनीय है। यह पाँच परिच्छेदो में विभक्त है। इस ग्रन्थ मे मौलिकता की अपेक्षा संग्रह की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। दूसरे परिच्छेद में २४ शब्दालंकार है – जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, गुम्फन, शय्या, यमक, श्लेष, प्रहेलिका आदि।

तीसरे परिच्छेद में २४ अलंकारो की परिभाषाएँ और उदाहरण है। ये हैं—१ : जाति, २ : विभावना, ३ : हेतु, ४ : अहेतु, ५ : सूक्ष्म, ६ : उत्तर, ७ : विरोध, ८ : सम्भव, ९ : अन्योन्य, १० : परिवृत्ति, ११ : निदर्शन, १२ : भेद, १३ : समाहित, १४ : भ्रान्ति, १५ : वितर्क, १६ : मीलित, १७ : स्मृति, १८ : भाव, १९ : प्रत्यक्ष, २० : अनुभाव, २१ : उपमान, २२ : आगम, २३ : अर्थापत्ति, २४ : अभाव।

चौथे परिच्छेद में शब्दार्थालंकार विवेचित है—१ : उपमा, २ : रूपक, ३ : साम्य, ४ : संशय, ५ : अपह्नुति, ६ : समाधि, ७ : समासोक्ति, ८ : उत्प्रेक्षा, ९ : अप्रस्तुतप्रशंसा, १० : तुल्ययोगिता, ११ : लेश (व्याजस्तुति जैसा ही), १२ : सहोक्ति, १३ : समुच्चय, १४ : आक्षेप, १५ : अर्थान्तरन्यास, १६ : विशेषोक्ति, १७ : परिकर, १८ : दीपक, १९ : क्रम, २० : पर्याय, २१ : अतिशयोक्ति, २२ : श्लेष, २३ : भाविक, २४ : संसृष्टि।

१ : शब्दालंकारो में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, वाक्, अनुप्रास और चित्र ये—९ अग्निपुराण के अनुसार विवेचित हुये है।

२ : भोज ने दंडी के काव्यादर्श के लगभग दो सौ श्लोको को उधार लिया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-कवियों के १५०० से अधिक श्लोक उदाहरणवत् गृहीत हुए हैं।

३ : भोज द्वारा आविष्कृत (अहेतु, अभाव, अर्थापत्ति, आप्तवचन, उपमान, प्रत्यक्ष, वितर्क, संभव, समाधि[1]— इन नौ अलंकारो को सेठ जी भोज द्वारा आविष्कृत मानते हैं। किन्तु, इसका उल्लेख रुद्रट[2] ने काव्यालंकार में किया है। अतः, अहेतु को नवीन अलंकार मानना ठीक नही। उन्होने जैमिनि के छह प्रमाणो को अलकारकोटि में पहुँचा दिया।

४ : शब्दालंकारों में जाति, गति, रीति, वृत्ति, भणिति, शय्या, पठिति, गूढ़, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य और अभिनय ये १२ अलंकार नवीन मालूम पडते हैं। किन्तु, पीछे चलकर इनमें से एक भी अलंकार अलंकारशास्त्रियो को स्वीकार्य नहीं हो सका।

५ : उभयालंकारो मे श्लेष संसृष्टि को छोडकर उपमा, रूपक, साम्य और अतिशयोक्ति आदि २२ अलंकारों को रखने का भोज ने ही प्रथम बार साहस किया।

६ : 'समाधि' अलकार का लक्षण बिलकुल नवीन है[3] और इसे अलंकार-जगत में स्थान भी मिल सका।

---

१ : अलंकार-मंजरी, (भूमिका भाग) सेठ कन्हैयालाल, पोद्दार, पृष्ठ ३२

२ : रुद्रट : काव्यालंकार के नवम अध्याय की ५८ वीं कारिका में है—

बलवति विकारहेतौ सत्यपि नैवोपगच्छति विकारम्
यस्मिन्नर्थः स्थैर्यान्मन्तव्योऽसावहेतुरिति

३ : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, पृष्ठ ८२,

७ : नवीन अलंकार की चर्चा में 'परिष्कृति' की चर्चा की गयी है। किन्तु, अन्य पुस्तक में इस अलंकार का उल्लेख नहीं है। काणे महोदय ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ् संस्कृत पोयेटिक्स्' के पृष्ठ २५७ में इसकी चर्चा नहीं की है।

८ : भोज ने उपमा-रूपक के २४ भेद किये।

## मम्मट : काव्यप्रकाश ( सन् ११०० ई० के आसपास )

काव्यशास्त्र के इतिहास में मम्मट का 'काव्यप्रकाश' बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है। प्रायः बारह सौ वर्षों में काव्यशास्त्र की जो फुलवारी लगी थी, उनमें से अच्छे-अच्छे फूलों को चुनकर मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' का निर्माण किया। इस ग्रन्थ मे नाट्यशास्त्र को छोड़कर काव्यशास्त्रीय सभी विषयों को गुंफित किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ मे कुल दस उल्लास है। इन दस उल्लासों में से केवल दो उल्लासों मे अलंकार का विवेचन किया गया है। नवम उल्लास मे वक्रोक्ति (श्लेष ओर काकु) अनुप्रास (छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास), यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास—इन छह अलंकारो की चर्चा करते हैं। दसवें उल्लास में ६१ अर्थालंकार वर्णित हैं।

१ : उपमा, २ : अनन्वय, ३ : उपमेयोपमा, ४ : उत्प्रेक्षा, ५ : ससन्देह, ६ : रूपक, ७ : अपह्नुति, ८ : श्लेष, ९ : समासोक्ति, १० : निदर्शना, ११ : अप्रस्तुतप्रशंसा, १२ : अतिशयोक्ति, १३ : प्रतिवस्तूपमा, १४ : दृष्टान्त, १५ : दीपक, १६ : तुल्ययोगिता, १७ : व्यतिरेक १८ : आक्षेप, १९ : विभावना, २० : विशेषोक्ति, २१ : यथासख्य, २२ : अर्थान्तरन्यास, २३ : विरोधाभास, २४ : स्वभावोक्ति, २५ : व्याजस्तुति, २६ : सहोक्ति, २७ : विनोक्ति, २८ : परिवृत्ति, २९ : भाविक, ३० : काव्यलिंग, ३१ : पर्यायोक्ति, ३२ : उदात्त, ३३ : समुच्चय, ३४ : पर्याय, ३५ : अनुमान, ३६ : परिकर, ३७ : व्याजोक्ति, ३८ : परिसंख्या, ३९ : कारणमाला, ४० : अन्योन्य, ४१ : उत्तर, ४२ : सूक्ष्म, ४३ : सार, ४४ : असगति, ४५ : समाधि, ४६ : सम, ४७ : विषम, ४८ : अधिक, ४९ : प्रत्यनीक, ५० : मीलित, ५१ : एकावली, ५२ : स्मृति, ५३ : भ्रान्तिमान्, ५४ : प्रतीप, ५५ : सामान्य, ५६ : विशेष, ५७ : तद्गुण, ५८ : अतद्गुण, ५९ : व्याघात, ६० : संसृष्टि, ६१ : संकर।

इनमे से मम्मट द्वारा आविष्कृत—१ : अतद्गुण, २ : विनोक्ति, ३ : सम, ४ : सामान्य तथा ५ : मालादीपक ये पाँच अलंकार हैं। वस्तुतः तद्गुण, सहोक्ति, विषम तथा विशेष ये चार अलंकार पूर्वतः निर्दिष्ट हो चुके थे। मम्मट ने उन्ही चारो के विपरीत भाव-प्रदर्शनार्थ इन चार अलंकारों का नव्य नाम रखा।

## रुय्यक : अलंकारसर्वस्व ( सन् ११३५-११५५ ई० के बीच )

अलंकारशास्त्रीय ग्रंथो में रुय्यक का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है। केवल अलंकार पर लिखनेवाले ये दूसरे आचार्य हैं। इसके पहले शब्दालंकार में उन्होने—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, यमक एवं चित्र—इन छह शब्दालकारो का वर्णन किया है।

अर्थालंकार में इन्होंने ७५ अलंकारों का वर्णन किया है—

१ : उपमा, २ : अनन्वय, ३ : उपमेयोपमा, ४ : स्मरण, ५ : अपह्नुति, ६ : उत्प्रेक्षा, ७ : रूपक, ८ : परिणाम, ९ : सन्देह, १० : भ्रान्तिमान्, ११ : उल्लेख, १२ : अतिशयोक्ति, १३ : तुल्ययोगिता, १४ : दीपक, १५ : प्रतिवस्तूपमा, १६ : दृष्टान्त, १७ : निदर्शना, १८ : व्यतिरेक, १९ : सहोक्ति, २० : विनोक्ति, २१ : समासोक्ति, २२ : परिकर, २३ : श्लेष, २४ : अप्रस्तुतप्रशंसा, २५ : अर्थान्तरन्यास, २६ : पर्यायोक्त, २७ : व्याजस्तुति, २८ : आक्षेप, २९ : विरोध, ३० : विभावना, ३१ : विशेषोक्ति, ३२ : अतिशयोक्ति, ३३ : असंगति, ३४ : विषम, ३५ : सम, ३६ : विचित्र, ३७ : अधिक, ३८ : अन्योन्य, ३९ : विशेष, ४० : व्याघात, ४१ : कारणमाला, ४२ : एकावली, ४३ : मालादीपक, ४४ : सार, ४५ : काव्यलिंग, ४६ : अनुमान, ४७ : यथासंख्य, ४८ : पर्याय, ४९ : परिवृत्ति, ५० : परिसंख्या, ५१ : अर्थापत्ति, ५२ : विकल्प, ५३ : समुच्चय, ५४ : समाधि, ५५ : प्रत्यनीक, ५६ : प्रतीप, ५७ : मीलित, ५८ : सामान्य, ५९ : तद्गुण, ६० : अतद्गुण, ६१ : उत्तर, ६२ : सूक्ष्म, ६३ : व्याजोक्ति, ६४ : वक्रोक्ति, ६५ : स्वभावोक्ति, ६६ : भाविक, ६७ : रसवत्, ६८ : प्रेयस्, ६९ : ऊर्जस्वि, ७० : समाहित, ७१ : भावोदय, ७२ : भावसन्धि, ७३ : भावसबलता, ७४ : संसृष्टि, ७५ : संकर।

इन अलंकारों में १ : उल्लेख, २ : काव्यार्थापत्ति, ३ : परिणाम, ४ : विचित्र और ५ : विकल्प ये पाँच अलंकार नवीन दिये हैं। परिणाम का विकास रूपक से हुआ है। समुच्चय के विरोध-रूप में विकल्प का विकास हुआ। विषम से भिन्न नई अभिव्यक्ति छाया लेकर विचित्र विकसित हुआ।

रुय्यक ने पौनरुक्त्य के तीन भेद स्थापित किये—१ : शब्दपौनरुक्त्य, २ : अर्थपौनरुक्त्य, ३ : शब्दार्थपौनरुक्त्य। शब्दपौनरुक्त्य के अंतर्गत छेक, वृत्त्यनुप्रास तथा यमक को रखा, अर्थपौनरुक्त्य के अंतर्गत पुनरुक्तवदाभास को रखा तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य के अंतर्गत लाटानुप्रास को रखा।

रुय्यक ने ही पहली बार अलंकारों का वर्गीकरण इतने ठोस आधार पर किया। वस्तुतः अलंकार के सूक्ष्म और स्पष्ट ज्ञान के लिए अलंकारसर्वस्व सर्वस्व ही है।

**वाग्भट : वाग्भटालंकार (१२वीं शताब्दी)—**

वाग्भटालंकार अलंकारशास्त्र पर अति लघु रचना है। प्रस्तुत ग्रंथ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। चतुर्थ परिच्छेद में चार शब्दालंकार चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक और पैंतीस अर्थालंकार जाति (स्वभावोक्ति), उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान, आक्षेप, संशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपह्नुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशय, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, विषम, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशंसा, एकावली, अनुमान, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर तथा संकर— ये ३५ हैं। इन अलंकारों में कोई-कोई नवीन अलंकार नहीं है। वाग्भट ने उपमा के अंतर्गत ही अनन्वय तथा उपमेयोपमा को समाविष्ट कर लिया है।

### नरेन्द्र प्रभासूरि : अलंकार महोदधि ( १२८० वि० सं० के लगभग)

इस जैन विद्वान ने अपने ग्रथ में ७९ शब्द और अर्थ से अलंकारो का वर्णन किया है। इन्होने भी कोई नयी उद्भावना नही की।

### भावदेव सूरि : काव्यालंकार सार ( १२८० वि० सं० के लगभग )

इस ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में शब्दालंकार वर्णित हैं और छठे में ५० अर्थालंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों में एक 'दैवक' नामक नवीन अलंकार का उल्लेख है।

### शोभाकर मित्र : अलंकार-रत्नाकर ( ११ वीं—१३ वीं शताब्दी )

शोभाकर मित्र का 'अलंकार रत्नाकर' नामक ग्रंथ अलंकारशास्त्र के इतिहास में बडा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह ग्रंथ केवल अलंकारो पर ही आश्रित है। एक समय में यह काव्यशास्त्रियों का कंठहार था। इसका एक प्रमाण यह भी है कि यशस्क ने इसके सूत्रों को लेकर देवी-स्तुति के लिए उदाहरण-स्वरूप एक पुस्तक ही लिख डाली। (रत्नाकरम्यन्तरतो गृहीत्वाऽलङकारसूत्राणि यथाक्रमेण। वन्दीव देव्या गिरिराज पुत्र्याः करोमि शंसन् श्रुतिगोचराणि)। शोभाकर मित्र ने अद्यावधि वर्णित अलंकार-संख्या में बहुत वृद्धि की है। उनके द्वारा वर्णित ये छह १ : पुनरुक्तवदाभास, २ : यमक, ३ : छेकानुप्रास, ४ : वृत्त्यनुप्रास, ५ : लाटानुप्रास तथा ६ : चित्र शब्दालंकार हैं। अर्थालंकार है— १ : उपमा, २ : कल्पितोपमा, ३ : अनन्वय, ४ : असम, ५ : उपमेयोपमा, ६ : उदाहरण, ७ : प्रतिमा, ८ : तुल्ययोगिता, ९ : दीपक, १० : प्रतिवस्तूपमा, ११ : दृष्टान्त, १२ : निदर्शना, १३ : स्मृति, १४ : विनोद, १५ : व्यासंग, १६ : व्यतिरेक, १७ : प्रतीप, १८ : वैधर्म्य, १९ : रूपक, २० परिणाम २१ : अपह्नुति, २२ : सन्देह, २३ : वितर्क, २४ : उत्प्रेक्षा, २५ : भ्रान्तिमान्, २६ : उल्लेख, २७ : प्रतिभा, २८ : क्रियातिपत्ति, २९ : अतिशयोक्ति, ३० : अप्रस्तुतप्रशंसा, ३१ : व्याजस्तुति, ३२ : प्रत्यनीक, ३३ : विनोक्ति, ३४ : सहोक्ति, ३५ : समासोक्ति, ३६ : श्लेष, ३७ : परिकर, ३८ : पर्यायोक्त, ३९ : निश्चय, ४० : आक्षेप, ४१ : विध्याभास, ४२ : सन्देहाभास, ४३ : विकल्पाभास, ४४ : विरोध, ४५ : विभावना, ४६ : विशेषोक्ति, ४७ : असंगति, ४८ : अन्योन्य, ४९ :विपर्यय, ५० : अचिन्त्यम्, ५१ : विषम, ५२ : सम, ५३ : विचित्र, ५४ : विशेष, ५५ : व्याघात, ५६ : शक्य, ५७ : व्यत्यास, ५८ : समता, ५९ : उद्रेक, ६० : तुल्य, ६१ : अनादर, ६२ : आदर, ६३ : अनुकृति, ६४ : प्रत्यूह. ६५ : प्रत्यादेश, ६६ : समाधि, ६७ : अर्थान्तरन्यास, ६८ : व्याप्ति, ६९ : अनुमान, ७० · हेतु, ७१ : आपत्ति, ७२ : विधि, ७३ : नियम, ७४ : परिसंख्या, ७५ : प्रतिप्रसव, ७६ : तन्त्र, ७७ : प्रसंग, ७८ : विकल्प, ७९ : समुच्चय, ८० : परिवृत्ति, ८१ : पर्याय, ८२ : क्रम, ८३ : वर्धमानक, ८४ : अवरोह, ८५ : अतिशय, ८६ : शृंखला, ८७ : तद्गुण, ८८ : मीलित, ८९ : विवेक, ९० : परभाग,, ९१ : उद्भेद, ९२ : गूढ, ९३ : सूक्ष्म, ९४ : व्याजोक्ति, ९५ : वक्रोक्ति, ९६ : स्वभावोक्ति, ९७ : भाविक, ९८ : उदात्त, ९९ : रसवत्प्रेयऊर्जस्वित तथा १०० : संकर।

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा ने शोभाकर मित्र द्वारा उद्भावित ४१ अलंकार माने हैं।[1] ये है— १ : असम, २ : उदाहरण, ३ : प्रतिमा, ४ : विनोद, ५ : व्यासंग, ६ : वैधर्म्य, ७ : अभेद,

१ : रीतिकालीन अलकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, पृष्ठ ४६

८ : वितर्क, ६ : प्रतिभा, १० : क्रियातिपत्ति, ११ : निश्चय, १२ : विध्याभास, १३ : संदेहाभास, १४ : विकल्पाभास, १५ : विपर्यय, १६ : अचिन्त्य, १७ : अशक्य, १८ : व्यस्यास, १६ : समता, २० : उद्रेक, २१ : तुल्य, २२ : अनादर, २३ : आदर, २४ : अनुकृति, २५ : प्रत्यूह, २६ : प्रत्यादेश, २७ : व्याप्ति, २८ : आपत्ति, २६ : विधि, ३० : नियम, ३१ : प्रतिप्रसव, ३२ : तंत्र, ३३ : प्रसंग, ३४ : वर्धमानक, ३५ : अवरोध, ३६ : अतिशय, ३७ : शृंखला, ३८ : विवेक, ३६ : परभाग, ४० : उद्भेद तथा ४१ : गूढ़।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार 'अलंकार रत्नाकर' में २७ अलंकार नवीन मानते हैं। उनका कहना है—"शोभाकर के अलंकार-रत्नाकर में २७ अलंकार यद्यपि पूर्वाचार्यों के निरूपित अलंकारों से अधिक हैं, किन्तु इनमें अधिकांश अलंकार ऐसे हैं, जो पूर्वाचार्यों के निरूपित अलंकारों के अंतर्गत है। शोभाकर पंडितराज के पूर्ववर्ती हैं।"[1]

सेठ जी का यह मत भ्रामक है। शोभाकर के समय को ध्यान में रखते हुए यह मानना ही पडेगा कि अलंकार-संख्या-विस्तार में उनका पर्याप्त योग है। यह बात दूसरी है कि उनके अनेक अलंकारों का तिरोभाव पूर्व-निरूपित अलंकारों में हो सकता है। इनके बहुत से नवीन अलंकार उत्तरालंकारिकों के द्वारा गृहीत भी नही हो सके। किन्तु, उनका चिंतन इतना प्रौढ़ है कि पंडितराज जगन्नाथ-जैसे दुर्धर्ष काव्यशास्त्री को भी उनके मत का समर्थन करना ही पड़ा।

## हेमचन्द्र : काव्यानुशासन ( सन ११५० के वाद )

यह मौलिक ग्रंथ की अपेक्षा संग्रह ग्रंथ है और आठ अध्यायो में विभक्त है। पाँचवें अध्याय में छह शब्दालंकार—१ : अनुप्रास, २ : यमक, ३ : चित्र, ४ : श्लेष, ५ : वक्रोक्ति तथा ६ : पुनरुक्तवदाभास वर्णित हैं। छठे अध्याय में २६ अर्थालंकारों का विश्लेषण है। हेमचन्द्र की प्रवृत्ति अलंकार-संख्या-संकोचन की ओर दीख पड़ती है। वे संसृष्टि को सकर, तुल्ययोगिता को दीपक, पर्याय को परिवृत्ति, अनन्वय, उपमेयोपमा को उपमा, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा अन्य कथित निदर्शना को निदर्शन के अंतर्गत मानते हैं।[2]

उन्होंने रसवत, प्रेयस् ऊर्जस्वि आदि रसवत् अलंकारों को छोड दिया। वे अप्रस्तुतप्रशंसा को अन्योक्ति तथा स्वभावोक्ति को जाति से अभिहित करते हैं। वे यथासख्य, विनोक्ति, भाविक, उदात्त, रसवत, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, आशीः एवं प्रत्यनीक को पृथक् अलंकारत्व प्रदान नही करते।[3]

## जयदेव : चन्द्रालोक ( सन १२००-१३०० )

जयदेव ने 'चन्द्रालोक' लिखकर अलंकार के मंद पडते हुए वातावरण को पुनः प्रकाशित किया। यद्यपि यह ग्रंथ प्रायः संपूर्ण काव्यशास्त्र को घेरता है, किन्तु अलंकार-निरूपण में ही इसका महत्त्व है। ग्रंथ दस मयूखों में विभक्त है। पाँचवें मयूख में १ : लाट, २ : पुनरुक्तवदाभास, ३ : चित्र और एक सौ अर्थालंकार वर्णित है। सेठ जी ८२ अर्थालंकार ही मानते हैं।[4]

---

१ : काव्य-कल्पद्रुम—अलंकार-मंजरी, भूमिका, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ २३

२ : देखिए—काव्यानुशासन।

३ : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोयेटिक्स—पी० वी० काने, पेज २११

४ : काव्य-कल्पद्रुम : अलंकार मंजरी, भूमिका, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ ४१

१ : छेकानुप्रास, २ : वृत्त्यनुप्रास, ३ : लाटानुप्रास, ४ : स्फुटानुप्रास, ५ : अर्थानुप्रास, ६ : पुनरुक्तप्रतीकाश, ७ : यमक और ८ : चित्र।

अर्थालंकारो में—१ : उपमा, २ : अनन्वय, ३ : उपमेयोपमा, ४ : रूपक, ५ : परिणाम, ६ : उल्लेखन, ७ : अपह्नुति, ८ : उत्प्रेक्षा, ९ : स्मृति, १० : भ्रान्ति, ११ : सन्देह, १२ : मीलित, १३ : सामान्य, १४ : उन्मीलित, १५ : अनुमान, १६ : अर्थापत्ति, १७ : काव्यलिंग, १८ : परिकर, १९ : परिकरांकुर, २० : अतिशयोक्ति, २१ : प्रौढ़ोक्ति, २२ : सम्भावना, २३ : प्रहर्षण, २४ : विषादन, २५ : तुल्ययोगिता, २६ : दीपक, २७ : प्रतिवस्तूपमा, २८ : दृष्टान्त, २९ : निदर्शना, ३० : व्यतिरेक, ३१ : सहोक्ति, ३२ : विनोक्ति, ३३ : समासोक्ति, ३४ : श्लेष, ३५ : अप्रस्तुतप्रशंसा, ३६ : अर्थान्तरन्यास, ३७ : विकस्वर, ३८ : पर्यायोक्ति, ३९ : व्याज-स्तुति, ४० : आक्षेप, ४१ : विरोध, ४२ : विरोधाभास, ४३ : असम्भव, ४४ : विभावना, ४५ : विशेषोक्ति, ४६ : असंगति, ४७ : विषम, ४८ : सम, ४९ : विचित्र, ५० : अधिक, ५१ : अन्योन्य, ५२ : विशेष, ५३ : व्याघात, ५४ : कारणमाला, ५५ : एकावली, ५६ : सार, ५७ : यथासख्य, ५८ : पर्याय, ५९ : परिवृत्ति, ६० : परिसंख्या, ६१ : विकल्प, ६२ : समुच्चय, ६३ : समाधि, ६४ : प्रत्यनीक, ६५ : प्रतीप, ६६ : उल्लास, ६७ : तद्गुण, ६८ : पूर्वरूप, ६९ : अतद्गुण, ७० : अनुगुण, ७१ : अवज्ञा, ७२ : प्रश्नोत्तर, ७३ : पिहित, ७४ : व्याजोक्ति, ७५ : वक्रोक्ति, ७६ : स्वभावोक्ति, ७७ : भाविक, ७८ : भाविकच्छवि, ७९ : उदात्त, ८० : अत्युक्ति, तथा सात रसवदादि अलंकार।

इसके अतिरिक्त उन्होने उपमा के प्रतीपोपमा, ललितोपमा, स्तबकोपमा तथा सम्पूर्णोपमा चार भेद, रूपक के सोपाधि, सादृश्य, आभास तथा रुपित चार भेद, अपह्नुति के पर्यस्त, भ्रान्त, छेक, कैतव चार भेद, उत्प्रेक्षा का एक अन्य भेद गूढोत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति के छह भेद अक्रम, अत्यन्त, चपल, सम्बन्ध, भेदक तथा रूपक दीपक के दो और आवृत्ति तथा माला, श्लेष के तीन भेद खण्ड, भग, अर्थ, आक्षेप का एक अन्य गूढ़, सार का एक और उदारसार वर्णित किये हैं। वस्तुतः जयदेव कृत ४ शब्दालकार ८० अर्थालंकार, ७ रसवदादि अलंकार —कुल ९१ अलंकार ही प्रतीत होते है। छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानप्रास तथा अर्थानुप्रास तो एक ही अनुप्रास के भेद हैं।

अनुप्रास में स्फुटानुप्रास तथा अर्थानुप्रास उनकी मौलिक उद्भावना है। अर्थालंकार में चौदह बिलकुल नवीन है—१ : अत्युक्ति, २ : अनुगुण, ३ : असम्भव, ४ : अवज्ञा, ५ : उन्मीलित, ६ : उल्लास, ७ : प्रौढोक्ति, ८ : प्रहर्षण, ९ : परिकरांकुर, १० : पूर्वरूप, ११ : भाविकच्छवि, १२ : विकस्वर, १३ : विषादन तथा १४ : सम्भावना।

पुनरुक्तिप्रकाश तो पुनरुक्तवदाभास का ही नया नाम मालूम पडता है। उन्मीलित मीलित से ही विकसित हुआ। खण्ड श्लेष वस्तुतः अभंग श्लेष ही है। शोभाकर मित्र ने जिसे 'विपत्ति' नाम दिया, वही यहाँ विषाद अलंकार बन गया है। विकस्वर अर्थान्तरन्यास का ही विकसित रूप है। सम्भव अलंकार असंभव का ही विरोधी अलंकार ज्ञात होता है। प्रौढोक्ति उक्ति से विकसित हुई तथा भाविकच्छवि भाविक मे विकसित। प्रहर्ष विषाद एक दूसरे के प्रतिलोम हैं। इन अलकारो मे प्रौढ़ोक्ति, प्रहर्ष, विषाद, उल्लास, विकस्वर और अवज्ञा—ये ही छह अलंकार ऐसे रहे, जो पीछे भी मान्य होते रहे।

चन्द्रालोककार की एक विशेषता यह है कि एक ही श्लोक के पूर्वार्द्ध में अलंकार-लक्षण-निरूपण तथा उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है। लाघव के कारण यह पद्धति बड़ी ही लोकप्रिय रही और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने इसका अनुगमन किया।

**विद्याधर : एकावली ( सन् १२८८ से १३२७ के बीच )**

विद्याधर की 'एकावली' आठ उन्मेषों में विभक्त है। यह केवल अलंकारशास्त्र का ग्रंथ नही, वरन् सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर आनन्दवर्द्धन, मम्मट तथा रुय्यक का पर्याप्त प्रभाव है। सातवें उन्मेप में शव्दालंकार तथा आठवे में अर्थालंकार वर्णित हैं। अलंकार-निरूपण में वे रुय्यक के ऋणी हैं। परिणाम, उल्लेख, विचित्र एवं विकल्प अलंकारो की परिभाषाओं में तो उन्होंने रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का शव्दशः ग्रहण किया है।

इस ग्रंथ में लेखक ने स्वनिर्मित उदाहरण प्रस्तुत किये है। इन उदाहरणो में उन्होने अपने आश्रयदाता उत्कलाधीश नरसिंह का पर्याप्त गुणगान किया है। वे स्वयं कहते है "एप विद्याधरस्तेषु कान्तासंमित लक्षणम्। करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्।" ( विद्याधर । इस पद्धति में संस्कृत में अनेकों ग्रंथ लिखे गये और हिंदी के रीतिकाल में शिवराज-भूपण, यशवन्त-यशोभूषण जैसे ग्रंथ लिखे गये। यह ग्रंथ एक समय वहुत ही लोकप्रिय था। इसका प्रमाण यह है कि महाकाव्यों के ख्यातिनामा टीकाकार मल्लिनाथ ने 'एकावली' पर 'तरला टीका' लिखी।

**विद्यानाथ : प्रतापरुद्र-यशोभूषण ( १४वीं शताब्दी )**

विद्यानाथ ने 'एकावली' की भाँति ही—प्रतापरुद्र (यशोभूपण) लिखा, जो दक्षिण भारत के पडितो का आज तक भी भूषण वना हुआ है। इसके तीन खंड हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। सभी उदाहरण काकतीयनृप तेलाङ्गना ( आन्ध्र )-नरेश प्रताप रुद्रदेव के स्तवन में वनाये गये है। प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः अलंकार-प्रवन्धोयं सन्तः कर्णोत्सवास्तुवः। १ ६। इस ग्रंथ में ६ प्रकरण हैं—नायक, काव्य, नाटक, रस, दोप, गुण, शव्दालंकार, अर्थालंकार, मिश्रालंकार। अन्यत्र वे काव्य-प्रकाश की पद्धति अपनाते हैं, किन्तु अलंकार-विवेचन में उन्हे अलंकारसर्वस्व की पद्धति रुचती है। मम्मट ने जिन परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प अलंकारो को छोड़ दिया, उनका वे रुय्यक के इंगित-निर्देश पर विवेचन करते हैं।

शव्दालंकार, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास, लाटानुप्रास तथा चित्र हैं। ६७ अर्थालंकार तथा दो ( संकर-संसृष्टि ) मिश्रालंकार है। यदि रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशवलता—इन सातों को परिगणित किया जाय, तो अलंकारों की कुल संख्या ८२ हो जाती है।

इस ग्रंथ की 'रत्नापण' नाम्नी टीका स्वनामधन्य मल्लिनाथ के सुपुत्र कुमारस्वामिन् ने लिखी।

**वत्सलांछन : काव्य-परीक्षा ( १३८० से १४३७ वि० सं० )**

इस ग्रंथ में अन्य काव्यांगों के साथ अलकार-निरूपण भी किया गया। इसमें ५ शव्दालंकार और ५६ अर्थालंकार वर्णित हैं तथा अलंकार-निरूपण पर मम्मट एवं रुय्यक का स्पष्ट प्रभाव दीखता है।

### भानुदत्त : अलंकारतिलक ( १४ वीं शताब्दी )

'रसमंजरी' के सुप्रसिद्ध लेखक भानुदत्त का पाँच परिच्छेदों मे विभक्त एक अलंकारविषयक ग्रंथ भी मिलता है। चौथे परिच्छेद मे 'काव्यप्रकाश' के अनुसार वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास तथा 'सरस्वती कण्ठाभरण' के अनुसार गति, रीति, वृत्ति एव छाया आदि शब्दालंकार वर्णित हैं। पाँचवें में ७१ अर्थालंकार वर्णित हैं। अर्थालंकार-निरूपण मे 'सरस्वती कण्ठाभरण' का अनुकरण किया गया है। वह अलंकार की परिभाषा देते हैं—औपाधिक-प्रकर्षहेतुरलङ्कारः।

### वाग्भट—काव्यानुशासन ( १४५० वि० सं० )

'काव्यानुशासन' पाँच अध्यायों में विभक्त है। इसके तृतीय अध्याय मे ६३ अर्थालंकार परिभाषित हैं। इनमे अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव तथा आशीः— ऐसे अलंकार हैं, जिनका उल्लेख कम स्थलो पर मिलता है। 'अन्य' और 'अपर' ये दो नवीन अलकार मालूम पडते हैं। विभिन्न परिस्थितियों तथा प्रभावशाली वस्तुओ का एकत्र वर्णन 'अन्य' अलंकार है तथा 'गुण और क्रिया' का एकत्र अभिधान 'अपर' नामक अलंकार है। अन्य अलंकारो के वर्णन मे रुद्रट का प्रभाव स्पष्ट है। चौथे अध्याय मे चित्र, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक तथा पुनरुक्तवदाभास—छह शब्दालंकार वर्णित है।

### विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण ( १३०० ई० से १३८४ ई० )

'साहित्य-दर्पण' दस परिच्छेदों में विभक्त संस्कृत-साहित्यशास्त्र की बहुत विख्यात कृति है। इसके दशम परिच्छेद में अलंकारो का विवेचन है। पण्डित विश्वनाथ ने 'अनुकूल' नामक नवीन अलंकार प्रस्तुत किया है। प्रतिकूल स्थिति का अनुकूल वर्णन करना 'अनुकूल' अलंकार है। यह अलकार शोभाकर मित्र की 'अनुकृति' अलंकार से विकसित मालूम पडता है। विश्वनाथ ६ शब्दालकार और ७२ अर्थालकार—कुल ७८ अलकार मानते हैं।

### केशव मिश्र : अलंकारशेखर ( १६ वीं शताब्दी )

अलकार की परम्परा मे यह रचना भी एक प्रमुख कडी की तरह आती है। यह छोटी पुस्तक है, किन्तु इसमे काव्यशास्त्र के बहुत अश वर्णित हैं। पुस्तक ८ रत्नों तथा २२ मरीचियों में विभक्त है। चतुर्थ रत्न की प्रथम मरीचि मे ८ शब्दालंकार वर्णित है। चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रश्नोत्तर तथा यमक।[1] चतुर्थ रत्न की द्वितीय मरीचि मे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपह्नुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक और सहोक्ति। अन्य-देशत्व, विशेषोक्ति तथा विभावना—यही चौदह अलंकार परिभाषित है। किन्तु, मिश्र जी इन चोदह शब्दालंकारों के अतिरिक्त अन्य अलकार मानते ही नही।[2] केशव मिश्र का अन्यदेशत्व मम्मट की असगति है। वैसे उन्होने व्यतिरेक और आक्षेप की भी चर्चा की है।

१. चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासगूढश्लेषप्रहेलिकाः
प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टाऽलंकृतयो ध्वनौ। ४/१/२

२. उपमारूपकोत्प्रेक्षासमासोक्तिरपह्नुतिः ॥
समाहितं स्वभावश्च विरोधः सारदीपकौ ॥१॥
सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशेषोक्ति विभावने ॥
एवं स्युरर्थालंकाराश्चतुर्दश न चापरे ॥२॥ अलंकारशेखर, पृष्ठ ३२

## कर्णपुर : अलंकारकौस्तुभ ( १६वीं शताब्दी )

'अलंकारकौस्तुभ' दस किरणो में विभक्त है। सातवी, आठवी किरणों में अलंकार-विवेचन हैं। उदाहरण राधाकृष्ण के दिये गये है। वैसे कोई नवीन उद्भावना नही। कर्णपुर विशेषोक्ति और परिकर का एक ही कारिका में प्रस्तुत करते है, किन्तु यह स्पष्ट नही होता कि वे दोनो को एक ही अलंकार मानते हैं।

## अप्पयदीक्षित : चित्रमीमांसा ( १७वीं शताब्दी )

'चित्रमीमांसा' और 'कुवलयानन्द' अलंकारविषयक बड़ी ही प्रौढ़ कृतियाँ है। 'चित्रमीमांसा' में दीक्षित जी उपमा, उपमेयोपमा अनन्वय,स्मरण, रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति - केवल बारह अलंकारो का वर्णन करते है। लगता है कि जितना भर उन्होने लिखा था, उतना उपलब्ध नही हैं; क्योंकि वे लिखते हैं कि "अधिकं निदर्शनमलङ्कारप्रकरणे चिन्तिष्यते।" किन्तु, कारण जो भी हो, 'चित्रमीमासा' को वे अपनी मानसिक योजना के अनुसार लिख न पाये। उनके इस कथन से ही यह बात प्रमाणित हो जाती है "अप्यर्धचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला। अनूरुरिव घर्मांशोरर्द्धेन्दुरिव धूर्जटेः।"

अलंकार के इतिहास में 'कुवलयानंद' बडा ही शीर्षस्थ ग्रंथ है। वस्तुतः यह जयदेव के 'चंद्रालोक' के पचम मयूख में वर्णित अलंकार-प्रकरण के आधार पर लिखा गया है। ये 'चन्द्रालोक' की अलंकार-सबंधी परिभाषाओ और उदाहरणो को ग्रहण कर उसका विवेचन एवं विवर्धन करते है। उनका कथन है —

"येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः। प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते।"

५वाँ श्लोक। किन्तु, ऐसा नही कह सकते कि दीक्षित ने अलंकार-चिंतन को जयदेव से आगे नही बढ़ाया। जयदेव ने जिन सात रसवदादि अलंकारो का संकेत दिया है,[१] उन्हे दीक्षित अलंकार मानते हैं। वे प्रत्यक्षादि दस प्रमाणो को भी अलंकारत्व प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त दीक्षित १७ नये अलंकारो का उल्लेख करते हैं— १ : प्रस्तुतांकर, २ : अल्प, ३ : कारक दीपक, ४ : मिथ्याध्यवसिति, ५ : ललित, ६ : अनुज्ञा, ७ : मुद्रा, ८ : रत्नावली, ९ : विशेषक, १० : गूढ़ोक्ति, ११ : विवृतोक्ति, १२ : युक्ति, १३ : लोकोक्ति, १४ : छेकोक्ति, १५ : निरुक्ति, १६ : प्रतिषेध और १७ : विधि।

प्रस्तुतांकुर अप्रस्तुतप्रशंसा से ही सबद्ध है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होती है, प्रस्तुतांकुर में एक प्रस्तुत से दूसरे प्रस्तुत की व्यंग्य-प्रतीति होती है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' तथा नागेश भट्ट ने 'काव्यप्रदीप' की उद्योग-टीका में इसके पृथक् अलंकारत्व का खंडन किया है। व्याजनिन्दा तथा अधिक के अन्तर्गत अल्प को समाविष्ट कर लिया है। मिथ्याध्यवसिति मे एक मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दूसरे मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। पंडितराज जगन्नाथ मिथ्याध्यवसिति को प्रौढोक्ति तथा अलंकार-कौस्तुभकार विश्वेश्वर-मम्मटोक्त तृतीय अतिशयोक्ति के अन्तर्गत करते हैं। भोजराज ने 'सरस्वतीकंठाभरण' में मुद्रा

---

१ : रसवत्प्रेयऊर्जस्वित्समाहितमयाभिधाः
भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः
अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः—चन्द्रालोक, पृष्ठ ११८

को शब्दालकार माना है। उसी में ईषत् परिवर्त्तन कर दीक्षित ने मुद्रा अर्थालकार माना। भोज की 'क्रमकूना गुम्फना' से दीक्षित की 'रत्नावली' का संबंध जोडा जा सकता है। विशेषक सामान्य का विरोधी है तथा इसका आधार शोभाकर मित्र कृत 'विशेषक' अलकार माना जा सकता है। अनुज्ञा का संबंध भी शोभाकर मित्र के 'व्यत्यास' से जोडा जा सकता है। गूढ़ोक्ति और विवृतोक्ति गुणीभूत व्यंग्य और वस्तु—ध्वनि से संबद्ध है। युक्ति भी नया नही। यह तो मम्मट-वर्णित व्याजोक्ति अलंकार की ही एक शाखा है। लोकोक्ति और छेकोक्ति की कल्पना का श्रेय भी दीक्षित जी को देना ठीक नही। भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में 'छाया' नामक शब्दालकार की कल्पना की है। उसमें दो भेद हैं—(१) लोकोक्तिछाया और (२) छेकोक्तिछाया। इन दोनो के साथ दीक्षित के दोनो अलकार जुडे हुए है। भरत ने निरुक्ति की चर्चा ३६ भूषणो में की है। प्रतिषेध और विधि की चर्चा शोभाकर मित्र के 'अलंकार रत्नाकर' तथा यशस्क के 'अलंकारोदाहरण' में क्रमशः है।

अतः, इन सभी अलकारो के आविष्करण का पूरा श्रेय अप्पय दीक्षित को नही दिया जा सकता। हॉ, इतना निश्चित है कि संस्कृत-अलंकारशास्त्र में चिंतन के आधार पर जितनी सरणियाँ थी, उनका एकत्रीकरण दीक्षित जी ने किया है। वस्तुतः वे एक योग्य संग्राहक है। 'कुवलयानन्द' को छोड कर संस्कृत-अलंकारशास्त्र की कोई पुस्तक नही, जिसमे इतने अलकारों के विवेचन हुए हो।

भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में मीमांसा-दर्शन में उल्लिखित छह प्रमाणो का सविस्तर सोदाहरण विवेचन किया है। दीक्षित ने भोजराज से प्रेरणा ग्रहण कर पौराणिकों द्वारा वर्णित दस प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव, स्मृति, स्तुति, सभव तथा एतिह्य) को भी अलकार मान लिया है। इस तरह कुवलयानन्द मे १०० अर्थालंकार, ७ रसवत् आदि, ११ प्रत्यक्ष आदि प्रमालंकार और १ ससृष्टि एवं १ संकर। इस प्रकार १२० अलकारो का निरूपण है (भूमिका-भाग पृष्ठ २३)। आगे भूमिका में सेठजी लिखते हैं कि अप्पय दीक्षित तक अलंकारो की संख्या १३३ तक पहुँच चुकी थी।[1] डॉ० भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी कुवलयानंद की भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है (चन्द्रालोक मे) ६६ अर्थालंकारों का विवेचन पाया जाता है। कुवलयानद ने इन अलकारों मे से कई के नये भेदों की कल्पना की है तथा इनसे इतर १७ नये अलकारो का संकेत किया। परिशिष्ट में अप्पय दीक्षित ने ७ रसवदादि अलंकारो तथा १० प्रमाणालंकारो का संकेत किया है। इस तरह उनके विचार से ६६ + १७ + ७ + १७ कुल १३७ अलकार होते हैं। किन्तु, उन्ही की पुस्तक से स्पष्ट हो जाता है कि उपमा से संकर तक कुल अलंकारों की संख्या ११६ है। संकर के ही अंगागिभाव, समप्राधान्य, संदेह, एकवाचकानुप्रवेश तथा संकर-संकर भेद हैं।

**पंडितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर (सन् १६४१ से १६५० तक)**

पडितराज जगन्नाथ का रसगगाधर संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रौढ़तम ग्रन्थों में एक है। इसके द्वितीय आनन मे ७० अलंकारो का विवेचन किया गया है। ये अलंकार है :—

१ : उपमा, २ : उपमेयोपमा, ३ : अनन्वय, ४ : असम, ५ : उदाहरण, ६ : स्मरण, ७ : रूपक, ८ : परिणाम, ९ : ससंदेह, १० : भ्रान्तिमान, ११ : उल्लेख, १२ : अपह्नुति, १३ :

१. अलकार-मजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ २६

उत्प्रेक्षा, १४ : अतिशयोक्ति, १५ : तुल्ययोगिता, १६ : दीपक, १७ : प्रतिवस्तूपमा, १८ : दृष्टान्त, १६ : निदर्शना, २० : व्यतिरेक, २१ : सहोक्ति, २२ : विनोक्ति, २३ : समासोक्ति, २४ : परिकर, २५ : श्लेष, २६ : अप्रस्तुतप्रशंसा, २७ : पर्यायोक्त, २८ : व्याजस्तुति, २६ : आक्षेप, ३० : विरोध, ३१ विभावना, ३२ : विशेषोक्ति, ३३ : असंगति, ३४ : विषम, ३५ : सम, ३६ : विचित्र, ३७ : अधिक, ३८ : अन्योन्य, ३६ : विशेष, ४० : व्याघात, ४१ : कारणमाला, ४२ : एकावली, ४३ : सार, ४४ : काव्यलिंग, ४५ : अर्थान्तरन्यास, ४६ : अनुमान, ४७ : यथासंख्य, ४८ : पर्याय, ४६ : परिवृत्ति, ५० : परिसंख्या, ५१ : अर्थापत्ति, ५२ : विकल्प, ५३ : समुच्चय, ५४ : समाधि, ५५ : प्रत्यनीक, ५६ : प्रतीप, ५७ : प्रौढोक्ति, ५८ ललित, ५६ : प्रहर्षण, ६० : विषादन, ६१ : उल्लास, ६२ : अवज्ञा, ६३ : अनुज्ञा ६४ : तिरस्कार, ६५ : लेश, ६६ : तद्गुण, ६७ : अतद्गुण, ६८ : मीलित, ६६ : सामान्य और ७० : उत्तर।

उत्तरालंकार का निरूपण करते ही ग्रंथ अकस्मात् समाप्त हो जाता है। पंडितराज का सहसा निधन या उत्तरालंकार अनन्तर मूल का नष्ट हो जाना—ये दो कारण संभावित हैं। 'चन्द्रालोक' मे उत्तर अलंकार के पहले वर्णित आवृत्तिदीपक, परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दन, असंभव, अल्प, मालादीपक, साधक, कारक दीपक, विकस्वर, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, रत्नावली, पूर्वरूप, उन्मीलित, विशेप—इन सोलह अलंकारो को स्वतंत्र अलंकार नहीं मानते। इनका अंतर्भाव वे दूसरे-दूसरे अलंकारो मे मानते है। 'चन्द्रालोक' मे उत्तर अलंकार के पश्चात् जो सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिपेध, विधि और हेतु—जो सत्रह अलंकार रह जाते हैं, उनके बारे मे पंडितराज के विचार नही मिलते। पंडितराज जगन्नाथ की इस पुस्तक के हिन्दी-टीकाकार की धारणा है कि "पण्डितराजाभिमत अलंकारों की संख्या भी प्रायः सौ के लगभग होती।"[1]

पंडितराज जगन्नाथ के वाद भी अलंकार-ग्रन्थ लिखे जाते रहे। उनमें उल्लेख्य पुस्तकें हैं-नरसिंह कवि-कृत 'नञ्जराज-यशोभूषण,' देवशंकर पुरोहित-रचित 'अलंकार-मंजूषा', कृष्ण दीक्षित-विरचित 'रघुनाथ भूपालीय', कृष्ण कवि-कृत 'मदारमरंद चम्पू' तथा आचार्य विश्वेश्वर-कृत 'अलंकार-प्रदीप' और 'अलंकार-कौस्तुभ'। आचार्य विश्वेश्वर का समय १८०० ई० है। आचार्य ने 'विधान' और 'तिरस्कार' दो अलंकार नये दिये है, किन्तु 'पिधान' 'पिहित' का नाम मालूम पड़ता है। तिरस्कार का संकेत तो पंडितराज ने भी दिया है।[2]

इस तरह संस्कृत-अलंकारशास्त्र के इतिहास मे लगभग दो हजार वर्षों मे अलंकारों का वडा ही सूक्ष्म विश्लेषण हुआ। भरतोक्त चार अलंकार लगभग १२५ की संख्या तक पहुँच गये। इनमें अनेक अलंकार ऐसे हैं, जिनके शताधिक भेदोपभेद किये गये।

---

१ : 'रसगंगाधर' की भूमिका, पंडित मदनमोहन झा, पृष्ठ ३६

२ : दोष विशेषानुबंधात् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः—रसगंगाधर

## हिन्दी का अलंकार साहित्य :

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल ( १६५० ई० से १८५० ई०) मे अलंकारो की चर्चा विशेष रूप से होती रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार से दैवयोग से संस्कृत-काव्यशास्त्र की एक संक्षिप्त उद्धरिणी हो गयी। मिश्रवंधु तो इस काल को 'अलंकार काल 'ही मानते हैं। दो सौ वर्षों की लम्वी अवधि में शताधिक अलंकार-ग्रन्थ निर्मित हुए। उनमें से प्रमुख ग्रन्थो का उल्लेख करके हम संतोष कर रहे है।

रीतिकालीन—

| | | |
|---|---|---|
| १ : आचार्य केशवदास | १६५८ वि० | कविप्रया |
| २ : महाराज जसवंत सिंह | सं० १६८३-१७३५ | भाषाभूषण |
| ३ : मतिराम | सं० १७१६-१७४५ | ललितललाम, अलंकार-पंचाशिका |
| ४ : भूषण | सं० १६७०-१७७२ | शिवराज-भूषण |
| ५ : कुलपति | सं० १७२७ | रसरहस्य |
| ६ : सोमनाथ | सं० १६६४ | रस-पीयूषनिधि |
| ७ : श्रीपति | सं० १७७७ | काव्य-सरोज |
| ८ : पदुमन दास | सं० १७४१ | काव्य-मंजरी |
| ९ : देव | सं० १७६० | शब्द-रसायन |
| १० : गोप | सं० १७७३ | रामचन्द्र-भूषण, रामचन्द्राभरण |
| ११ : श्रीधर ओझा | सं० १७६७ | भाषाभूषण |
| १२ : याकूब खाँ | सं० १७७५ | रसभूषण |
| १३ : रसिक सुमति | सं० १७८५ | अलंकार-चंद्रोदय |
| १४ : भूपति | सं० १७९१ | कंठाभूषण |
| १५ : दलपतिराय | सं० १७९८ | अलंकार-रत्नाकर |
| १६ : रघुनाथ | स० १७९६ | रसिक-मोहन |
| १७ : गोविंद कवि | स० १७९७ | कर्णाभरण |
| १८ : भिखारीदास | सं० १८०३ | काव्य-निर्णय |
| १९ : दूलह | सं० १८००-१८२५ | कविकुलकंठाभरण |
| २० : शंभुनाथ मिश्र | १९वी शताब्दी | अलकार-दीपक |
| २१ : रूपरूप | स० १८११ | तुलसीभूषण |
| २२ : बैरीसाल | सं० १८२५ | भाषाभरण |
| २३ : रतनेस | सं० १८३० | अलंकार-दर्पण |
| २४ : हरिनाथ | स० १८१६ | अलंकार-दर्पण |
| २५ : राम सिंह | स० १८४५ | अलंकार-दर्पण |
| २६ : सेवा दास | सं० १८४० | रघुनाथालंकार |
| २७ : चंदन | सं० १८४५ | काव्याभरण |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २८ : | वेनी वंदीजन | सं० १८४६ | ठिकैतराज-प्रकाश |
| २९ : | जगत सिंह | सं० १८५८ | साहित्यसुधानिधि |
| ३० : | उमेद राय | सं० १८६१ | वाणी भूषण |
| ३१ : | पद्माकर | सं० १८६७ | पद्माभरण |
| ३२ : | ब्रह्मदत्त | सं० १८६७ | दीपक-प्रकार |
| ३३ : | रसिक गोविंद | सं० १८९० | रसिक गोविंद |
| ३४ : | करण भट्ट | सं० १८८४ | अलंकार-कलानिधि |
| ३५ : | गिरिधरदास | सं० १८९० | भारतीभूषण |
| ३६ : | वलवान सिंह | सं० १८८६ | चित्र-चन्द्रिका |
| ३७ : | ग्वाल | सं० १९०० | रसिकानंद |

रीतिकालीन कवि केवल संस्कृत-काव्यशास्त्र का ही अनुवाद करते रहे, ऐसा कहना उचित नही। उन्होंने विकसित अभिव्यंजना-पद्धति को विश्लेपित-विशकलित कर नये-नये अलंकारों को अन्वेषित करने का भी प्रयास किया। हिन्दी के रीतिकाल ने अलंकार-शास्त्र को २२ नये अलंकारो का उपहार प्रदान किया। इनमें केशव ने ८, मतिराम ने १, देव ने ५, रघुनाथ ने १, भिखारीदास ने ३, रसरूप ने ३ तथा जगत सिंह ने १। केशव के आठ अलंकार हैं—

१ : प्रेम— कपट निपट मिटि जाय जहँ, उपजै पूर्ण छेम।
ताहीं सो सब कहत है, केशव उत्तर प्रेम॥

—कविप्रिया, पृष्ठ १६३

२ : अभिमत— कर्त्ता का श्रेय जहाँ कारण ही प्राप्त कर लें
जहाँ साधन भोगई, साधक की शुभ सिद्धि
अमित नाम तासों कहत, जाकी अमित प्रसिद्धि

—कविप्रिया, पृष्ठ २५८

३ : सुसिद्ध— जहाँ साधना कोई करता है, फल कोई भोगता है।
४ : प्रसिद्ध— कार्य करता है, फल अनेक भोगते हैं।
५ : विपरीत— कार्य का साधक साधन ही जहाँ बाधक बनता है।
६ : गणना
७ : आशिप (नया लक्षण)
८ : युक्त
— माता पिता, गुरु आदि द्वारा सुख-प्राप्ति के अनन्तर जो शुभ वचन कहे जाते हैं।

मतिराम ने गुणवत् का उल्लेख किया। उनका कहना है—

कछु सम्पति ही पाइ के, बहु दीरघ ह्वै जात,
सो गुणवंत कहत हैं, मंद मतन मसुझात।

—अलंकार पंचाशिका, २२।

देव ने गुणवत् , लेख, संकीर्ण तथा प्रयुक्ति–इन चार नवीन अलंकारों का विवेचन किया—

गुणवत् — गुनवत संग गुनीन के, निगुणी गुननि प्रवीन,
प्रत्यनीक उलटो गुनहि, त्रिगुन करै गुनहीन।

—शब्द-रसायन देव, पृष्ठ १८४

लेख— गुन दोषन के दोष गुन, लेख सुकहो बखानि।

—शब्द-रसायन, देव, पृष्ठ १८४

संकीर्ण— बहुलक्ष्य की पूर्ति के लिए। विकल्प का उल्टा।

प्रयुक्ति— उक्ति-प्रयुक्ति ( प्रश्नोत्तर का नया नाम )

यमक का भेद (सिंहावलोकन)—

छंद के चरणान्त का वर्ण यदि दूसरे चरणारम्भ में यमक बनाये, तो उस सौन्दर्य-विधान को सिंहावलोकन कहते हैं।

—काव्य-निर्णय, भिखारीदास, पृष्ठ ५५५

रघुनाथ ने प्रेमात्युक्ति की चर्चा की। 'रसिकमोहन' में अत्युक्ति में शूरता, उदारता, महत्ता आदि का बढ़ा-चढ़ा वर्णन रहता है—प्रेमात्युक्ति प्रेम भाव तक ही सीमित है। बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति दीखती है।

भिखारीदास ने वीप्सा और स्वगुण—इन दो अलंकारों का उल्लेख किया।

वीप्सा—एक शब्द बहुबार जहँ अति आदर सों होइ,
ताहि वीप्सा कहत है, कवि कोविद सब कोई।

—काव्य-निर्णय, भिखारीदास, पृष्ठ ५०९

जहाँ आदरार्थ एक शब्द की अनेक बार आवृत्ति होती है, वहाँ यमक अलंकार होता है। पीछे चलकर इसके साथ अन्य भाव भी जोडे गये।

स्वगुण—अपना गुण त्याग कर पासवालों का गुण ग्रहण करना तद्गुण है। पासवाले के संपर्क में रहकर भी वस्तु का अपने गुण मे ही रहना स्वगुण है।

पाये पूरब रूप फिरि, स्वगुण सुमति कह देत।

स्वगुण पूर्वरूप से मिलता-जुलता है, पर उससे थोडा पृथक् भी।

दीपक का उन्होंने नवीन भेद किया—देहरी दीपक।

परे एक पद बीच मे, दुहुं दिसि लागै सोइ,
सो है दीपक देहरी, जानत है सब कोइ।

—काव्य-निर्णय, भिखारीदास

उन्होंने 'सार' को उत्तरोत्तर नया नाम दिया। रशनोपमा को उन्होंने उपमा और एकावली के सकर रूप में माना।

रसरूप ने धन्यता, निर्णय तथा उन्मतोक्ति की चर्चा की।

धन्यता—जहाँ करणीय से अधिक बात पैदा हो।

निर्णय—जहाँ अनेक व्यक्ति एक ही बात के बारे में निर्णय देते हैं।

उन्मतोक्ति—जहाँ कारण अपने-आपको कार्यासन पर आसीन मान लेते है । जगत सिंह ने 'संग्रामोद्दाम हुंकरा' नामक एक नवीन अलंकार उद्भावित किया—

मल्ल प्रति मल्लन कहि कहे अस होइ,
संग्रामोद्दाम हुंकृति जानो सोइ ।

—पृष्ठ १३३

इस प्रकार हमारे रीतिकालीन कवियो ने भी अलंकार-शास्त्र को कुछ नवीन अलंकार प्रदान किये ।

गद्य-युग —

रीतिकाल के पश्चात् भी अलंकार की पुस्तके लिखी जाती रही, किन्तु उनमें विवेचना के लिए गद्य का प्रयोग किया जाने लगा । इन पुस्तको में कुछ उल्लेख्य हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १. | जसवंत-जसोभूषन | कविराज मुरारि दीन (सं० १९५०) |
| २. | काव्य-प्रभाकर | जगन्नाथ प्रसाद भानु (सं० १९६६) |
| ३ | अलंकार-मंजूषा | भगवान दीन (सं० १९७३) |
| ४. | भारती-भूषण | अर्जुनदास केडिया (सं० १९८७) |
| ५. | साहित्य-सागर | विहारीलाल भट्ट (सं० १९९४) |
| ६. | अलंकार-मंजरी | सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (सं० २००२) |
| ७. | अलंकार पीयूष | रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (सं० १९८९) |
| ८. | अलंकार-मुक्तावली | देवेन्द्रनाथ शर्मा (सं० २००५) |

जसवंत-जसोभूषण मे मुरारि दीन ने १३ नए अलंकारो की उद्भावना की है—१. अतुल्ययोगिता, २. अनवसर, ३. अपूर्वरूप, ४. अप्रत्यनीक, ५. अभेद, ६. अवसर, ७. आभास, ८ नियम, ९. प्रतिमा, १०. मिप, ११ विकास, १२ संकोच तथा १३. संस्कार ।

इनमें तुल्ययोगिता, पूर्वरूप और प्रत्यनीक के विलोम के रूप में अतुल्ययोगिता, अपूर्वरूप और अप्रत्यनीक की कल्पना की गयी है । इनके लक्षण या तो भ्रामक हैं या दूसरे अलंकार में समाविष्ट हो जाते हैं । अवमर तथा अनवसर, संकोच और विकास के रूप मे परस्पर विपरीत अलंकारो की उद्भावना की हे, जिसमे सौंदर्य का बिलकुल अभाव है । अभेद 'अभेद रूपक' तथा 'नियम और परिसंख्या' में कोई अन्नर नही है । 'प्रतिभा' और 'संस्कार' में भी चमत्कृति नही है ।

विहारीलाल ने नये अलंकारो मे दीपयोग तथा गुणोक्ति-दो अलंकारों की उद्भावना की है । 'दीपयोग' यमक के अतिरिक्त और कुछ नही है । 'गुणोक्ति' में अन्य गुणों को छोड़कर एक ही गुण पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है । यह अलंकार भी परिसंख्या मे समता रखता है ।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने 'परिवृत्ति' के प्रतिलोम 'अपरिवृत्ति' का उल्लेख किया है और उसके उदाहरण मे घनानन्द का यह प्रसिद्ध कवित्त उद्धृत किया है –

तुम कौन धौ पाटी पढ़े हो लला,
मन लेत हो देत छटांक नहीं ।

अन्य उल्लिखित ग्रन्थो में अलंकारो की उद्भावना नही की गयी है। संस्कृत में विवेचित प्रमुख अलंकारों को ही स्पष्टता से परिभाषित एवं उदाहृत करने का प्रयत्न किया गया है।

हम अलंकारो की इसी विस्तृत पृष्ठभूमि पर गोस्वामी जी के रामचरितमानस का अध्ययन करने की चेष्टा करेंगे।

## अलंकारों का वर्गीकरण :

अलंकारो का एक वर्गीकरण शब्दपरिवृत्तिसह और शब्दपरिवृत्त्यसह के आधार पर हुआ। इसके अनुसार शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार-जैसा विभाजन स्वीकृत हुआ। इसके लिए भोजराज ने कहा कि 'जो अलंकार शब्द का अलंकरण करते है, वे शब्दालंकार तथा जो अलंकार अर्थ का अलंकरण करते हैं, वे अर्थालकार है।'[1] मम्मट ने इसके लिए अन्वय-व्यतिरेक सिद्धान्त की स्थापना की। शब्दो के रहने से जो अलंकार रहे, वे शब्दालंकार और अर्थों के रहने से जो अलंकार हो, वे अर्थालंकार माने जाएँगे। उभयालंकार में शब्द और अर्थ दोनो की प्रधानता स्पष्ट ही है।

एक दूसरे प्रकार का विभाजन अर्थालकार सम्बन्धी आया। वस्तुतः कथन की आकर्षक भंगिमा का ही नाम अलंकार है और ये भंगिमाएँ अनन्त हो सकती है। अतः, इनको वर्गीकृत करना भी प्रायः सम्भव नही। किन्तु, आचार्यों ने मानसिक वृत्तियो को ध्यान में रखकर इन अर्थालंकारो के मूलाधार को खोजने की चेष्टा की है। अर्थालंकारो के सर्वप्रथम वर्गीकरण का प्रयास आचार्य उद्भट ने अपनी पुस्तक 'काव्यालकार-सार संग्रह', में किया। अलंकारो को उन्होंने छह वर्गों में विभक्त किया—

प्रथम वर्ग—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, लाटानुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा। (७ अलंकार)

द्वितीय वर्ग— आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। (६ अलंकार)

तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति। (३ अलकार)।

चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट। (७ अलंकार)

पंचम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति। (११ अलंकार)

षष्ठ वर्ग—सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग,- दृष्टान्त। (६ अलंकार)

प्रतीहारेन्दुराज ने 'लघुवृत्ति' में उद्भट के वर्गीकरण के प्रथम वर्ग के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उन्होंने प्रथम वर्ग के चार अलंकारो को शब्दालंकार तथा चार को अर्थालंकार बतलाया है। इससे अधिक और कोई उल्लेख नही मिलता। किन्तु, इतना कहा जा सकता है कि ये चार अलंकार भी सादृश्यमूलक ही है। चतुर्थ वर्ग में प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वी और समाहित के साथ उदात्त, पर्यायोक्ति को विषय-साम्य की दृष्टि से रखने मे कुछ औचित्य ज्ञात होता है। किन्तु, इसी वर्ग के अंतर्गत श्लेष को रखने का कोई कारण नही दीखता। अन्य वर्गों में कोई भाववत ऐक्य दृष्टिगत नही होता।

---

१: सरस्वती-कण्ठाभरणम्, भोजराज, पृष्ठ १४०

अलंकारों के सर्वप्रथम व्यवस्थित वर्गीकरण का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। उन्होंने अलंकारों के चार वर्ग निर्धारित किये—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष।[1] वस्तु का स्वरूप-कथन वास्तव कहलाता है। उपमेय और उपमान की समानता की अभिधा औपम्य है। अर्थ और धर्म के नियमों का विपर्यास अतिशय है। अनेकार्थता का नाम श्लेष है। रुद्रट ने चारों वर्गों के अंतर्गत निम्नोद्धृत अलंकारों को रखा—

१ वास्तव वर्ग – सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली। (२३ अलंकार)

२ : औपम्य वर्ग—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान्, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य और स्मरण। (२१ अलंकार)

३ : अतिशय वर्ग—पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिहित, व्याघात और अहेतु। (१२ अलंकार)

४ : श्लेष वर्ग—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास। (१० अलंकार)

रुद्रट का वर्गीकरण वैज्ञानिकता की दिशा मे एक नया पदक्षेप दिखाई पड़ता है। औपम्य वर्ग और अतिशय वर्ग तो उत्तरवर्ती आलंकारिकों द्वारा गृहीत हो सके, किन्तु उनके वास्तव और श्लेष वर्ग तो उपेक्षित ही रहे। उत्तर और समुच्चय को वास्तव तथा औपम्यगत, विरोध एवं अधिक कोअतिशय और श्लेष, उत्प्रेक्षा को औपम्य एवं अतिशय के अंतर्गत रखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि रुद्रट अलंकारों की समान भावभूमि तो अन्वेषित कर रहे थे, किन्तु किसी-किसी अलकार का सम्पूर्ण-का-सम्पूर्ण स्वरूप एक वर्ग में समाविष्ट नही हो रहा था।

इसी तरह विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में अलंकारों के चार वर्ग बनाये।[2]

---

१ : अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्यं तु भवन्ति निःशेषाः॥ —काव्यालंकार, सप्तम अध्याय, कारिका ९

२ : अर्थालंकाराणां चातुर्विध्यम्। केचित् प्रतीयमानवस्तवः। केचित् प्रतीयमानौपम्याः। केचित् प्रतीयमान-रसभावादयः। केचिदस्फुटप्रतीयमानाः।

प्रतापरुद्रीये रत्नापणसमन्वित—शब्दालंकार प्रकरण, पृष्ठ ३३७

समासोक्तिपर्यायोक्तयाक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयातिशयोक्तिपरिकराप्रस्तुतप्रशंसानुक्तनिमित्तविशेषो-क्तिषु प्रतीयमानं वस्तु काव्योपस्कारतामुपयाति।

रूपकपरिणाम संदेहभ्रान्तिमदुल्लेखापह्नवोत्प्रेक्षास्मरणतुल्ययोगितादीपकप्रतिवस्तूपमादृष्टान्तसहोक्त्यति-रेकनिदर्शनाश्लेषेष्वौपम्यं गम्यते।

रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितभावोदयभावसन्धिभावशबलतासु रसभावादिर्व्यज्यते।

उपमाविनोक्त्यर्थान्तरन्यासविरोधविभावनोक्तगुणविशेषोक्तिविषमसमचित्राधिकान्योन्यकारणमालैकावली-व्याघातमालादीपककाव्यलिंगानुमानसारयथासंख्यार्थापत्तिपर्यायपरिवृत्तिपरिसंख्याविकल्पसमुच्चयसमाधि-प्रत्यनीकप्रतीपविषमलिनसामान्यासंगतितद्गुणाव्याजोक्तिवक्रोक्तिस्वभावोक्तिभाविकोदात्तसूक्ष्मादृष्टान्तफलादि स्फुटं प्रतीयमानं नास्ति। —प्रतापरुद्रीय, रत्नापण समन्वित, पृष्ठ ३३८

१ : वस्तुप्रतीति वाले—समासोक्ति, आक्षेप, आदि।
२ : औपम्यप्रतीति वाले—रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि।
३ : रसभावप्रतीति वाले—रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वित् आदि।
४ : अस्फुटप्रतीति वाले—उपमा, अर्थान्तरन्यास, आदि।

विद्यानाथ के इस वर्गीकरण पर रुद्रट का प्रभाव देखा जा सकता है। विद्यानाथ के बहुत पहले राजानक रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' में अलंकारों का और भी व्यवस्थित रूप से वर्गीकरण किया था। रुय्यक ने स्वनिरूपित अलंकारों को मुख्यतः पाँच वर्गों में विभक्त किया। १ : सादृश्य-गर्भ, २ : विरोध-गर्भ, ३ : शृंखलाबद्ध, ४ : न्यायमूल और ५ : गूढार्थ-प्रतीतिमूल। इन्होंने न्यायमूल के तीन भेद किये—तर्कन्याय, काव्यन्याय या वाक्यन्याय तथा लोकन्याय। यह सादृश्य भी तीन प्रकार से व्यक्त होता है।[1] कहीं भेद प्रधान रहता है, कहीं अभेद प्रधान रहता है और कहीं दोनों तुल्य रहते हैं। अर्थात् सादृश्य तीन प्रकार के हुए—१ : भेद-प्रधान, २ : अभेद-प्रधान, ३ : भेदाभेद-प्रधान। कहीं यह सादृश्य वाच्य रहता है और कहीं व्यंग्य अर्थात् प्रतीयमान।

१ : सादृश्यगर्भ अलंकार—

(क) भेदाभेदतुल्य-प्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय तथा स्मरण। (४ अलंकार)

(ख) अभेद प्रधान—(i) आरोपमूल—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपह्नुति। (६ अलंकार)

(ii) अध्यवसायमूल—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति। (२ अलंकार)

(ग) गम्यमान-औपम्य—तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति; परिकर, श्लेष, अप्रस्तुत-प्रशंसा, पर्यायोक्ति, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप। (१६ अलंकार)

—कुल २८ अलंकार

२ : विरोधमूलक अलंकार—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण पौर्वापर्य)। इन अलंकारों का आधार विरोधात्मक वर्णन है। सम विरोधमूलक अलंकार नहीं, किन्तु विषम का विलोम होने के कारण यहाँ रखा गया।

—(१२ अलंकार)

३ : शृंखलाबन्ध—

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार। (४ अलंकार)

४ : न्यायमूलक—

(क) तर्कन्याय-काव्यलिंग और अनुमान। (२ अलंकार)

(ख) वाक्यन्याय—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या समुच्चय, समाधि। (८ अलंकार)

---

१ : साधर्म्ये त्रय प्रकाराः। भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत्। अभेदप्राधान्य रूपकादिवत्। द्वयोस्तुल्यत्व यथास्याम्॥ —अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ ४०

(ग) लोकन्याय—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर। (७ अलंकार)

५ : गूढार्थ-प्रतीतिमूल—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति। (३ अलंकार)

इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, संसृष्टि और संकर—ये पाँच अलंकार एवं रस-भाव से संबद्ध—रसवत्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भाव-शवलता—इन सात अलंकारों को किसी वर्ग में नहीं परिगणित किया। अद्यावधि-प्राप्त वर्गीकरणों में रुय्यक का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक है। किन्तु, उन्हें भी अतिशयोक्ति को सादृश्यगर्भ तथा विरोधमूलक अलंकार में समाविष्ट करना पड़ा। सम यद्यपि विरोधमूलक अलंकार नहीं है, फिर भी उसे केवल विषम का विरोधी होने के कारण विरोधमूलक अलंकारों की कोटि में रखना पड़ा। इसके अतिरिक्त अनेक अलंकार अवशिष्ट रह गये, जिन्हें किसी कोटि में वे रख नहीं पाये। किन्तु, उनके इस वर्गीकरण के बारे में हम डॉ० विजयेन्द्र स्नातक से पूर्णतः सहमत हैं—"वर्गीकरण की इस अनेकता में आचार्य रुय्यक का वर्गीकरण अलंकारों के मूल तत्त्वों के आधार पर अवलम्बित होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है। उसमें एकसूत्रता का भी प्राधान्य है। इसी से यह वर्गीकरण प्रायः सर्वसम्मत दृष्टि से मान्य है।"[1]

रुय्यक के वर्गीकरण को ही विद्यानाथ ने अपनी पुस्तक 'एकावली' में स्वीकृत किया। 'एकावली' के टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी 'तरला टीका' में उस वर्गीकरण को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया। उनके द्वारा कई सादृश्यमूलक अलंकारों के स्पष्टीकरण द्रष्टव्य हैं—

औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग—

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक
(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा; दृष्टान्त, निदर्शना
(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति
(घ) विशेषण-विच्छित्ति—समासोक्ति, परिकर
(ङ) विशेष्य-विच्छित्ति—परिकरांकुर
(च) विशेषण-विशेष्य-विच्छित्ति—श्लेष

विद्याधर के बाद विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लेकर अर्थालंकारों को प्रमुख चार भागों में विभक्त किया, जिसकी चर्चा हो चुकी है। फिर इन अलंकारों को उन्होंने नौ भागों में, जिसे वे 'अलंकार-कक्षा-विभाग' कहते हैं, विभक्त किया है।

१ : साधर्म्यमूल (भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान)
२ : अध्यवसायमूल
३ : विरोधमूल
४ : वाक्यन्यायमूल
५ : लोकन्यायमूल

---

१ : हिन्दी-साहित्य-कोष, पृष्ठ, ६८

६ : तर्कन्यायमूल
७ : शृंखलावैचित्र्यमूल
८ : अपह्नवमूल
९ : विशेषवैचित्र्य मूल।[1]

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशवदास ने 'कविप्रिया' के अलंकार-प्रकरण, देव ने 'काव्य रसायन' तथा भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय' के तीसरे उल्लास में ४४ अलंकारों के ११ वर्ग बनाये हैं, किन्तु इन सब के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक आधार नही दीखता।

हिन्दी के आधुनिक विचारकों में डॉ० नगेन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'रीतिकाव्य की भूमिका' में सारे अलंकारों का आधार अतिशय, वक्रता और चमत्कार—इन तीन तत्त्वों को स्वीकृत किया। उनके विचार से यदि इनका थोड़ा और विस्तार किया जाय, तो अलंकार के छह आधार होंगे। उन्ही के शब्दों में "अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल—इनके मूर्त्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास—जैसे अलंकार साधर्म्यमूलक हैं। अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर सार, उदात्त-जैसे अलंकार अतिशयमूलक, विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप-जैसे अलंकार वैषम्यमूलक, यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति-जैसे अलंकार औचित्यमूलक हैं। पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर सूक्ष्म, पिहित आदि अलकार वक्रतामूलक हैं, और श्लेष, यमक से लेकर मुद्रा और चित्र-जैसे अलंकार चमत्कारमूलक हैं। उपर्युक्त विभाजन में अतिशय, वक्रता और चमत्कार—ये तीन ऐसे आधार हैं, जो वास्तव मे अपने व्यापक रूप में समस्त अलंकारों के मूलवर्त्ती हैं—परन्तु यहाँ इनका प्रयोग सकीर्ण और विशिष्ट अर्थ में किया गया है। अतिशय का लम्बी-चौड़ी बात करने के अर्थ मे, वक्रता का बात को घुमा-फिरा कर करने के अर्थ में और चमत्कार का बुद्धि-कौतुक के अर्थ में।"[2]

डॉ० नगेन्द्र तथा श्री सुब्रह्मयम् शर्मा के वर्गीकरणों मे ही ईषत् परिवर्त्तन कर डॉ० ओमप्रकाश शर्मा ने अलंकारों को नये ढंग से वर्गीकृत करने का प्रयास किया। उनके विचार से मन का विस्तार मुख्यतः दो प्रकार से होता है-एक ऋजु और दूसरा अवरोधमूलक। मन के ऋजु विस्तार के कारण साधर्म्यमूलक, अतिशयमूलक, संगतिमूलक तथा नादसंगतिमूलक और अवरोधमूलक विस्तार के कारण विरोधमूलक एव गोपनमूलक अलंकारों की सृष्टि होती है। उनके विचार से अलकारों को छह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) साधर्म्यमूलक वर्ग—

१ : उपमा, २ : उपमेयोपमा, ३ : अनन्वय, ४ : प्रतीप, ५ : रूपक, ६ : परिणाम, ७ : स्मरण, ८ : भ्रान्तिमान्, ९ : सन्देह, १० : उल्लेख, ११ : अपह्नुति, १२ : उत्प्रेक्षा, १३ : तुल्ययोगिता, १४ : दीपक, १५ : प्रतिवस्तूपमा, १६ : दृष्टान्त, १७ : निदर्शना, १८ : व्यतिरेक, १९ : सहोक्ति, २० : विनोक्ति और २१ : अर्थान्तरन्यास।

१ : प्रतापरुद्रयशोभूषण
२ : रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ९५

(ख) अतिशयमूलक वर्ग—

१ : अत्युक्ति, २ : उदात्त, ३ : प्रौढोक्ति, ४ : अतिशयोक्ति और ५ : सार।

(ग) संगतिमूलक वर्ग—

१ : कारणमाला, २ : एकावली, ३ : यथासंख्य, ४ : पर्याय, ५ : परिवृत्ति, ६ : परिसंख्या, ७ : अर्थापत्ति, ८ : काव्यलिंग, ९ : अनुमान, १० : हेतु, ११ : प्रत्यनीक, १२ : मीलित, १३ : उन्मीलित, १४ : तद्गुण, १५ : अतद्गुण १६ : सामान्य, १७ : विशेषक, १८ : अन्योन्य, १९ : सम, २० : समुच्चय, २१ : समाधि, २२ : विकस्वर और २३ : स्वभावोक्ति।

(घ) नादसंगतिमूलक वर्ग —

१ : छेकानुप्रास, २ : श्रुत्यनुप्रास, ३ : वृत्त्यनुप्रास, ४ : अंत्यानुप्रास, ५ : लाटानुप्रास, ६ : यमकानुप्रास, ७ : वीप्सानुप्रास और ८ : चित्रानुप्रास।

(ङ) विरोधमूलक वर्ग—

१ : विरोध, २ : विभावना, ३ : विशेषोक्ति, ४ : असंगति, ५ : विषम, ६ : विचित्र, ७ : अधिक, ८ : अल्प, ९ : विशेष, १० : व्याघात, ११ : आक्षेप, १२ : विकल्प, १३ : असम्भव और १४ : विषादन।

(च) गोपनमूलक वर्ग—

१ : पर्यायोक्ति, २ : व्याजस्तुति, ३ : समासोक्ति, ४ : अप्रस्तुतप्रशंसा, ५ : प्रस्तुतांकुर, ६ : सूक्ष्म, ७ : पिहित, ८ : प्रश्न, ९ : उत्तर, १० : व्याजोक्ति, ११ : वक्रोक्ति, १२ : भाविक, १३ : परिकर, १४ : परिकरांकुर, १५ : मिथ्याध्यवसित, १६ : ललित, १७ : अनुज्ञा, १८ : लेश, १९ : विवृतोक्ति, २० : गूढोक्ति, २१ : युक्ति, २२ : छेकोक्ति २३ : निरुक्ति और २४ : श्लेष।[1]

—(२१ + ५ − २३ + ८ + १० + २४ = ९५ + केवल ९५ अलंकार)

राघवन महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ—'Some Concepts of Alankara Shastra' में अलंकारों को मुख्यतः तीन श्रेणियों मे विभाजित करना चाहा है। वे हैं— १ : साम्य, २ : विरोध तथा ३ : सान्निध्य। उन्ही के शब्दो में—

"Figures can be classified into three main classes-(i) those based on similarity, Upma and all other figures involing Upma; (ii) those based on difference, virodha; and those based on other mental activities like association, contiquity etc. In the third class can be brought all the figures other than those based on Aupamya and Virodha."[2]

१ : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, पृष्ठ ८३-८४

२ : Some Concepts of Alankar Shastra Raghvan, Page 66.

इस प्रकार अनेक विद्वानो ने अलंकारो के मूलभूत आधार का अन्वेषण कर उनके वर्गीकरण का प्रयास किया है, किन्तु सभी वर्गीकरणो से वाहर कुछ अलंकारो को रखना ही पडता है। विकसित अभिव्यंजन-कौशल को देखकर अभीतक अलंकारो का स्वरूप निर्धारित न हो सका, इसलिए उनकी संख्या का निर्धारण हो नही पाया। जबतक सारे अलंकारों के स्वरूप एवं संख्या का निर्धारण नही होता, तबतक निर्भ्रान्त रूप से सारे अलंकारो का वर्गीकरण सम्भव नही है। हमने अपने शोध-प्रबंध के अध्यायो का वर्गीकरण रुय्यक के आधार पर ही किया है। उनके वर्गीकरण से अवशिष्ट अलंकारो को एक पृथक् अध्याय में रख लिया गया है।



# २
# शब्दालंकार

शब्द और अर्थ ये दोनो काव्य के वाह्य शरीर का निर्माण करते हैं। इनका सम्वन्ध पार्वती और शिव के अर्धनारीश्वर संवंध-जैसा नित्य है—ऐसा कविकुलगुरु कालिदास ने उद्घोष किया है। शब्द और अर्थ—दोनो मे किसी का महत्त्व न्यून नही "को वड छोट कहत अपराधू।" दोनो का प्रतिस्पर्धी संयोजन सत्काव्य के लिए वरेण्य है। महाकवि माघ के शब्दो में विद्वान् सत्कवि की भाँति दोनो की अपेक्षा करते हैं—"शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।"

कुछ विद्वान् शब्दालंकार को हेय मानते हैं, पर ऐसा मेरी दृष्टि में उचित नही जॅचता। शब्दालंकार के द्वारा ही काव्य को आपातरमणीयता का वरदान मिलता है, श्रुतिपेशलता का अनर्घ उपहार मिलता है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का महोच्चार होते ही हम आकृष्ट हो जाते हैं, अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि करते हैं—उसके अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण है—उनके वर्णों की आयासशून्य छटा, सांगीतिक संगुफन। अर्थवोध की प्रक्रिया में प्रवेश के पूर्व शब्दालंकार 'मानस' को कर्णप्रिय वनाते हैं। इन शब्दालकारों मे केवल चित्रालंकार ही ऐसा है, जो मानसिक व्यायाम के सिवा और कुछ नही। शायद यही कारण है कि काव्यशास्त्रियों ने चित्रालंकार को अवर काव्य की संज्ञा प्रदान की है।

## १ : अनुप्रास—

वर्णसाम्य अनुप्रास है।[1] अनुप्रास का व्यौत्पत्तिक अर्थ है—वारम्वार प्रकृष्टतया वर्णों की आवृत्ति (अनु – वारम्वार + प्र = प्रकृष्टतया + आस = होना) यह आवृत्ति स्वरसाम्यमूलक तथा स्वरवैषम्यमूलक—दोनो प्रकार से हो सकती है। इतना ही नही, यह आवृत्ति चरण के आदि, मध्य तथा अंत कही भी हो सकती है। वैसे तो यमक को भी अनुप्रास के अंतर्गत समाविष्ट किया जाता है; क्योकि यमक में भी स्वर-व्यंजन-पौनरुक्त्य होता ही है, किन्तु साहित्य-दर्पणकार ने अनुप्रास को पंचधा ही माना है।[2] ये हैं—१ : छेकानुप्रास, २ : वृत्त्यनुप्रास, ३ : श्रुत्यनुप्रास, ४ : अन्त्यानु प्रास तथा ५ : लाटानुप्रास।

गोस्वामी जी अनुप्रास को वहुत आदर नहीं देते थे, उसका स्वल्प ही प्रयोग करते थे।[3]
इन पंचधा अनुप्रासों की सुषमा तो मानस के पग-पग पर देखते बनती है। इस
मिश्रवंधुओं तथा आचार्य चंद्रवली पाडेय के इस कथन से "अनुप्रास का विधान तुलसी ने अधिक
नहीं"[4] से विमत होकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में ही अपनी सहमति प्रकट करते हैं—

---

१ : वर्णसाम्यमनुप्रासः — काव्यप्रकाश, ९।७

२ : ऽनुप्रासः पंचधा ततः — साहित्यदर्पण, १०,७

३ : संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, मिश्रबंधु, पृष्ठ ७०-७१

४ : तुलसीदास, आचार्य चंद्रबली पांडेय, पृष्ठ २१८

"अनुप्रास के तो वे बादशाह थे। अनुप्रास किस ढंग से लाना चाहिए, उनसे यह सीखकर यदि बहुत से पिछले फुटकरिए कवियो ने अपने कवित्त-सवैये लिखे होते, तो उनमे वह भद्दापन और अर्थशून्यता न आने पाती।"[1] गोस्वामी जी ने अपनी अनुप्रास-योजना के द्वारा इस दुष्प्रवेश मानस-सर में प्रवेश करने के लिए ऐसा प्रलोभन दिया है कि उन्हे इसकी कठिनाइयो का भान ही नही रहता।

(क) छेकानुप्रास —

अनेक व्यंजनो की एक बार स्वरूपतः एवं क्रमत· आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते है।[2] यह अलकार जैसा नाम से ही सुस्पष्ट है कि छेकों-- विदग्धों को संभवतः अतिप्रिय था। गोस्वामी तुलसीदास की विदग्धता मे स्यात् ही किसी को संदेह हो। अतः, उनके रामचरित-मानस में इस छेकानुप्रास का पुष्कल प्रयोग देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ मानस की पहली चौपाई ही देखें--

बदौ गुर पद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा॥
१ १ १

'पद-पदुम' और 'सुरुचि सरस' के 'सर' 'सर' में द्विव्यंजन मात्र-पौनरुक्त्य से गुरु-पद में अतीव अनुराग बढ गया है। वर्णन में पूरी सरसता छलक पडी है। कुछ अन्य उदाहरण देखें--

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥
१.३.६

बिधि हरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
१.३.११

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से॥
१.४.३

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
१.४.५

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू॥
१.५.६

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती॥
१.५.६

(ख) वृत्त्यनुप्रास —

यदि एक व्यंजन की एक बार या अनेक बार, अनेक व्यंजनो की एक बार या अनेक बार स्वरूपतः, अथवा अनेक व्यंजनो की अनेक बार स्वरूपतः—क्रमतः आवृत्ति हो, तो वृत्त्यनुप्रास कहते हैं।[3]

इस तरह वृत्त्यनुप्रास पंचधा आवृत्ति में हो सकती है—

१ : एक व्यंजन की एक बार आवृत्ति
२ : एक व्यंजन की अनेक बार अवृत्ति
३ : अनेक व्यंजनो की एक बार स्वरूपत· आवृत्ति

---

१ : गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६३
२ : छेकोव्यञ्जनसङ्घस्य सकृत् साम्यमनेकधा, - साहित्यदर्पण - १०/३
३ : अलंकार-मुक्तावली, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ ६

४ : अनेक व्यंजनों की अनेक वार स्वरूपतः आवृत्ति और
५ : अनेक व्यंजनों की अनेक बार स्वरूपतः आवृत्ति।

इनके उदाहरणों से मानस भरा है। यहाँ कुछेक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

१ : एक व्यंजन की एक वार आवृत्ति—

भजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहिमिति मनहुँ जीति जगु ढाढ़ा॥

(प-प, व-व, म-म, ज-ज) १ २८३.६

दुख-सुख पाप-पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती॥

१.६ ५

२ : एक व्यंजन की अनेक वार आवृत्ति—

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥

१.२.१२

३ : अनेक व्यंजनो की एक वार स्वरूपतः आवृत्ति—

विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रविनंदिनी बरनी॥

१.२ ६

'र', 'व' की एक वार स्वरूपतः आवृत्ति है।

४ : अनेक व्यंजनो की अनेक वार स्वरूपतः आवृत्ति—

अति तरल तरुन प्रताप तरपहि तमकि गढ़ चढ़ि-चढ़ि गये।

(तर, तर, रत, तर)—अनेक व्यंजनो की अनेक वार आवृत्ति है।

—६.४० के वाद का छंद

५ : अनेक व्यंजनो की अनेक वार स्वरूपतः क्रमशः आवृत्ति—

पुनि बंदौ सारद सुर सरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥

१.१५.१

यह अनुप्रास वृत्तियो से संवद्ध है। वृत्तियाँ तीन प्रकार की मानी गई हैं।

१ : उपनागरिका—टवर्ग में केवल णकार, अन्य वर्गो के सभी वर्ण, सानुस्वार अक्षर, ह्रस्व वर्ण, ४ ये माधुर्यमूलक वर्ण हैं। शृंगार, करुणा और शान्त रस के वर्णन में इस वृत्ति का प्रयोग वांछनीय है। हृदय के द्रवीकरण के लिए यह अनुप्रास आवश्यक है।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा विस्व विजय कह कीन्हीं॥

१.२३०.१-२

इसमें अनुस्वार और नकार का इतनी वार प्रयोग शृंगार रस के वातावरण-निर्माण में कितना सक्षम हुआ है, इसका अनुमान तो कोई काव्यरसिक ही कर सकता है। सीता के पदस्थानीय, कर-स्थानीय एवं कटिस्थानीय आभूषणो से निःसृत ध्वनियां 'विस्व रूप रघुवंशमणि' को जीतने के लिए ही दुंदुभी-नाद करती हैं। यह तो अनुप्रास की मोहकता का परिणाम है कि कवि की उत्प्रेक्षा वास्तविकता में परिणत होती दीखती है।

## ९ : अलंकारशास्त्र को देन :

संस्कृत अलंकारशास्त्र के लगभग सहस्र वर्षों मे इतना सूक्ष्म विश्लेपण, विवेचन अन्वेषण हुआ कि उन अलंकारों से भिन्न किसी नवीन अलकार की कल्पना भी खतरे से खाली नही है। मानस मे गोस्वामी जी की एक से एक आकर्षक कथन-भंगिमा दिखलाई पड़ती है और कुछ स्थल ऐसे है कि जिन्हे देखकर अलकारशास्त्रो को पुनर्विचार करने की सामग्री मिल जाती है।

सागर मे सेतुबंध का समाचार सुनकर रावण के जिस कथन मे आचार्यप्रवर रामचंद्र शुक्ल ने "चकपकाहट" माना है, उसमे दस पर्यायवाची शब्दो के द्वारा जो अभिव्यक्ति की नवीन भंगिमा दीख पड़ती है, उसमें कोई न कोई अलंकार अवश्य मानना चाहिये, किन्तु अलकारशास्त्र इस हमारी कोई सहायता नही करता। दोहा देखें—

बाँध्यो वननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥

इसी तरह निम्नोद्धृत प्रकरण मे कोई नया अलंकार माना जा सकता है—

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लय लीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहि गुर आयसु अनुसरई॥

सोचिअ गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥

निम्नोक्त दो उदाहरणो को "सार" के अंतर्गत रखा जा सकता है, लेकिन ... लिए वर्ण-योजना मे पूर्णत: ये उदाहरण समायत्त नही हो पाते —

पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान ...

तात रामु नहि नर भूपाला। भुवने ... देवताओ का समाहार मिलता है।

इसी प्रकार निम्नोक्त उदाहरणो को परिसंख्या या ...

अवध तहाँ जहँ रामनिवासू। तहइँ ... स्थान मे उच्चरित होने वाले व्यजनों की ... है अनुप्रास वैसे वर्णो की आवृत्ति से सबद्ध

पुत्रवती जुवती जग सोई। ... उच्चारण-स्थान छह हैं—

सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित ...
दक्ष सकल लच्छनजुत ...

... त्यनुप्रास उच्यते।

—साहित्यदर्पण १०/५

निम्नोक्त उद्धरण को अत्युक्ति में समाविष्ट तो कर ले सकते है, किन्तु कथन मे जो चमत्कृति वैसी चमत्कृति अत्युक्ति में होती नही।

सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा॥

२.१५२.८

अधोलिखित अर्द्धालियाँ प्रतिषेध या वक्रोक्ति की सीमा मे आ जा सकती है फिर भी इनके लिए कोई नया नामकरण उत्तम होगा —

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥
पसु सुरधेनु कल्प तरु रूखा। अन्नदान अरु रस पीयूषा।
बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन।
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभु कि रघुपति भगति अकुंठा॥

६.२६.५-८

## तुलसी की अलंकार-सम्बन्धी मान्यता, उसका निर्वाह तथा निष्कर्ष :

गोस्वामी जी ने अपनी अत्यधिक विनम्रता प्रदर्शित करने के लिए जिस प्रकार अपने को ही माना है,[1] उसी प्रकार काव्यविवेक अर्थात् अक्षर, अर्थ, अलंकार तथा छंदादि से अपनी ना प्रकट की है :—

आरथ अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

१.९.१०-१२

प्रकार जब वे नाना अलंकृति अर्थात् शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार के को रहित मानते हैं, तो इसे भी उनकी प्रकृत सरलता ही माननी चाहिए और इसका
५ : किसी प्रकार की आपत्ति नही होनी चाहिए कि उन्हे नाना अलंकृति का पूर्ण

ी ने ... पने अलंकार-विषयक सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है।

यह अनुप्रास वृत्तियों से स... सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
१ : उपनागरिका–ट... भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
ह्रस्व वर्ण, ४ ये माधुर्यमूलक वर्ण १.१०.३-४

वांछनीय है। हृदय के द्रवीकरण के महत्त्वपूर्ण है, रामनाम महत्त्वपूर्ण है, अलंकरण नहीं।

कंकन किंकिनि नूपु... हैं कि चंद्रवदना नारी को लाख प्रकार से सजाइये-
मानहुँ मदन दुंदु... करती है, तब तक सुशोभित हो ही नहीं सकती। वर
...रनारी की बात जो कुछ भी हो। ठीक उसी तरह

इसमें अनुस्वार और नकार का ... अलंकारो मे लाद दीजिए, किन्तु वह तब तक सुशोभन
सक्षम हुआ है, इसका अनुमान तो कोई ... विषय न हो। जिस प्रकार निर्वस्त्रा नारी को देखने
स्थानीय एवं कटिस्थानीय आभूषणों से ... काव्य को देखना भी पाप है—ऐसा हम उप-
लिए ही दुदुभी-नाद करती हैं। यह तो अनुप्रास ... काव्य का मध्य मुख्य है, अलंकार नहीं।
वास्तविकता में परिणत होती दीखती है। ... १.८.८

२ : पुरुषावृत्ति—इस वृत्ति में ओजगुण प्रकाशक वर्णों, दीर्घ समासो तथा कठोर शब्दो की योजना होती है। ओज-प्रकाशक-वर्णों में वर्गों के प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ वर्णों से मिले संयुक्त वर्ण, ट, ठ, ड, ढ, रकार से मिले संयुक्ताक्षरो का प्रयोग होता है। रौद्र तथा भयानक के वर्णन में ऐसी वर्ण-योजना अनुकूल होती है। पुरुषावृत्तिमूलक वृत्त्यनुप्रास का एक उदाहरण लें -

धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारही।
झपटहिं चरण गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारही।
अति तरल तरुण प्रताप तपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढि गये।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ-तहँ रामजसु गायत भए।

—६.४० के बाद का छंद

उपर्युक्त उदाहरण में ट, ठ, रेफ का अनेक शब्द-प्रयोग, वानर और भालुओ के प्रचण्ड आघात की तीव्रता का बोध बडी सहजता से कराता है। यदि यहाँ पुरुषावृत्तिमूलक वृत्त्यनुप्रास नहीं होता, तो वीर रस की निष्पत्ति कतई संभव नही होती।

३ : कोमलावृत्ति—जिस कविता मे अन्तस्थ वर्ण, स, ट इत्यादि वर्ण तथा असमस्त पदों का प्रयोग होता है, वहाँ कोमलावृत्ति होती है इस वृत्ति का सम्बन्ध प्रसादगुण से है। शान्त, भक्ति आदि रसो के लिए समीचीन है। कोमलावृत्तिवृत्त्यनुप्रास का एक उदाहरण उद्धृत है--

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी।
लोचन अभिरामं तनु घनस्यामं निज आयुध भुजचारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी।

१.१९१ के बाद पहला छंद

इसमे ल, ह, न तथा र इन वर्णों की आवृत्ति रामजन्म के अनुकूल कोमल-मोहक वातावरण का निर्माण कर चित्तरंजन करती है। वक्रोक्तिकार कुतक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के लिए वर्ण-योजना को अनाग्रह, सुन्दर, वैचित्र्ययुक्त एव श्रुतिपेशल माना है।

नाति निर्बन्धविहिता नाप्यपेशलभूषिता
पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्तनोज्ज्वला।[1]

मानस के वर्णविन्यास में कुतककथित सारी विशेषताओं का समाहार मिलता है।

(ग) श्रुत्यनुप्रास—

तालु, कण्ठ, मूर्धा और दन्त आदि किसी एक स्थान मे उच्चरित होने वाले व्यजनों की (स्वरो की नही) समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं।[2] यह अनुप्रास वैसे वर्णो की आवृत्ति से संबद्ध है, जिनका उच्चारण स्थान एक है। मुख्यतः उच्चारण-स्थान छह है—

१ : वक्रोक्तिजीवितम् २/८

२ : उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।
साद्दश्यं व्यंजनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते।
—साहित्यदर्पण १०/५

१ : कंठ, २ : तालु, ३ : दंत, ४ : मूर्धा, ५ : ओष्ठ और ६ : नासिका। स्थान-भेद से वर्णों के निम्नलिखित भेद हैं—

१ : कंठ—जिन वर्णों का उच्चारण कंठ से होता है—अ, आ, कवर्ग, विसर्ग तथा ह।

२ : तालव्य—जिनका उच्चारण तालु से होता है—इ, ई, चवर्ग, विसर्ग तथा ह।

३ : दंत्य—जिनका उच्चारण दाँत से होता है—तवर्ग, ल और स।

४ : मूर्धन्य—जिनका उच्चारण मूर्धा से होता है—ऋ, टवर्ग, र, और ष।

५ : ओष्ठ्य—जिनका उच्चारण ओष्ठ से किया जाता है—उ, ऊ और पवर्ग।

६ : अनुनासिक—जिन वर्णों के उच्चारण में मुख के भाग, दाँत और ओठ आदि के अतिरिक्त नाक की भी सहायता ली जाय—ङ, , ण, न और म।

७ : कंठ-तालव्य - जिनका उच्चारण कण्ठ और तालु दोनो की सहायता से हो—ए और ऐ।

८ : कंठौष्ठ्य—जिनका उच्चारण कंठ और ओठ दोनों से हो—ओ और औ।

९ : दंतौष्ठ्य—जिसका उच्चारण दाँत और ओठ से हो—व[1]

चूँकि इस अनुप्रास में स्वरो की गणना नही है, अतः कंठतालव्य और कंठोष्ठ्य— इन दोनों को छोड़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कंठ्-तालव्य, तालव्य-दंत्य, दंत्य-मूर्धन्य इत्यादि द्वि-उच्चारण-स्थानीय वर्णों की आवृत्ति मे भी श्रुत्यनुप्रास होता है। इस तरह इनके अनेक भेद हो जाते हैं। कुछेक के उदाहरण निम्नोद्धृत हैं—

१ : कठ्य—

जहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करना करि कीन्ह न कोहू॥

१, ६३. ६

'ह' की चार वार तथा 'क' की तीन वार आवृत्ति। दोनो कंठ से उच्चरित वर्ण हैं। अतः, यहाँ कठ्यगत श्रुत्यनुप्रास है।

२ : दंत्य—

राम नाम नरकेसरी, कनक कसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुर साल॥

१.८७

३ : ओष्ठ्य—

सपनेहुं साचेहु मोहि पर जौ हर गौरि पसाउ।
तो फुर होइ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥

१.१५

यहाँ प, म—दोनों ओष्ठ्य वर्णों की आवृत्ति है।

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ १.२७ ४

यहाँ प और म की आवृत्ति है।

---

१ व्याकरण-भास्कर, प्रो० बचनदेव कुमार, पृष्ठ ५

यह अनुप्रास सहृदयों के कान के लिए बड़ा ही सुखप्रद होता है। अतः, कविराज विश्वनाथ इसे श्रुत्यनुप्रास कहते है।[1] गोस्वामी जी के काव्य सहृदय जनो के कानों को बहुत प्रिय है– इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि इसमें श्रुत्यनुप्रास कितना होगा।

(घ) अंत्यानुप्रास—पदांत अनुप्रास को अंत्यानुप्रास कहते हैं। यदि व्यंजन के साथ स्वर की आवृत्ति हो, तो वह अंत्यानुप्रास कहलाता है।[2] गोस्वामी तुलसीदास की कोई चौपाई ऐसी नही है, कोई ऐसा छन्द नही है, जिसमें अंत्यानुप्रास न हो। उदाहरणार्थ एक-दो अर्द्धालियाँ उद्धृत हैं—

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारिन थोरी॥
अद्भुत सलिल सुनत गुनकारी। आस पिआस मनोबल हारी॥
राम सुप्रेमहि पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी॥
भवश्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा।

—१. ४३. १-४

संस्कृत-साहित्य में इस अंत्यानुप्रास (तुक) का प्रायः अभाव देखा जाता है, किन्तु हिन्दी-कविता के लिए तो यह साधारण बात हो गयी थी। आज की अतुकांत नयी कविता मे पुनः अभाव देखा जाता है।

(ङ) लाटानुप्रास—तात्पर्यमात्र के भेद से शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति लाटानुप्रास है।[3] इस अनुप्रास के द्वारा कवि शब्द-अर्थ-पौनरुक्त्य से अपने कथन में विशेष चमत्कृति-उत्पादन करता है। रामचरितमानस में इसके अनेको उदाहरण है—

१ : हरषे हेतु हेरि हर ही को। किए भूषनु तिय भूषन ती को॥

१. १९.७

२ : हंस बंस दशरथु जनकु, राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भइ, विधि सन कछु न बसाइ॥

२. १६०

जननी-जननी की आवृत्ति में गोस्वामी जी का तात्पर्य स्पष्ट है। भरत की खीझ एवं आक्रोश का जितना सुन्दर निरूपण इस लाटानुप्रास के द्वारा हुआ है, वैसा शायद ही अन्यत्र मिले। कैकेयी के प्रति भरत का क्षोभ मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में भी व्यक्त किया है—

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
भून कर जो खा गयी पति-देह।

---

१ : एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः।
—साहित्यदर्पण, पृष्ठ २७६

२ : व्यंजनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्तय तेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्।
—साहित्यदर्पण, १०।६

३ : शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।
—साहित्यदर्पण १०/६ के बाद।

किन्तु, इन पंक्तियों में जुगुप्सा से क्षोभ का भाव दब जाता है। पर, तुलसीदास ने एक जननी को ही पुनः आवृत्त कर भरत के अनेक मनोभावों को गूँथ दिया है।

### अनुप्रास-दोष—

अनुप्रास के तीन दोष बतलाये गये हैं[1]। यथा—

१ : प्रसिद्धाभाव, २ : वैफल्य और ३ : वृत्ति-विरोध।

प्रसिद्धाभाव में केवल अनुप्रास-योजना के लिए अप्रामाणिक बातों का उल्लेख किया जाता है। वैफल्य वहाँ होता है जहाँ केवल शब्दाडम्बर प्रस्तुत किया जाता है, वर्ण या शब्द-योजना में कोई चमत्कार नहीं रहता। वृत्तिविरोध में उपनागरिकादि वृत्तियों के नियमविरुद्ध वर्ण-विलास होता है। प्रसिद्धाभाव, वैफल्य तथा वृत्तिविरोध के अनेक उदाहरण ग्वाल, पजनेश तथा केशवदास की रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

गोस्वामी जी के रामचरितमानस में श्रुतिप्रेय अनुप्रासों की सहज उच्छल छटा दिखलाई पड़ती है। 'नानापुराणनिगमागम' तथा 'क्वचिदन्यतोपि' पर अधिकार रखनेवाले एवं 'सहज कवित्त कीरति विमल' के उद्घोषक गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में कहीं भी अनुप्रास-दोष देखने को नहीं मिला। अनुप्रास के सम्राट् से ईषदपि स्खलन न होना ही स्वाभाविक है।

### २ : यमक

सार्थक होने पर भिन्न अर्थ वाले स्वर-व्यंजन-समुदाय की क्रमशः आवृत्ति को यमक कहते हैं।[2] यमक भी वस्तुतः एक प्रकार का अनुप्रास ही है। छेक-वृत्त्यनुप्रास में जहाँ केवल व्यंजन-पौनरुक्त्य होता है, वहाँ यमक में स्वर-व्यंजन-पौनरुक्त्य।

संस्कृत-साहित्य में आलंकारिकों ने छंद के आदि, मध्य तथा अंत को ध्यान में रख कर यमक के अनेकानेक भेद किये हैं—जैसे आदि यमक, मध्य यमक। इसके अतिरिक्त प्रथम चरण की आवृत्ति कहीं दूसरे चरण में, कहीं तीसरे चरण में, कहीं चौथे चरण में, दूसरे चरण की आवृत्ति तीसरे चरण में, कहीं चौथे चरण में इस तरह की आवृत्ति को ध्यान में रखकर यमक के मुख, संदेश, आवृत्ति, गर्भ, संदष्टक, पुच्छ, पंक्ति, परिवृत्ति, युग्मक, समुद्गमक तथा महायमक—ग्यारह भेद किये हैं। हिंदी के आचार्य केशवदास ने 'कविप्रिया' के एक अध्याय में यमक के भेदोपभेद की चर्चा की है। यमक के सुखकर एवं दुःखकर-जैसे भेद मौलिकता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के सिवा और कुछ नहीं है। संस्कृत में ऐसे अनेक काव्य हैं, जिनमें यमक का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। हिंदी में भी 'यमक-सतसई'-जैसी पुस्तक अनेकार्थ शब्दों के ज्ञान-दिग्दर्शन के लिए लिखी गयी है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ऐसी कलाबाजी से कोसों दूर भागते हैं। फिर भी इनके 'मानस' में यमक के अनेक सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। मिश्रबंधुओं के इस कथन "इन्होंने यमक का बहुत कम प्रयोग किया है।"[3] तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस वाक्य "इसी

---

१ : अलंकार-मंजूषा, पृष्ठ २३९

२ : सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते। —साहित्यदर्पण, १०, ८

३ : संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, मिश्रबन्धु, पृष्ठ ७१

प्रकार यमक का व्यवहार भी कम ही मिलता है।"[1] से तो ऐसा लगता है कि तुलसी-साहित्य में ही यमक नही के बराबर है। अन्य ग्यारह ग्रंथो को छोड़ भी दें, तो भी रामचरितमानस में ही इसके पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं।

यमक के मुख्यतः तीन भेद किये जा सकते है—

१ : जिसमें दोनों सार्थक शब्द हो,

२ : जिसमें एक शब्द सार्थक तथा एक निरर्थक हो और

३ : जिसमें दोनो शब्द निरर्थक हो।

सार्थक शब्दों की आवृत्ति वाले यमक का एक-से-एक सुन्दर उदाहरण मानस में मिलता है। कुछ उदाहरण निम्नोद्धृत है—

१ : हरन मोह तम दिन कर कर से। सेवक सालि पाल जलधर से॥
१ ३२ १०

२ : अस मानस मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही॥
१. ३९ ९

३ : भंजेउ राम आपु भव चापू। भव-भय भजन नाम प्रतापू॥
१ २४ ६

४ : भव भव विभव पराभव करिनि। बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहरिनि॥
१ २३५. ८

५ : बररै बालकु एकु सुभाऊ। इन्हहि न संत विदूषहिँ काऊ॥
१. २७९ ३

६ : भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू॥
३ ४२ १

७ : मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी॥
१, २१५ ८

८ : बार-बार मुनि विप्रवर, कहा राम सन राम।
१. २८२

२ : एक सार्थक शब्द तथा दूसरा निरर्थक—

१ : बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज संघाती॥
१, २० ४

२ : बलु प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई॥ १ २६६.७

३ : नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥ २.१ ६.७

४ : परम रम्य आरामु यह, जो रामहि सुख देत। १.२२७

बरन सार्थक तथा बरन निरर्थक बरनत का खंड,
नाक सार्थक तथा नाक निरर्थक जो पिनाक का खंड,
साथ सार्थक तथा साथ निरर्थक जो साथ ही का खंड है—

के योग से सार्थक शब्दो एवं निरर्थक स्वर-व्यंजन-समुदाय की आवृत्ति से यमक है।

---

१. गोस्वामी तुसलीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६४

३ : दोनों निरर्थक—

१ : सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥ १ ३.६
२ : राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिअहि प्राण॥ २.६६
३ : सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥ २.१३१.६

प्रथम के रस में जो पारस परस के खंड हैं,
द्वितीय के अव में अवध और अवधि के खड हैं तथा
तृतीय के तक में पातक और पोतक के खंड हैं—
निरर्थक स्वर-व्यंजन समुदाय की आवृत्ति में यमक है।

यमक के इन उदाहरणो के अतिरिक्त 'रामचरितमानस' में यमकाभास के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यमकाभास में भिन्नार्थक स्वर-व्यंजन समुदाय नही, वरन् भिन्नार्थक व्यजन-समुदाय की आवृत्ति दीख पडती है।

क : नव अंबुज अंबक छवि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥ १.१४६ ३
ख : सुरसरि धार नाउँ मदाकिनि। जो सब पातक-पोतक डाकिनि॥ २ १३१ ६
ग : विमल विवेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥ २ २९६.८
घ : अब गोसाईं मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥ २ ३१२.८
ङ : अस विचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि की नाई॥ २.३१४ ६
च : बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु-तृन इव परिहरेउ। २ १.१६
छ : प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा। करेहु कृपा जन जानि मुनीसा॥ १.१८.६

वक्रोक्तिकार ने वर्ण-विन्यास-वक्रता विशेपतः, यमकादि की वर्ण-योजना में प्रसादगुण आवश्यक माना है। कहना न होगा कि मानस में चाहे यमक का प्रयोग हो या यमकाभास का, कहीं भी मगजमार शब्दों की आवृत्ति नही है।

यमक-दोष—

यमक अलंकार के नियमानुसार यमक किसी छंद के एक चरण, दो चरणों अथवा चारों चरणों में होना चाहिये। इसके विरुद्ध यदि तीन चरणों में यमक हो, तो 'अप्रयुक्त'-दोप माना जाता है। उदाहरण के लिए विहारी का यह प्रसिद्ध दोहा उपस्थित किया जा सकता है—

तोपर वारौं उरबसी, सुनु राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥

यहाँ 'उरबसी' शब्द का यमक केवल तीन चरणों में है। अतः, यहाँ 'अप्रयुक्त-दोप' है।'

मानस से इतने यमक और यमकाभास के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु ऐसा अपवाद भी नहीं मिलता, जिसे हम यमक-दोप के अंतर्गत रख सकते हैं। गोस्वामी जी की अनतर्क-सतर्कता सचमुच स्तुत्य है।

३ : श्लेष :

श्लिष्ट शब्दों के द्वारा अनेकार्थ-ज्ञापन श्लेप अलकार कहा जाता है।[२] इस अलंकार के लिए एकार्थवाची शब्द विवक्षित नहीं होते, वरन् अनेकार्थ कामधेनु-शब्दों से सहायता ली

१ : अलंकार-मंजूषा, पृष्ठ २४०
२ : श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते, साहित्यदर्पण, १०।११

जाती है। महाकवि बाणभट्ट के शब्दो में अक्लिष्ट श्लेष ही सुरचना के लिए काम्य है। वस्तुतः अक्लिष्ट श्लेष कविता मे चार चाँद लगाते हैं, कभी भी भारस्वरूप प्रतीत नही होते। दण्डी तो श्लेष को सभी वक्रोक्तियों अर्थात् अलंकारो का सौदर्य-प्रदाता मानते हैं।[२] अभिनवगुप्त का भी कथन है कि श्लेष उपमा-गर्भ अलंकारो को सहायता देता है। यदि इसका प्रयोग नियंत्रित हो, तो वर्णन मोहक एवं प्रभावक हो जाता है।

संस्कृत-साहित्य में अक्लिष्ट श्लेष का प्रयोग करने वाले कवि कम है। अधिकतर क्लिष्ट श्लेष का प्रयोग करते है। कवियो ने अपने शब्द-कोष-ज्ञान का सिक्का जमाने के लिए विकट श्लेष-बंध का प्रयोग किया। वेदान्त देशिक की 'सुभाषित वाणी' में कोई ऐसा श्लोक नही है, जिसमें श्लेष न हो। इसके अतिरिक्त संस्कृत में 'अनेकसंधान काव्य' अर्थात् द्वयर्थक-त्र्यर्थक काव्य लिखने की परंपरा ही चल गयी। अठारह-अठारह सर्ग के महाकाव्य लिखे गये, जिनके प्रत्येक पद्य में श्लेष हैं—एक ही साथ दो दो, तीन-तीन चरितनायकों की कथाएँ चलती हैं। ऐसे काव्यों में कविराज-कृत 'राघवपांडवीयम्', विद्यामाधव-कृत 'पार्वती-रुक्मिणीयम्', वेदान्तदेशिक-कृत 'यादवराघवीयम्', सोमेश्वर-कृत 'राघवयादवीयम्' तथा चिदम्बर-कृत 'राघव-यादव-पाडवीयम्'–जैसी कृतियाँ उल्लेख्य हैं। इन कृतियो में बौद्धिक-विलास तो मिलता है, काव्य की सहज-स्रावित माधुरी नही मिलती।

गोस्वामी तुलसीदास का तो काव्य-सिद्धान्त है—"सहज कवित्त कीरति विमल सोहि आदरहिं सुजान।" काव्य जबतक स्फटिक-स्वच्छ न हो, तब तक सहज वैर-विस्मरण कर विरोधी भी उसका आदर कैसे कर सकेंगे? इसलिए वे सुबन्धु की तरह अपनी रचना को—

"प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपचविन्यासवैदग्धनिधि प्रबन्ध"[४]

के कदापि पक्षपाती हो नही सकते। वे श्लेष का प्रयोग गूढ गिरा, व्यंग्य और काकु के निमित्त करते हैं; कुछ चमत्कार और पांडित्य के हेतु नही।[५] मानस मे अक्लिष्ट श्लेष के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनकी रचनाओ में श्लेष, परिसंख्या-जैसे कृत्रिमता लाने वाले अलकारो का भी व्यवहार नही मिलता।[६] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन बहुत छानबीन के पश्चात् लिखा गया नही प्रतीत होता। ऐसे ही सुन्दर श्लेष-प्रयोग के एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य है—

क: सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी॥
१.८५.८

ख: करहिं कूटि नारदहि सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई॥
रीझिहि राजकुँअरि छवि देखी। इन्हहिं बरिहि हरिजानि बिसेषी॥
१ १३४ ३-४

ग: पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥
१ २२८ ६

---

१: श्लेषोऽक्लिष्टः हर्षचरितम्, प्रथम उच्छ्वास, ८वाँ श्लोक
२: श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिश्रियम्, दण्डी, काव्यादर्श
३: ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, पृष्ठ १११
४: प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्धनिधिप्रबन्धम्
सरस्वतीदत्तवरप्रसादः चक्रे सुबन्धु सुजनैकबन्धु· —वासवदत्ता
५: तुलसीदास, आचार्य चन्द्रबली पांडेय, पृष्ठ २६७
६: गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६४

घ : अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानि ॥

१ २५८.२

प्रथम उद्धरण में वियोगी के 'स्त्रीरहित' तथा 'योगरहित' दो अर्थ हैं। मदन-अभिलाषा से आकुल सिद्ध विकल महामुनि योगभ्रष्ट हुए अथवा संसारी प्रेमी पुरुषों की तरह स्त्री के विना दुःखित हुए। दूसरे में हरि के दो अर्थ है—विष्णु और वंदर। इन दोनों अर्थों में हास्य-व्यंग्यमिश्रित नारद की दयनीयता का वड़ा ही प्रांजल अभिव्यंजन हुआ है। तीसरे उद्धरण में 'वर' के दो अर्थ हैं—वरदान तथा वर (पति)। इस 'वर' के व्याज से, गुप्त रूप से सीता द्वारा सुभग वर का वरदान माँगने में कैसी मर्यादा-रक्षा है, इसे कोई भारतीय संस्कृत्यनुरागी व्यक्ति ही समझ सकता है। चतुर्थ उद्धरण में 'तात' शब्द के दो अर्थ हैं—'पिता' तथा 'तप्त'। जनक का प्रण कितना दारुण एवं तप्तकर है—इस कथन के द्वारा राम के प्रति सीता के अतिशय प्रेम की वड़ी ही सशक्त व्यंजना हुई है। इस प्रकार मानस में अभंग श्लेष के अनेक उदाहरण मिलते है। ऐसी पंक्तियों में गोस्वामी जी की कला का निखार देखते ही वनता है।

अभंग—

१ : रावण सिर सरोज वन चारी। चलि रघुवीर सिलीमुखधारी ॥
(वाण, भ्रमर) ६.९३.७

२ : साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस विसद गुणमय फल जासू ॥
(गुण, डोरी) १.१.५

३ : भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना ॥
(सुन्दर रामचरितमानस, सुंदर मानसरोवर) १.३६.६

४ : द्विज द्रोही न वचहिं मुनिराई। जिमि पंकजवन हिमऋतु आई ॥
(चन्द्र, ब्राह्मण)

५ : नारद वचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सव गुन निधि वृषकेतू ॥
(धर्म, वृषभ) १.७१.३

६ : जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोमल वयनी ॥
(सुमुखी-सखी, सुनयनी-सुनयना) १.२८५.२

७ : भैया कहहु कुसल दोउ वीरे। तुम नीके निज नयन निहारे ॥
(अच्छी तरह, सकुशल) ३.८.१

८ : कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला। संकर मानस राज मराला ॥
(मन, मानसरोवर) ३.८.१

९ : जेहिं वारीस वंधायउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुवेला ॥
(अच्छी वेला, सुवेल पर्वत) ६.९.५

शास्त्रज्ञों में केशकर्षण की प्रवृत्ति बहुत अधिक दिखाई पड़ती है। श्लेष के अनेकधा विभाजन की चेष्टा की गयी है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में श्लेष के आठ भेद किए हैं—वर्णश्लेष, प्रत्ययश्लेष, लिंगश्लेष, प्रकृतिश्लेष, पदश्लेष, विभक्तिश्लेष, वचनश्लेष तथा भाषाश्लेष।[1]

केशवदास ने इसके सात भेद किए हैं—

---

१ : वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः।—साहित्यदर्पण, १०।११

१: भिन्नपद, २: अभिन्नपद, ३: उपमाश्लेष, ४: अभिन्न क्रिया, ५: विरुद्ध क्रिया, ६: विरुद्ध कर्म, तथा ७: नियम-विरोधी।

किन्तु, श्लेष के भेद उलझनो में डालनेवाले है। वस्तुतः आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के शब्दो में यह अलंकार हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नही है।[1] अतः, विश्वनाथ-केशव-कृत अनेक भेदो को उदाहृत न करके श्लेष के केवल दो भेद की चर्चा करेंगे। यथा—

१ : अभंग श्लेष—जहाँ शब्दो को तोडे विना दो या दो से अधिक अर्थ निकलते है।

२ : सभंग श्लेष—जहाँ शब्दो को तोडकर दो या दो से अधिक अर्थ निकलते हैं।

काव्य मे अभगश्लेष जितना सौंदर्य उत्पन्न करते है—उतना सभंग श्लेष नही। यदि अभंग श्लेष फलगुच्छ-न्याय पर आश्रित है, तो सभंग श्लेष जातुकाष्ठन्याय पर। अभंग श्लेष मे अनेक अर्थ गुच्छे के सुन्दर फलों की तरह सुगमता से अलग किये जा सकते हैं। किन्तु, सभंग श्लेष में काठ से चिपकी लाह की तरह सुगमता से नही पृथक् किये जा सकते हैं। हमने 'मानस' से अभंग श्लेष के चार उदाहरणों की विवेचना की है। नीचे सभग श्लेष के कुछ उदाहरण दिये जाते है—

**कः बहुरि सक्र सम विनवौ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥**

१. ४. १०

**सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित।** १. १४

**खः भूषण वनमाला नयन विसाला, सोभा सिंधु खरारी।**

१. १९१ के बाद का छन्द

**गः देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत वचनु न आवा॥**

१. २३०. ५

पहले उद्धरण में सुरानीक के दोनो अर्थ तोडकर ही निकाले गये हैं; पहला अर्थ है—सुर+अनीक-देवता की सेना तथा दूसरा अर्थ है सुरा+नीक—सुरा अच्छी। दूसरे उद्धरण में सखर का एक अर्थ कठोर तथा दूसरा अर्थ खरदूषण के साथ (स+खर) किया गया है। तीसरे उद्धरण में खरारी के दो अर्थ है—एक खरअरि-खरदूषण के शत्रु तथा दूसरा अर्थ खल+अरि-दुष्टो के शत्रु। दूसरे अर्थ के लिए 'रलयोरभेदात्' व्याकरण सूत्र का सहारा लिया गया है। चतुर्थ उद्धरण में सराहत का अर्थ है सराहना अथवा प्रशंसा करना तथा दूसरा अर्थ है सर+आहत—वाण से आहत। सीता की शोभा को देखकर राम को अत्यन्त सुख हो रहा है, किन्तु उनके मुख से कोई वचन नही निकलता। सभंग श्लेष स्पष्टीकरण करता है; क्योकि सीता के रूप-शर से राम का हृदय विद्ध हो गया है, अतः वचन नही निकल पाता है। इस सभंग श्लेष में द्रविड-प्राणायाम करना नही है, अल्पायास से जब नारिकेल-त्वक्-भेदन हो गया है, तो फिर रस-ही-रस है। मानस में ऐसे अनेक सभंग श्लेष के उदाहरण है, जहाँ ऐसा ही चमत्कृति-पुष्ट आनन्द मिलता है। सभंग श्लेष के उदाहरण—

**१ : बंदेउ चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस**
**जिन्हहिंन सपनेहुं खेद बरनत रघुवर बिसद जस।**
**(बर+नत)** १. १४ उ०

---

१ : अलंकार-मुक्तावली, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ १७

२ : लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषन वनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी॥
भुज+प्रास, भुज+चार — १. १९१ के बाद का छन्द
खल+अरि, खर+अरि

३ : हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि सुलोचनि बृंद।
(फूल, सु+मन—सुन्दर मन) — १. २२३

### ४ : वक्रोक्ति :

जहाँ किसी के अन्यार्थक वाक्य का कोई दूसरा पुरुष श्लेष या काकु (कंठ-विकार) से दूसरा अर्थ करे, तो वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है।[१]

वक्रोक्ति का प्रयोग काव्यशास्त्र मे विस्तृत और संकुचित—दोनो अर्थों म होता रहता है। अपने व्यापक अर्थ में वक्रोक्ति का अर्थ है—शब्द और अर्थ की वक्रता अर्थात् चमत्कारिता। भामह के विचार से वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति पर्यायवाची है।[२] किन्तु, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को भिन्न मानते है।[३] अतिशयोक्ति का अर्थ है-लोकातिक्रान्त-गोचरता। यह काव्य में असाधारणता लाती है और वक्रोक्ति काव्य में रमणीयता लाती है। भामह सभी अलंकारों के मूल मे वक्रोक्ति मानते हैं। वक्रोक्ति के विना कोई अलकार संभव ही नहीं—"कोऽलङ्कारो ऽनयाविना"। जहाँ वक्रता नही, वहाँ अलंकार कैसे हो सकता है? इसलिए उन्होने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश[४] जैसे वक्रता-विरहित अलंकारो को अर्द्धचन्द्र देकर अलंकार-प्रदेश से वाहर कर दिया।

दण्डी ने काव्य के दो भेद किए—१: स्वभावोक्ति और २: वक्रोक्ति।[५] पीछे भोज-राज ने काव्य के तीन भेद किए—१: स्वभावोक्ति, २: रसोक्ति, ३: वक्रोक्ति।[६] उनके विचार से वक्रोक्ति काव्य में उपमादि अलंकारो का प्राधान्य रहता है। इतना ही नही, काव्यशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित—प्राण ही स्वीकार किया। वक्रोक्ति के विना तो काव्य शव-तुल्य है। कुंतक वक्रोक्ति को काव्यकौशल अथवा काव्य-सौंदर्य का पर्याय मानते हैं। उन्होंने वक्रोक्ति के छह भेद किये है—

१: वर्ण-विन्यास-वक्रता, २: पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता, ३: पद-परार्द्ध-वक्रता, ४: वाक्य-वक्रता, ५: प्रकरण-वक्रता और ६: प्रवन्ध-वक्रता।

तुलसी-साहित्य में इन छहो वक्रताओं का जैसा विनियोग हुआ है, अन्यत्र भी दिखलाया गया है।[७]

---

१ : अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योनयेद्यदि
अन्यः श्लेषेण काक्वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा। —साहित्यदर्पण, १०।९

२ : वक्रोक्तिजीवितम्, संपादक, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ३

३ : भामह-विरचित काव्यालंकार, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ ४१

४ : काव्यालंकार, २/८६

५ : भिन्नद्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। काव्यादर्श २/३६३

६ . वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते। —सरस्वती कंठाभरण, ५/८

७ : साहित्य-सम्राट् तुलसीदास, गंगाधर मिश्र, पृष्ठ २१०

हम इस प्रसंग में 'वक्रोक्ति' की विवेचना बिलकुल सीमित अर्थ में—महज एक अर्थालंकार के रूप में कर रहे हैं। वक्रोक्ति के प्रमुख दो भेद है—१ : काकु वक्रोक्ति २ : श्लेष वक्रोक्ति। काकु वक्रोक्ति में कंठ-विकार के कारण वक्ता के कथित अर्थ के विपरीत श्रोता बिलकुल दूसरा अर्थ लगा लेता है। वार्तालापो या सम्भाषणो को गोस्वामी जी ने जिस कौशल से आकर्षक-मोहक एवं चमत्कारक बनाया है, उसमें इस काकु वक्रोक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। मानस में काकु वक्रोक्ति के अनगिनत प्रसंग आये हैं। वनगमन के लिए सीता का राम को विवश करने तथा भरत-कैकेई वार्ता में भरत का माता के प्रति आक्रोश एवं क्षोभ, राम के वन-गमन पर उनकी आकुलता-व्याकुलता और राम के प्रति अगाध अहेतुकी भक्ति की अभिव्यक्ति में काकु वक्रोक्ति की चमत्कृति देखी जा सकती है। रावण की वीर-वेष्टित राजसभा में अंगद का अपनी सटीक उक्तियो के द्वारा पग-पग पर निरुत्तर, हतदर्प एव पराजित करने में काकु वक्रोक्ति ने ऐसा जादू किया है कि ऐसे वर्णनों को पढ़कर पाठक गोस्वामी तुलसीदास की कला का सहज ही अक्रीत दास वन बैठता है।

राम का कथन है—

**मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन-पयोधि मराली॥**
**नव रसाल-बन-बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥**

२.६३.६-७

सीता का उत्तर है—

**मै सुकुमारि नाथु बन जोगू। तुम्हहिं उचित तपु मो कहुँ भोगू॥**

२.६७.८

इस उत्तर-प्रत्युत्तर में, स्वीकार-नकार में जो पावन प्रीति उमडती है, उसके ज्वार में तो प्रस्तरशील पाठक भी वह जाते हैं। सीता के इस स्वाभाविक उत्तर में राम के सारे तर्क एवं प्रवोध कपूर की तरह उड गये हैं।

दूसरा उदाहरण देखें—

**लखन राम सिय कहुँ बनु कीन्हा। पैठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा॥**
**मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कइकईं सब कर काजू॥**

२ १७९ ३,५

इन दो अर्द्धालियो में 'हित', 'सुख', 'सुजस', 'सुराजू' तथा 'काजू' इन पाँचो शब्दो के क्रमशः अहित, दुःख, अपयश, कुराज्य एव अकाज अर्थ निकलते है। इस व्यंग्य-कथन में भरत की पीडा का सचमुच वडा ही मार्मिक अभिव्यंजन हुआ है।

रावण-अंगद सवाद की एक-दो आकर्षक अर्द्धालियाँ देखें—

**कह अंगद सलज्ज जग माही। रावन तोहि समान कोउ नाहीं॥**

६.२९.५

**कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परतिय चोरी॥**

६.२२.५

**देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहू धर्मब्रत भारी॥**
**कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी॥**
**धर्मसीलता तब जग जागी। पावा दरस महूँ बड़भागी॥**

६.२२.५-८

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥

६.२१.८

एक ओर कपीश के इस वक्रोक्ति-शर से अरीश रावण का हृदय जलने लगता है, तो दूसरी ओर गोस्वामी तुलसीदास की कला की वासंती बयार में पाठक का मन-मुकुल खिल उठता है।

इस तरह के अन्य सुंदर उदाहरण लक्ष्मण-परशुराम संवाद, कैकेयी-मंथरा संवाद, कैकेयी-दशरथ संवाद आदि में देखे जा सकते है। वस्तुतः काकु वक्रोक्ति का जैसा आकर्णक प्रयोग रामचरितमानस में हुआ है, वैसा शायद ही हिन्दी के किसी महाकाव्य में हुआ है।

श्लेष वक्रोक्ति के दो भेद हैं—अभंग श्लेप वक्रोक्ति तथा सभंग श्लेप वक्रोक्ति। श्लेप के द्वारा वक्रोक्ति लाने में कवि को आयास करना पड़ता है। गोस्वामी जी का अलंकार सायास नही है—अतः उनके इस महाकाव्य में बड़ी कठिनता से दो-एक उदाहरण मिलते हैं। अभंग श्लेष-मूलक वक्रोक्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है—

करहिं कूटि नारदहि सुनाई। नीकि दीन्ह हरि सुंदरताई॥[१]

१.१३४.३

दिन दस गएँ बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई॥

६.२१.६

'नीकि दीन्ह हरि सुंदरताई' तथा 'बालि पहिं जाई' के अभंग श्लेप के द्वारा जो वक्रोक्ति प्रस्तुत है, उससे तो हमारे अंतस्तल में विनोद-मिश्रित आनन्द की कई हल्की-हल्की लहरें दौड़ जाती हैं।

## ५ : पुनरुक्तवदाभास—

भिन्न आकार वाले शब्दों के अर्थ में जहाँ आपाततः पुनरुक्ति मालूम पड़े, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है।[१] इस अलंकार में भिन्न शब्दो से एक ही अर्थ मालूम पड़ता है, किन्तु विचार करने पर दोनों के दो अर्थ हो जाते हैं। इन भिन्न शब्दो में कहीं एक शब्द परिवृत्तिसह, एक परिवृत्त्यसह हो सकते हैं, कहीं दोनो परिवृत्तिसह और कहो दोनों परिवृत्त्यसह हो सकते हैं। मानस में पुनरुक्तवदाभास का अधिक प्रयोग इसलिए नही है कि गोस्वामीजी की प्रवृत्ति चौंकानेवाली नही है, फिर भी इस सागर में इसके भी उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

एक परिवृत्तिसह और एक परिवृत्त्यसह शब्दवाले पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण देखें—

बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥[२]

१.२५८.५

'बिधि' 'भाँति' दोनों शब्दों का अर्थ एक ही आभासित होता है। विचारने पर बिधि का अर्थ ईश्वर है। विधि को हम चाहकर भी बदल नही सकते। विधि के बदले हरि, ईश्वर, भगवन आदि देने से अलंकारगत सौंदर्य विनष्ट हो जायगा। 'भाँति' के लिए 'प्रकार' आदि शब्द दिये जा सकते हैं।

---

१ : आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकार शब्दगः॥
—साहित्यदर्पण, १०।२

२ : अन्य उदाहरण २.१६६.६

दोनो परिवृत्तिसह के उदाहरण—

पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहि बहुरि पठाई ॥

१.१७.१७

दोनो परिवृत्त्यसह के उदाहरण—

बंदौउँ मुनि पद कंज रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मँजु दोष रहित दूषन सहित ॥

१.१४ के पहले का सोरठा

## ६ : वीप्सा

हर्ष, आदर, आश्चर्य, घृणा आदि मनोवेगो को प्रकट करने के लिए जहाँ एक शब्द की अनेकशः आवृत्ति हो, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।[1]

यह अलंकार आचार्य भिखारीदास का अलंकारशास्त्र को अभिनव अवदान है। यद्यपि परिभाषा मे 'वहुवार' कहा गया है, किन्तु 'वीप्सायाम् द्विसक्तिः' के आधार पर वीप्सागत आवृत्ति प्रायः अनेक वार न होकर दो वार ही देखी जाती है। किन्तु, यह मानना उचित नही कि वीप्सा में दो से अधिक वार आवृत्ति हो ही नही सकती। रामचरितमानस में ही वीप्सा के दो से अधिक आवृत्ति वाले अनेक उदाहरण उपलब्ध होगे।

चले पढ़त गावत गुन गाथा। जय जय जय दिनकर कुल नाथा ॥

१.३३१.७

राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह, राउ गयेउ सुरधाम ॥

२.१५४

वीप्सा के मुख्यतः चार भेद किये जा सकते हैं[2]—

१ : सज्ञात्मक—जिसमें संज्ञाओ की आवृत्ति हो।

२ : क्रियात्मक—जिसमें क्रियाओ की आवृत्ति हो।

३ : अव्ययात्मक—जिसमें अव्ययों की आवृत्ति हो।

४ : विशेषण गत—जिसमें विशेषणो की आवृत्ति हो।

रामचरितमानस मे चतुर्धा वीप्सा के उदाहरण पर्याप्त मिलते है।

१ : सज्ञात्मक वीप्सा का उदाहरण—

१ : राम राम रटि सकल भुआलू।

२.३७.१

२ : क्रियात्मक वीप्सा के उदाहरण—

क : पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परेउ लकुट की नाईं ॥

ख : पुनि आयउ प्रभु पहिं बलबाना। जयति जयति जय कृपानिधाना ॥

६ ६६ ८

---

१ : एक शब्द वहुवार जहँ, हरपादिक ते होइ।
ता कहँ वीप्सा कहत है, कवि कोविद सब कोइ ॥ —काव्य-निर्णय, पृष्ठ २०१

२ : अलंकार-पीयूष, डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ २१९

ग : आइ गए बगमेल धरहु धरहु धावत सुभट।

३.१८

घ : जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धर धरु धरु भयंकर गिरा।

३.२०.१७

३ : अव्ययात्मक वीप्सा के उदाहरण—

क : बार-बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक बचनि।

२.५

ख : खरदूषण पहिं गै बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥

३.१८.२

४ : विशेषण गत वीप्सा के उदाहरण—

धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरसहिं फूला॥

२ १९४ २

मनोवेगों के आधार पर वीप्सा का यदि विभाजन किया जाय, तो इसके अनेकानेक भेद हो सकते है। मानस में आदरार्थ, आश्चर्यार्थ, पश्चातापार्थ, भयार्थ और भक्त्यर्थ वीप्सा का अत्यंत चित्ताकर्षक प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ—

तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल व्याकुल भारी॥

२.१५६ ४

आतुर समय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥

३ २.११

७ : पुनरुक्तिप्रकाश—

वर्णन में रुचिरता लाने के लिए जहाँ पर एक शब्द की आवृत्ति अनेक बार हो, वहाँ पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार होता है।[1] पुनरुक्तिप्रकाश और वीप्सा के क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण हैं, कभी-कभी इसका निर्णयन बड़ा कठिन है कि कहाँ पुनरुक्तिप्रकाश है और कहाँ वीप्सा है। वीप्सा और पुनरुक्तिप्रकाश का अंतर बतलाते हुए डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है—(पुनरुक्तिप्रकाश) एक शब्द की आवृत्ति बहुत या अनेक बार होती है, किन्तु वीप्सा में प्रायः ऐसा नहीं होता, उसमें आवृत्ति दो ही होती है। यही दोनों में भेद है। साथ ही पुनरुक्तिप्रकाश में भाव को जोर या बल देने के लिए तथा रुचिरता लाने के लिए आवृत्ति अनेक बार की जाती है, किन्तु वीप्सा में मनोगत भावनाओं की प्रेरणा से स्वतः शब्दावृत्ति हो जाती है और उस आवृत्ति से मनोवेगों के बल की सूचना प्राप्त होती है। केवल भाव ही का बल नहीं दिखाई पड़ता।[2] इस कथन का निष्कर्ष यही है कि पुनरुक्तिप्रकाश में आवृत्ति सायास है, वीप्सा में अनायास। दोनों के स्थल इतने संकीर्ण हैं कि निर्णय करने में कठिनाई होती है। गोस्वामी तुलसीदास की प्रवृत्ति सायास अलंकरण की नहीं है, फिर भी मानस में पुनरुक्तिप्रकाश के बहुत उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे—

१ : सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥ १.१२

---

१ : एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तीप्रकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ॥ —काव्य-निर्णय, पृष्ठ १०८

२ : अलंकार-पीयूष, डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पृष्ठ २१७-२१८

२ : गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।

१ १८

३ : पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा । चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा ।।

१.५५ ८

४ : सती मरत हरि सन बरु माँगा । जनम जनम सिव पद अनुरागा ।।

१.६५ ६

५ : कलप कलप प्रति प्रभु अवतरही । चारु चरित नाना बिधि करही ।।

१ १०१.४

यदि इन उद्धरणो में द्विरुक्त शब्दो को एक वार ही रहने दे, तो स्पष्टतः ज्ञात हो जायगा कि पुनरुक्तिप्रकाश ने भाव में कैसी रमणीयता लायी है ।

## ८ : भाषासम—

जहाँ एक ही प्रकार के शब्दो से अनेक भाषाओ में वही वाक्य रहे, वहाँ भाषासम होता है, ऐसी पण्डित विश्वनाथ की मान्यता है ।[1] लाला भगवान दीन ने इसी के आधार पर परिभाषा वनायी है—

शब्दन की विधि एक जहँ भाषा विविध प्रकार ।
वाक्य मनोहर होय जहँ भाषा समक विचार ।।[2]

इसे इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि जहाँ विभिन्न भाषाओ के शब्द से किसी पद्य का निर्माण हो, वहाँ भाषासम होता है । फारसी में इसे 'मुलम्मा' कहते है और हाफिज शीराजी इसके लिए बहुत विख्यात हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास दो भाषाओ के मेल से पद्य रचकर कोई चकाचौध पैदा करना नहीं चाहते थे, फिर भी उनके मानस में संस्कृत-पदो एवं हिन्दी के मेल से इसके अनेक उदाहरण देखे जाते है, जिनमें पर्याप्त सौन्दर्य है ।

१ : जय राम सदा सुख धाम हरे, रघुनायक सायक चाप धरे ।
भवबारन दारन सिंह प्रभो, गुनसागर नागर नाथ विभो ।।

६.१११.१-२

२ : जय राम रमा रमनं समनं । भवताप भयाकुल पाहि जनं ।
अवधेस सुरेश रमेश विभो । सरनागत मांगत पाहि प्रभो ।।

६.१४.१-२

मुनि मानस पंकज भृंग भजे । रघुबीर महा रनधीर अजे ।।
तव नाम जपामि नमामि हरी । भव रोग महागद मान अरी ।।
गुन सील कृपा परमायतन । प्रनमामि निरंतर श्री रमन ।।
रघुनंद निकंदय द्वंद्व घन । महिपाल विलोकय दीन जनं ।।

७.१४.१७-२०

---

१ : शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्य यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ।
—साहित्यदर्पण १०/१०

२ : अलंकार-मजूषा, पृष्ठ २२

३ : माम भिरक्षय रघुकुल नायक। घृत-वर चाप रुचिर कर सायक॥ ६·११५ १

४ : माम अवलोकय पंकज लोचन। कृपा विलोकनि सोक विमोचन॥ ७.५१·१

इन चारों उदाहरणों में रेखांकित शब्द निश्चित रूप से संस्कृत के कारक-रूप और क्रिया-रूप हैं। आधुनिक हिन्दी में इस प्रकार का प्रयोग श्लाघ्य नहीं माना जाता।

## ६ : चित्र—

वर्णों की रचनाविशेष के कारण जो छंद कमल आदि आकार में पढ़े जा सकें, वहाँ चित्र अलंकार होता है।[1] इसके कमल, छत्र, मुरज, धनुष, खड्ग आदि अनेक आकार होते हैं। चित्र अलंकार में न तो शब्दार्थ-कौशल प्रकट होता है और न तो रसोपलब्धि ही। हाँ, इसके द्वारा विकट पांडित्य का प्रदर्शन होता है। संस्कृत के महाकवियों ने तो अपने महाकाव्यों के सर्ग-के-सर्ग चित्रकाव्य बनाये हैं[2] —जैसे महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग तथा महाकवि माघ ने शिशुपाल-वध के उन्नीसवे सर्ग को।

गोस्वामी जी संस्कृत के अलंकृत काव्य के इन महाकवियों की भाँति वैदुष्य-प्रदर्शन के लिए चित्रकाव्य की रचना नहीं करते। उनकी सतसई[3] के तृतीय सर्ग में प्रहेलिका के उदाहरण स्पष्टतः प्राप्त हो भी जाएँ, किन्तु रामचरितमानस में ऐसा आपाततः नही दृष्टिगोचर होता। परन्तु, मानस तो महासागर है। इसमें गोते लगानेवालों ने बहुत कुछ ढूँढ़ लिया है। इस तरह मानस की रसभीनी अर्थगर्भ चौपाइयों से भी चित्रकाव्य के अनेकों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे—

१ : निरोष्ठ—जिनके उच्चारण में होंठ न लगें -

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा॥ ७ १४ ७

२ : अन्तर्लापिका—जिसका अर्थ छंद के भीतर से ही प्राप्त होता है—

संभु प्रसाद सुमति हिर्यँ हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥ १·३६ १

३ : बहिर्लापिका— जो अर्थ बाहर से लाया जाए—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भये ब्रह्म समाना॥ २·१९३ ८

---

१ : संक्षिप्त अलंकार-मंजरी, पृष्ठ ८५

२ : पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।
साहित्यदर्पण, पृष्ठ २९०

३ : उलटे तानी तामृपति, सौ हजार मन मन्थ।
एक शून्य रथ ननय कहँ, मनसि न मन समरन्थ।

४ : अश्वगति—

अश्वगति - बंध

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| न | मा | मि | शी | क्त | को | त्स | ल |
| भ | का | मि | ना | प | धा | वु | द |
| कृ | पा | लु | भ | ल | व | म | लं |
| अ | जा | मि | ते | स्व | दां | म | जं |

नमामि भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलं
भजामि ते पदांबुजं अकामिनां स्वधामदं

३४.१-२

५ : सीपबंध—



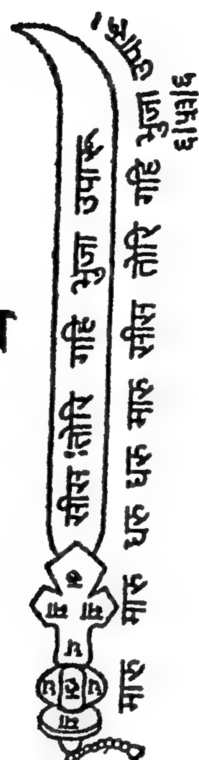

सीप बंध

अरुण पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

१.३२५.६

६ : खड्ग बंध—

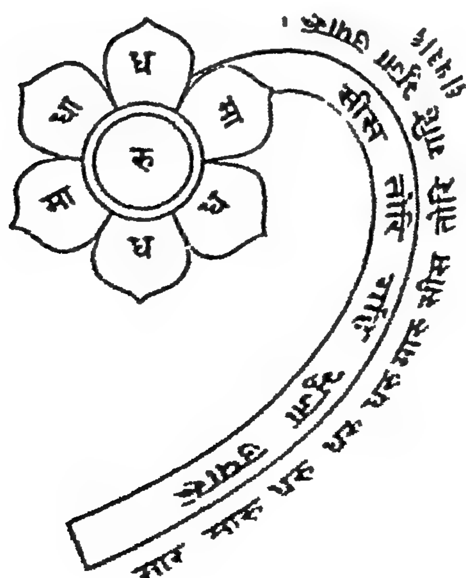
खड्ग बंध



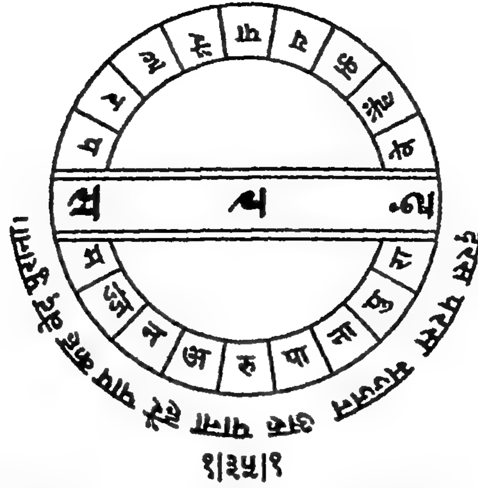

मारु मारु धरु धरु मारु। सीस तोरि गहि भुजा उपारु ॥

६.५३.६

सनाल कमल बंध



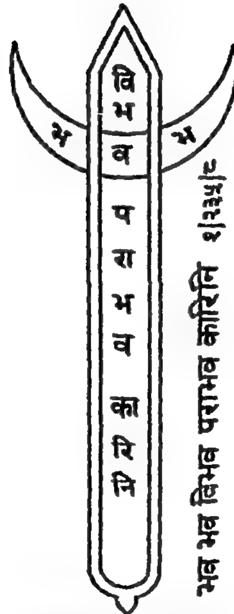
७ : नाल बंध—



दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुराना ॥

१.३५.१

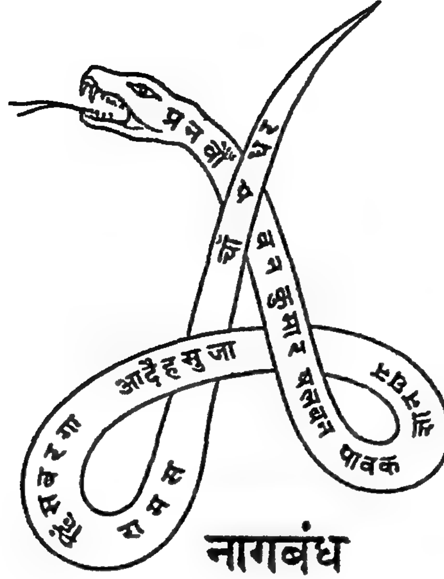
८ : त्रिशूल बंध—




भव भव विभव पराभव कारिनि।

१.२३५.८

९ : नाग बंध—

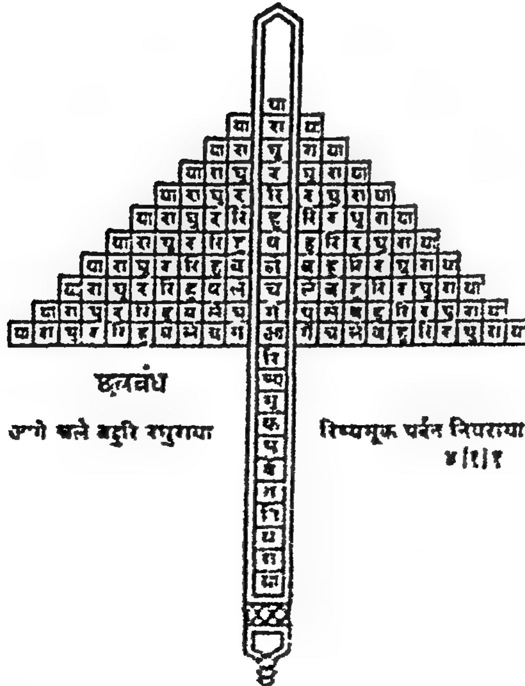



प्रनवौं पवनकुमार खल बन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥
१|१७

प्रनवौ पवनकुमार खल बन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

१.१७

१० : छत्र बंध—




आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्बत नियराया॥

४.१.१

११ : किरीट बंध —




भरत कमल कर जोरि धरम धुरन्धरि धीर धरि।
वचन आमिय जनु बोर देत उचित उत्तर सबहिं ॥

२ १७६

१२ : मयूर बंध—




जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार ॥

४.१

इस प्रकार यदि और परिश्रम किया जाय, तो मानस की पक्तियो के आधार पर और भी अनेक चित्रबंधो का निर्माण हो सकता है।

**निष्कर्ष—**

गोस्वामी तुलसीदास ने शब्दालंकारों का इतना अधिक प्रयोग इस कौशल से किया है कि विस्मय-विमुग्ध रह जाना पड़ता है। उनके अलंकार-विधान पर लिखते हुए अनेक विद्वानों ने लिखा है कि तुलसी ने शब्दालंकारों का प्रयोग बहुत कम किया है; क्योंकि उनके मन में ऐसी धारणा बद्धमूल हो गयी है कि शब्दालंकारों का प्रयोग करने वाला कवि निम्नकोटिक होता है। गोस्वामी तुलसीदास के प्रति अति समादरभाव उन्हें यथार्थ मूल्याकन से वंचित करता है—ऐसा मेरा विश्वास है। वस्तुतः शब्द-ब्रह्म का एक-एक वर्ण अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने शब्दालकारों का जितना और जैसा प्रयोग किया है कि उस पर एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध-लेखन की आवश्यकता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि कष्टसाध्य और चमत्कार-प्रदर्शक अलंकारों की बाजीगरी तुलसी को नापसन्द है। उन्होंने मुद्रा, चित्र एवं प्रहेलिका आदि कृत्रिमता लाने वाले मगजमार अलंकारों का तिरस्कार किया है।[१] ऐसा कहना उचित नहीं कि "गोस्वामी तुलसीदास की गंभीर एवं परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि के अनुरूप ही उनके महाकाव्य में शब्दाश्रित अलंकारों का प्रयोग भी प्रचुरता के साथ नहीं हुआ है।[२] शुक्ल जी भी अपने इस कथन के द्वारा संभवतः यही कहना चाहते हैं "ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि गोस्वामी जी श्लेष, यमक, मुद्रा आदि खेलवाड़ों के फेर में एक तरह से बिलकुल नहीं पड़े हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शब्दालंकार का सौंदर्य उनमें नहीं।"[३] वे तो गोस्वामी जी को अनुप्रास का बादशाह मानते ही हैं। हमने इसी अध्याय में देखा है कि उन्होंने यमक और श्लेष के सभी रूपों का कितना सहज सुंदर प्रयोग किया है। मुझे तो ऐसा लगता है कि गोस्वामी जी ने श्लेष और यमक पर पड़ी दुर्बोधता के कलंक का मार्जन किया है। तुलसी के इस काव्य-तपोवन में यमक और श्लेष भी अपने प्रकृति-प्रतिलोमशील धारण करते दीखते हैं।

हम निर्भ्रान्त रूप से यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी ने सारे शब्दालंकारों से मानस को जगमग कर दिया है। उनके काव्य में चित्र-जैसे प्रयत्नसाध्य गणितीय अलंकार भी प्रयत्नतः ही लक्षित हो पाते हैं—आपाततः तो सहज काव्य ही दीखते हैं। "उक्ति को श्रवणसुखद बनाने वाला अनुप्रास तो छाया की भाँति उनके पीछे-पीछे चलता था। उसे मानस में जहाँ चाहिए, देख लीजिए।" 'अंत्यानुप्रास' तो उनके रचे प्रत्येक छंद में है ही, 'छेकानुप्रास' से मुक्त कदाचित् ही कोई अर्द्धाली निकले और 'वृत्त्यनुप्रास' भी बहुत प्रयुक्त हुआ है। मन चाहे तो मानस का कोई भी स्थल स्वेच्छानुसार चुन लीजिए, वहीं आपको किसी भी प्रयास के बिना तत्काल अनुप्रास की स्वाभाविक छटा देखने को मिलेगी।"[४] वर्ण-योजना या वर्ण-मैत्री के कारण मानस की प्रत्येक पंक्ति में जो विच्छित्ति आई है—यह भी स्वतंत्र रूप से विश्लेषण का विषय है।

अतः, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने शब्दालंकारों का जितना अधिक प्रयोग किया है, केवल उसकी सूची गिनाने के लिए एक ग्रंथ तथा उसके सौंदर्य-विश्लेषण के लिए कई ग्रंथों की आवश्यकता है।

---

१: तुलसी काव्य-मीमांसा, डॉ० उदयभानु सिंह, पृष्ठ ३६८
२: रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, डॉ० राजकुमार पांडेय, पृष्ठ ३७८
३: गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १६३
४: [illegible], प्रो० रामबहोरी शुक्ल, पृष्ठ

शब्दालंकारो का प्रयोग उन्होने इस क्रम से किया है—१ : अनुप्रास २ : वीप्सा ३ : पुनरुक्तिप्रकाश ४ : वक्रोक्ति ५ : यमक ६ : श्लेष, ७ : भाषासम ८ : पुनरुक्तवदाभास और ६ : चित्र ।

अनुप्रास के भेदो मे क्रम इस प्रकार है—

१ : छेकानुप्रास } कोष्ठांकित
अंत्यानुप्रास }

२ : वृत्त्यनुप्रास

३ : श्रुत्यनुप्रास

४ : लाटानुप्रास ।

• •

# ३
# सादृश्य-मूलक अलंकार

## १ उपमा :

उपमा सादृश्य-मूलक भेदाभेद प्रधान अलंकारों में प्रथम परिगण्य है।[1] सहज सरल अविक्रम मानस की अभिव्यक्ति के लिए उपमा से सुकर स्यात् ही कोई अलंकार हो। कवि जब अपने कथ्य या वर्ण्य को अति आवर्जक रीति से उपस्थित करना चाहता है, तो उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह अन्य धरातलीय अथवा अन्य स्थानीय वस्तु के साथ उसकी समता प्रदर्शित करे।[2] वस्तुतः उपमा भिन्न स्तरीय वस्तुओं को एक स्नेह सूत्र में बाँधती है, वैसादृश्य में सादृश्य का अन्वेषण करती है, दो पदार्थों को बराबर-बराबर तोल (उप+मा) देने का यत्न करती है।

काव्य में भावनाओं के आयत्नज आप्लावन के साथ उपमा जिस सहजता से वह निकलती है, वैसा अन्य अलंकार में नहीं। यही कारण है कि काव्यशास्त्रियों ने उपमा-माहात्म्य का वर्णन बड़े उच्छ्वसित कंठों से अकृपण वाणी में किया है। उपमा सादृश्य-मूलक अलंकारों की बीजभूत है, उपजीव्य है, मेरुदंड है, प्राण-स्पंदन है। राजशेखर तो उपमा को अलंकार, शिरोरत्न, काव्य-सम्पदा-सर्वस्व[3] एवं कविवंश की जननी स्वीकारते हैं। अप्पय दीक्षित के विचार से उपमा वह शैलूषी है, जो काव्य के रंगमंच पर भिन्न-भिन्न भूमिकाओं (२२) में उपस्थित होकर सहृदयों का चित्तरंजन करती है। इतना ही नहीं, जैसे एक ब्रह्म के परिज्ञान से समग्र विश्व-प्रपंच का परिज्ञान हो जाता है, वैसे ही एक उपमा के सम्यक् ज्ञान से सम्पूर्ण चित्रकाव्य का ज्ञान हो जाता है।

---

१ : (क) यथावसर प्राप्तेस्वर्थालंकारेषु प्राधान्यात्साम्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमामाह ॥

विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पृष्ठ २६२

(ख) उपमैवानेक प्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथम निर्दिष्टा।

रुय्यक, अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ ४०

(ग) तत्र प्रथममनेकालंकारबीजभूतत्वादुपमा निरूप्यते।

विद्यानाथ, प्रतापरुद्रीय, पृष्ठ ३५[illegible]

२ : उपमा की कुछेक परिभाषाएँ—

(क) विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा भामह

(ख) वस्तुनः केनचित् साम्यं तदुत्कर्षवतोपमा-कुंतक

(ग) साधर्म्यमुपमा भेदे—मम्मट

(घ) साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः —विश्वनाथ

३ : यदाह राजशेखरः-

उपमा शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।

केशव मिश्र, अलंकारशेखर, पृष्ठ १८

दीक्षित ने उपमा-नर्तकी को २२ रूपों में दिखाया, उसके बहुत पहले वामन प्रतिवस्तूपमा प्रभृति तीस अलंकारों को उपमा-प्रपंच मान चुके थे।[१] अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में तो सभी अलंकरों को ही उपमा-प्रपच मान लिया।[२] पंडितराज जगन्नाथ ने भी उपमा को विपुलालंकारावर्त्तनी माना।

अतः, यह विवादशून्य है कि उपमा का स्थान बडा ही ऊँचा है। रुद्रट[४] के साथ हमें भी कहने में कोई संकोच नहीं कि विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए उपमा का बडा ही महत्त्व है। यह सम्यक् प्रतिपादन तभी संभव है, जब उपमेय-उपमान के रूप, गुण, क्रिया, प्रभावादि मे साम्य की मात्रा अत्यधिक हो।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस बहुचर्चित उपमा का प्रयोग रामचरितमानस के पग-पग पर किया है। उदाहरण के लिए एक-दो उपमाओ को देखें—

निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवा इव उर अधिकाई॥

१५८४

इस 'अवा' के लौकिक उपमान के द्वारा गोस्वामी जी ने सती के आन्तरिक पश्चाताप को बडी कुशलता एवं प्रखरता से व्यक्त किया है। सती के अन्तर्दाह को व्यक्त करने के लिए यहाँ उपमा, केवल उपमा ही सक्षम हो सकती है, ऐसा अलंकारशास्त्र के अल्प ज्ञान से भी ज्ञात हो सकता है। एक दूसरा उदाहरण लें—

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित सोई॥

१.४४.९

अर्थात् कीर्ति, कविता और सम्पत्ति वही भली है, जो गंगा की तरह सबका हित करती है। तीन उपमेयों के लिए एक उपमान देकर उन्होंने जो शब्द-लाघव प्रदर्शित किया है, वह तो प्रशस्य है ही, साथ-ही-साथ गगाजी की उपमा के द्वारा उन्होंने वृहत् अर्थप्रवाह को सकेन्द्रित भी किया है। गंगा के लिए उन्होंने सुरसरि शब्द का प्रयोग भी साभिप्राय किया है। इसकी परिकरांकुरता यह बतलाती है कि जो देव नदी अनन्त काल तक स्वर्गीय देवो की एकमात्र सम्पत्ति बनी रही, अनत वर्षों तक शकर के जटाजूट मे भटकती रही, वही जब पृथ्वीतल पर आयी, तो उसने सहस्र-सहस्र अभिशप्त सगर-पुत्रो का उद्धार किया। इसी तरह रामकाव्य की देवनदी जबतक

---

१ : उपमैका शैलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ति तद्विदा चेतः।
तदिद चित्रं विश्व ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिल भेद सहितोसा।

—चित्र मीमासा, पृष्ठ ५

२ : प्रतिवस्तुप्रभृति उपमा प्रपंच' ४, ३, १

—वामन, काव्यालकार सूत्र

३ : उपमा प्रपचश्य सर्वोलकारः इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव।

—अभिनव गुप्त, अभिनव भारती

४ : सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति
वस्त्वेन्तरमभिधादवक्ता यस्मिस्तदौपापम्।

—रुद्रट, काव्यालंकार, ८/१

देववाणी के देवलोक में रही, तबतक वह सामान्य जनसमूह का उद्धार न कर सकी। किन्तु, जब भाषा में अवतरित हुई, तो वह सामान्यजनोपयोगी हो गयी। गंगा अपनी विशालता, समता, पवित्रता आदि न मालूम कितने गुणों के कारण ख्यात है। गंगोत्री से गंगासागर तक पशु-पक्षी, कीट-पतंग, साधु-संन्यासी, राजा-रंक, पुरुष-स्त्री, युवक-वृद्ध सभी गंगाजल का मंजन-पान कर संतृप्त होते हैं। इसी तरह वह कीर्ति क्या जो सबका हित न कर सकी, वह कविता क्या जो सबों के लिए सुलभ-बोधगम्य न हो सकी, वह सम्पत्ति क्या जो कष्टापन्नों के कष्ट का निवारण न कर सकी? इस एक पूर्णोपमा से ही गोस्वामी जी की उपमा-निरूपणता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। उपमा के इन दो पृथक् स्थलीय उदाहरणों के पश्चात् अब एक ऐसा स्थल देखें जहाँ एक नहीं, अनेक उपमायें दीख पड़ती हैं।

अद्‌र्धालियाँ हैं—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहि देखा। लोचन मोर पंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेई प्रानी॥
जो नहिं करे राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥

१.११३.२-७

इस 'उपमामाला' के द्वारा तुलसीदास ने भक्त, भगवान्, गुरु तथा हरिकथा के प्रति अनुराग रखने वाले के लिए आक्रोशमिश्रित तिरस्कार-भाव व्यक्त किया है। 'साँप के बिल', 'मयूर-पंख पर बनी आँखें', 'तुंबी', 'शव', 'मेढक' तथा 'वज्र'-जैसे तीखे उपमानों के द्वारा उन्होंने जो भाव व्यक्त किया है, उसे बदलकर यदि दूसरे उपमान दिये जाते, तो हरि-गुरु पद तथा हरिकथानुराग का उत्पन्न होना-जैसे अभीष्ट फल की प्राप्ति कतई संभव नहीं थी। यहाँ यह भी दर्शनीय है कि गोस्वामी जी जब मौज में आते हैं, तो एक ही प्रकार के अलंकार का प्रवाह उमड़ पड़ता है और इस प्रवाह के कारण काव्य के सौंदर्य में आशातीत अभिवृद्धि हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास के उपमा-निरूपण-नैपुण्य के कई प्रसंग विवेचित हुए हैं। इस क्रम में एक बात विचारणीय है कि उन्होंने मानस में एक ही उपमा की आवृत्ति अनेक स्थलों पर की है। उदाहरणार्थ—

(क) बाण के समान—

१ : लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बान सम लागहिं ताही॥

२.४८.४

२ : नृपहि बचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥

२.७१.६

३ : नारि बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गएउ उठि होत बिहाना॥

६.३८.१

४ : ताके बचन बान सम लागे। करिआ मुह करि जाहि अभागे॥

६.४१.२

(ख) काल के समान—

१ : देखत बालक काल समाना । परम धीर धन्वी गुन बाना ॥
३.२२.६

२ : आवत देखि कृतांत समाना । फिरि दसकंधर कर अनुमाना ॥
३.२६.१२

३ : पवन तनय मन भा अति क्रोधा । गर्जेउ प्रबल काल सम जोधा ॥
६.४३.५

४ : देखि पवन सुत कटकु बिहाला । क्रोधवंत जनु धाएउ काला ॥
६.५१.१

५ : कुंभकरन रनरंग बिरुद्धा । सन्मुख चला कालजनु क्रुद्धा ॥
६.६७.१

६ : इति कपि भालु काल सम बीरा । उत रजनीचर अति रनधीरा ॥
६.७२ १०

७ : आवत देखि क्रुद्धजनु काला । लछिमन छाड़े बिसिख कराला ॥
६.७६.१०

८ : धाए बिसाल कराल मर्कट भालु काल समानते ।
६.७६ १४

इस तरह ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं, जहाँ उन्होंने एक ही उपमा को अनेक बार दुहराया है। इसे देखकर किसी आलोचक को ऐसा कहने का अवसर मिल जाता है कि यह गोस्वामी जी के प्रतिभा-दारिद्र्य का ही परिणाम है। काव्यशास्त्र में वैसे भी आवृत्ति दोष मानी गयी है। जिस कवि के पास अप्रस्तुतो का अपरिमित कोष हो, वह एक ही अप्रस्तुत को एक ही अलंकार या अनेक अलंकारों के सन्दर्भ में आवृत्त क्यो करेगा? बात यह है कि गोस्वामी तुलसीदास बिहारी आदि की तरह सजग कलाकार (कन्सस आर्टिस्ट) नहीं हैं। रामकथा की मंदाकिनी जब उमडती है, तो इसमें एक ही प्रकार के कितने पुष्पगुच्छ बह जाते हैं, इसकी चिंता कौन करता है? हाँ, इतना विचारणीय है कि जिस प्रसंग में उन्होंने इस उपमा को उपस्थित किया है—उस प्रसंग मे वह ठीक बैठती है अथवा नही और दूसरी बात यह है कि जिस प्राचीन (आवृत्त) अप्रस्तुत के द्वारा ही उपमा कही गयी है, प्रस्तुत प्रसंग मे अन्य कोई सुन्दरतर अप्रस्तुत लाया जा सकता है अथवा नही। उदाहृत अर्द्धालियो को यदि हम तत्तत् प्रसंगों में देखे, तो ज्ञात होगा कि उक्त प्रसंग मे अन्य कोई अप्रस्तुत तथा अन्य कोई अलंकार उपयुक्त वर्णन-सौदर्य प्रदान कर ही नही सकता। अतः, ऐसी आवृत्त उपमाओं के कारण तुलसीदास की प्रतिभा पर किसी प्रकार का कोई संदेह अनुचित होगा।

'उपमा' के वर्गीकरण का प्रयास निरुक्तकार यास्क से पंडितराज जगन्नाथ तक ने किया है। इन वर्गीकरणो के आधार भिन्न हैं। इन आचार्यों में से दो-चार आचार्यों के महत्त्वपूर्ण उपमा-भेदो के आलोक मे रामचरितमानस की उपमाओ को देखने का हम प्रयास कर रहे हैं।

दंडी ने उपमा के बत्तीस भेद किये—

| | |
|---|---|
| १ : धर्मोपमा | उपमेय-उपमान में तुल्य धर्म का स्पष्ट कथन के कारण |
| २ : वस्तूपमा | प्रतीयमानैकधर्म के कारण |
| ३ : विपर्यासोपमा | प्रसिद्धिविपर्यास के कारण |
| ४ : अन्योन्योपमा | अन्योन्योत्कर्षशंसा के कारण |
| ५ : नियमोपमा | अन्यसाम्य-व्यावृत्ति के कारण |
| ६ : अनियमोपमा | अन्यप्रतिवंधहीनता के कारण |
| ७ : समुच्चयोपमा | धर्म-समुच्चय के कारण |
| ८ : अतिशयोपमा | अतिशय भेद मात्र के कारण |
| ९ : उत्प्रेक्षितोपमा | अन्य-संभावना के कारण |
| १० : अद्भुतोपमा | उपमान-वैचित्र्य के कारण |
| ११ : मोहोपमा | मोह के कारण |
| १२ : संशयोपमा | संशय के कारण |
| १३ : निर्णयोपमा | निर्णय के कारण |
| १४ : श्लेपोपमा | धर्माश्लिष्ट के कारण |
| १५ : समानोपमा | एक शब्द से भिन्न अर्थ द्वारा समानता प्रकट करने के कारण |
| १६ : निंदोपमा | उपमान की निंदा के कारण |
| १७ : प्रशंसोपमा | उपमान की प्रशंसा के कारण |
| १८ : आचिख्यासोपमा | आचिख्यासा के कारण |
| १९ : विरोधोपमा | प्रतिस्पर्धा के कारण |
| २० : प्रतिपेधोपमा | प्रतिपेध के कारण |
| २१ : चाटूपमा | चाटु के कारण |
| २२ : तत्त्वाख्यानोपमा | तत्त्व-कथन के कारण |
| २३ : असाधारणोपमा | उपमेय-सदृश्य उपमान के कथन के कारण |
| २४ : अभूतोपमा | उपमान के सामूहिक सौंदर्य के कारण |
| २५ : असंभावितोपमा | असंभवता के कारण |
| २६ : बहूपमा | एक उपमेद के लिए अनेक उपमान के कारण |
| २७ : विक्रियोपमा | विकार के कारण |
| २८ : मालोपमा | उपमान के माला के कारण |
| २९ : वाक्योपमा | एक वाक्यार्थ से दूसरे वाक्यार्थ की उपमा के कारण |
| ३० : प्रतिवस्तूपमा | एक वस्तु के धर्म के अनुरूप दूसरी वस्तु के धर्म का उसी प्रकार वर्णन करने के कारण |
| ३१ : तुल्ययोगितोपमा | समान क्रिया-विधि |
| ३२ :[1] हेतूपमा | हेतु के कारण |

१ : काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की श्लोक-संख्या १४ से ५० तक देखें।

इनमें से धर्मोपमा तथा वस्तूपमा सामान्य उपमा, विपर्यासोपमा तथा निर्णयोपमा प्रतीप, अन्योन्योपमा, उपमेयोपमा, समुच्चय, उत्प्रेक्षितोपमा उत्प्रेक्षा, अद्भुतोपमा संभावना, मोहोपमा भ्रान्तिमान्, संशयोपमा संदेह, श्लेषोपमा श्लेष, प्रशंसोपमा व्यतिरेक, असाधारणोपमा अनन्वय, असंभावितोपमा असंभव, बहूपमा मालोपमा, मालोपमा रसनोपमा, प्रतिवस्तूपमा प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगितोपमा तुल्ययोगिता के नाम से उत्तरालकारिकों द्वारा मान्य हो चुके है।

दंडी-प्रोक्त उपमा-भेदो में अनेक भेदों के उदाहरण मानस से दिये जा सकते हैं। यहाँ पर यह स्मर्तव्य है कि गोस्वामी जी ने 'काव्यादर्श' के उपमा-भेदो को अपने समक्ष रख कर उदाहृत नही किया है, वरन् इन भेदो के उदाहरण स्वयमेव आ गये हैं।

रामचरितमानस से कुछ उदाहरण दिये जाते है, यथा—

१ : धर्मोपमा—

करि कर सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥

१.१४७.८

नील महीधर सिखर सम देखि बिसाल बराहु।

१.१५६

२ : वस्तूपमा—

बदौ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनहुं परदोषा॥

१ ४.८

पुनि प्रनवौ पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना॥

१.४ ६

३ : विपर्यासोपमा—

येहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सिय समतूल॥

१ २४७

४ : अन्योन्योपमा—

राम प्रानहु ते प्राण तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्राणहुँ ते प्यारे॥

२.१६८.१

५ : अद्भुतोपमा—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥

१.२४७.७-८

६ : मोहोपमा—

कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठिकर गहेउ॥

५ १२

७ : संशयोपमा—

कहिअ काह कहि जाइ न बाता। जमकर धार किधौ बरिआता॥

१.८५.७

८ : श्लेषोपमा—

साधु सरिस सुभचरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥

१ २·५

९ : निंदोपमा—

बिष बारुनी बंधु पिय जेही । कहिअ रमा सम किमि बैदेही ॥

१·२४७·६

१० : प्रशंसोपमा—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा । रघुबर किंकर कुमुद चकोरा ॥

२·२०८·१

११ : प्रतिषेधोपमा—

गिरा मुखर तन अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥

१·२४७·६

१२ : चटूपमा—

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि । समुझत सुखद सुनत भयमोचनि ॥

६·१६·७

१३ : तत्त्वाख्यानोपमा—

गौर सरीर स्यामु मन माहीं । कालकूट मुख पयमुख नाहीं ॥

१·२७७·७

१४ : असाधारणोपमा—

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहे ।

७·९२·६

१५ : अभूतोपमा—

कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों ।
मरकत सयल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजंग ज्यों ।

३·१८ १२-१३

१६ : वाक्योपमा—

बैठें सोह काम रिपु कैसें । धरे सरीर सांतरसु जैसें ॥

१·१०७·१

अप्पय दीक्षित ने 'चित्र-मीमांसा' में तीन प्रकार की उपमाओं का उल्लेख किया है[1]—

१ : स्ववैचित्र्यमात्र-विश्रान्ता

२ : उक्तार्थोपपादनपरा

३ : व्यंग्यप्रधाना

मानस में तीनों प्रकार की उपमाओं के उत्तम उदाहरण मिलते हैं—

१ : मरकत मृदुल कलेवर स्यामा । अंग अंग प्रति छबि बहु कामा ॥

७·७६·५

---

१ : क्वचित् स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता....... क्वचिदुक्तार्थोपपादनपरा.... ..
क्वचिद्व्यंग्यप्रधाना [illegible]

[illegible]

राम के सौंदर्य का दिग्दर्शन मात्र ही इस उपमा का लक्ष्य है।

२ : रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर शची जयंत समेत ॥

२ १४०

यहाँ उपमा का उद्देश्य कथन के स्पष्टीकरण में पूर्णतः सफल हुआ है।

३ : (क) सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसें। चितव गरुरू लघु व्यालहि जैसें ॥

१.२५६.८

इस उपमा में राम के द्वारा निश्चित रूप से धनुषभंग रूप वस्तु व्यंजित है।

(ख) सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥

१ ५ ६

इस उपमा के द्वारा 'विषम अलंकार' व्यंग्य होता है।

(ग) गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

१.१८

इस उपमा के द्वारा 'भक्ति रस' व्यंग्य है। स्थाली-पुलाकन्याय से एक-एक उदाहरण दिया गया है, मानस में इन तीनो प्रकार की उपमाएँ भरी पड़ी हैं।

पंडितराज जगन्नाथ ने उपमा का वर्गीकरण तरह-तरह से किया है। इन सारे वर्गीकरणों पर मानस की उपमाओं को परखने के लिए एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध की आवश्यकता पड़ेगी। एक लघु आधार पर आधारित वर्गीकरण को उदाहृत करना ही यहाँ पर्याप्त होगा। उपमा में चार तत्त्व होते हैं—उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म। उन्होने धर्म की वाच्यता, लक्ष्यता और व्यंग्यता के आधार पर उपमा के तीन भेद किये हैं।[1] मानस से तीनों के उदाहरण देखें—

वाच्यधर्मोपमा—

१ : सहसबाहु-भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा ॥
'दहन' धर्मवाच्य है।

६.२६.२

२ : लक्ष्यधर्मोपमा—

कह अंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं ॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥

२.२६.५-६

'सलज्ज' तथा 'लाजवंत' का अर्थ लक्षणा से 'निर्लज्ज' ही यहाँ अभीष्ट है।

३ : व्यंग्यधर्मोपमा—

दीपसिखा सम युवती मन जनि होसि पतंग।

३.४६.१५

यहाँ 'दाहक' या 'आकर्षक' धर्म व्यंग्य है।

---

१ : उपमायामपेक्षिताः साधारणधर्माः क्वचिद् वाच्याः कुत्रचित लक्ष्याः, कुत्रचित् व्यंग्या भवितुमर्हति, तदनुसारमुपमा...वाच्यधर्मा, लक्ष्यधर्मा, व्यंग्यधर्मा चेति त्रिविधा भवति।
—रसगंगाधर, उपमा-निरूपण, द्वितीय आनन, पृष्ठ २७६

उपमा के चारों तत्त्वों के आधार पर भी इसका वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण अत्याधुनिक हिन्दी आलंकारिकों के द्वारा भी मान्य है। जहाँ उपमा के चारो अंग—उपमेय, उपमान, वाचक और साधारण धर्म का शब्दशः कथन हो, वहाँ पूर्णोपमा होती है। जहाँ इन चारो अंगों में किसी एक का शब्दशः कथन नहीं हो, वहाँ लुप्तोपमा होती है।[1] इस लुप्तोपमा में भी कहीं एक अंग लुप्त रह सकता है, कहीं दो अंग लुप्त रह सकते है और कहीं तीनो अंग लुप्त रह सकते हैं। मानस से इनके कुछ उदाहरण लें—

(क) पूर्णोपमा—

सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

१ १०.६

अस मन गुनइ राउ नहि बोला। पीपर पात सरिस मनु डोला॥

२.४५.३

सीता राम संग बन बासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥

२.२७६ ३

(ख) लुप्तोपमा—

एक लुप्ता—

१: उपमेय-लुप्ता—धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारहु मोहि व्याध की नाईं॥

४.९.५

२: वाचक-लुप्ता—नील सरोरुह स्याम, तरुण अरुण बारिज नयन।
करौं सो मम उर धाम, सदा छीर सागर सयन॥

१ ३ सोरठा

३: उपमान-लुप्ता—जो पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥

१.२४७.४

४: धर्म-लुप्ता—करि प्रणाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥

१.११२.५

द्विलुप्ता—

१: वाचक-धर्म-लुप्ता—

सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू॥

१.५.८

२: धर्मोपमान-लुप्ता—

............ .....। आज पुरंदर सम कोउ नाहीं॥

१.१३७ ७

३: धर्मोपमेय-लुप्ता—

सहज टेढ़ अनुहरे न तोही। नीचु मीचु सन देख न मोही॥

१.२७७.८

४: वाचकोपमान-लुप्ता—

सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुना अयन, चितइ जानकी लखन तन॥

२.१००

---

१: अलंकार-मुक्तावली- आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ ३७ से ४८

५ : धर्मवाचकोपमान लुप्ता—

बिधुबदनी मृगबालक लोचनि ।

१.२६७.२

त्रिलुप्ता—

१ : वाचक-धर्मोपमान लुप्ता—

केहरि कंधर बाहु बिसाला । उर अति रुचिर नाग मनि माला ।।

५१.११६.

मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कवि कैसे करै ।

१.३२३.१६

लखनु सत्रुसूदन एक रूपा । नख सिख ते सब अंग अनूपा ।।

१.३११.७

२ : वाचक-धर्मोपमेय लुप्ता—

काक होहिं पिक बकउ मराला ।

१.३.१

इसे आलंकारिक रूपकातिशयोक्ति अलंकार मानते हैं। किन्तु, रूपकातिशयोक्ति तथा वाचक-धर्मोपमेय-लुप्ता उपमा में अंतर में यह है कि जहाँ रूपकातिशयोक्ति में किसी रूपकात्मक रचना द्वारा उपमानों का वर्णन होता है, वहाँ इसमें रूपकात्मिका रचना नहीं रहती ।[1]

मानस में इन भेदों में सर्वाधिक उदाहरण पूर्णोपमा तथा एक लुप्तोपमा के पाये जाते हैं। इस आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी कथन को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए उपमा प्रयोग करते हैं—इसलिए वे द्विलुप्ता या त्रिलुप्ता के द्वारा पाठक के मस्तिष्क पर भार डालना नहीं चाहते ।

उपमा में स्थूल उपमेय के लिए स्थूल उपमान देने की पद्धति तो सामान्य है। उपमा में विशिष्टता तब आती है, जब स्थूल वस्तु के लिए सूक्ष्म उपमान तथा सूक्ष्म वस्तु के लिए स्थूल उपमान लाए जाएँ ।[2] रामचरितमानस में दोनों प्रकार की अनेक उपमाएँ मिलती हैं।

१ : स्थूल के लिए सूक्ष्म—

क : सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे । छबिगन मध्य महा छबि जैसे ।।

१.२६४.१

ख : उभय बीच श्री सोहइ कैसी । ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।।

२.७.३

२ : सूक्ष्म के लिए स्थूल—

क : सुंदरता कहुँ सुंदर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ।।

१.२३०.७

---

१ : सुमति-कृत तुलसी-भूषण, पृष्ठ ४४

२ : उपमा की दो विशेषताएँ, जो आजकल प्रायः देखने में आती है, ध्यान देने योग्य है। ये विशेषताएँ हिन्दी के काव्यों में पहले से भी है, किन्तु अभिव्यंजनावाद के कारण नवीन ढंग की कविताओं में जो एक प्रकार का वैचित्र्य आया है, उसमें विशेषता की इस प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है। ये विशेषताएँ है मूर्त्त की सूक्ष्मोपमा तथा सूक्ष्म की मूर्त्तोपमा ।

—काव्य में अभिव्यंजनावाद, डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, पृष्ठ १३९

इतना ही नहीं, गोस्वामी जी ने सूक्ष्म उपमेय के लिए सूक्ष्म उपमान लाकर उपमाक्षेत्र में विलक्षणता प्रदर्शित की है। एक-दो उदाहरण देखें—

क : कवनें अवसर का भयेउ गयेउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास॥

२.२६

ख : तुम्ह पर अस सनेहु रघुवर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥

२.२०७.६

उपमा-दोष—

भामह ने किसी प्राचीन आचार्य मेधावी द्वारा वर्णित निम्न सात उपमा-दोषों का उल्लेख किया है। वे ये हैं—

१ : हीनता – उपमेय के गुणों से उपमान के गुणों में न्यूनता।

२ : असंभव—सादृश्य की असंभवता।

३ : लिंग-भेद—उपमेय और उपमान में लिंग-भिन्नता।

४ : वचन-भेद—उपमेय और उपमान में वचन-भिन्नता।

५ : विपर्यय—उपमेय और उपमान के गुणो में बहुत हीनता या अधिकता।

६ : उपमान का आधिक्य—उपमेय से उपमान के गुणों की अधिकता।

७ : उपमान का असादृश्य[1]—उपमेय और उपमान में विसदृश्यता।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी अनेक उपमा-दोषो का विवेचन किया है, किन्तु उनके दोष भामह-वर्णित दोषो से बहुत भिन्न नहीं हैं।[2] उन दोषो में एक प्रमुख दोष कवि-समय-प्रसिद्धि-साहित्य है। रामचरितमानस में कवि-समय-प्रसिद्धि-साहित्य दोष कहीं नहीं मिलता।

मानस में इन दोषो के एक-दो उदाहरण कठिनाई से प्राप्त होते हैं—

१ : हीनता—

गुरु बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥

२.१८१.१

उपमेय 'विश्व' के लिए बेर-जैसा तुच्छ उपमान लाया गया है।

---

१ : हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः
उपमानाधिक्यं च तेनासदृशतापि च
त एत उपमादोषाः सप्तमेधाविनोदिताः
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्।

काव्यालंकार, द्वितीय परिच्छेद, ३९, ४० श्लोक।

२ : अथास्याश्चमत्कारस्यापकर्षकं यावत्सर्वमपि दोषः
कविसमयप्रसिद्धिराहित्यम्, उपमानोपमेययोर्जात्या
प्रमाणेन लिंगसंख्याभ्यां चाननुरूप्यं बिम्बप्रतिबिम्बभावे
धर्माणामुपमानोपमेयगतानां न्यूनाधिकत्वम्
अनुगामितायामनुपात्तत्वम् [illegible]।

रसगंगाधर, द्वितीयानन, पृष्ठ ३१

२ : असम्भव—

अंगद दीख दसानन बैसा । सहित पान कज्जलगिरि जैसा ।।

६.१९.४

कज्जलगिरि सप्राण हो ही नही सकता। अतः, सप्राण कज्जलगिरि से उपमा देना असम्भव कल्पना है ।

३ : लिंगभेद—

लोकमान्यता अनल सम कर तपकानन दाहु ।

१.१६१.१०

लोकमान्यता स्त्रीलिंग है, उपमान अनल पुल्लिग ।

जाकर चित अहिगति सम भाई ।

४.७.८

चित्त पुल्लिग है । उपमान अहिगति स्त्रीलिंग है ।

अन्य—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न
बंदौ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ।।

१ १८

यहाँ लिंग-दोष माने नही, तो विपर्यय-दोष । कोई दोष तो है ही ।

सत्य सील दृढ़ ध्वज। पताका ।

६ ८०.५

बिरति चर्म संतोष कृपाना ।

६ ८० ७

बिरति चर्म असि जान मद लोक मोह रिपुकारि
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि ।

७.१२०

४ : वचन-भेद—

भरे सुधा सम सब पकवाने ।

१.३०५.२

उपमेय पकवाने बहुवचन, उपमान सुधा एक वचन ।

५ : विपर्यय—

उमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ।।

३ १३ ६

यहाँ हीन विपर्यय है । माया की उपमा गूलर-वृक्ष से दी जा रही है ।

६ : उपमान का आधिक्य—

चिकरत लागत यान । धर परत कुधर समान ।।

६ २०.१०

यहाँ अधिक विपर्यय है । राक्षस के घर की उपमा पर्वत से दी जा रही है, पर्वत राई से देना उचित होता ।

७ : असदृशता—

काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥

२.३०१.२

लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू । सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥

२.३०१.८

बन दिसि देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन ससि राहू ॥

३ २८ ६

दोष दिखलाने के लिए जिन कष्टप्राप्य उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है, वे दोष नहीं माने जा सकते; क्योंकि न तो वे चमत्कार के अपकर्षक हैं और न तो विद्वानों को उद्वेगजनक ही प्रतीत होते हैं, जैसा कि दंडी[1] ने काव्यादर्श में लिखा है ।

इन दोषों में एक ही दोष ऐसा है, जो उद्वेग उत्पन्न करता है । इन्द्र वैदिक काल के सबसे ऐश्वर्यशाली, महिमाशाली एवं लोकप्रिय देवता है । मानस के लंकाकांड में स्वयं गोस्वामी जी ने भगवान् राम के मुख से उन्हें 'सुजान'[2] कहलाया है तथा निहत देवताओं को जिलाने के लिए आग्रह किया है । उसी देवराज इन्द्र की उपमा जब वे विष्ठाभोगी कौए तथा उच्छिष्ट भोगी इन्द्रियलोलुप कुत्ते से देते हैं, तो उचित नहीं मालूम पड़ता । फिर गोस्वामी जी ने अपने आराध्य लोककल्याणकारी मर्यादापुरुषोत्तम राम के लिए 'राहु' तथा लोकसूदन रावण के लिए 'शशि' की उपमा दी है, जो उद्वेजक मालूम पड़ती है । रावण के पीडन से संबद्ध श्री राम के लिए अच्छी उपमा मिल सकती थी, जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप होती । ये उपमाएँ बड़ी ही चिन्त्य हैं और गोस्वामी जी में भी यत्रतत्र स्खलन हैं, इसके पुष्ट प्रमाण हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास के उपमा-निरूपण की भरपूर प्रशंसा देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा की गयी है ।[3] यह भी कहा गया है कि अपनी सर्वोत्तम उपमाओं में तुलसीदास कालिदास से बढ़कर हैं । परन्तु, उन विद्वानों ने यह स्पष्ट नहीं किया कि तुलसीदास अपनी सर्वोत्तम उपमाओं में कालिदास की सर्वोत्तम या निकृष्टतम उपमाओं से बढ़कर हैं । यदि महाकवि कालिदास की निकृष्टतम उपमाओं से गोस्वामी तुलसीदास की सर्वोत्तम उपमाएँ श्रेष्ठ हैं, तो इस पर आपत्ति करने का अवकाश नहीं है, किन्तु यदि यह कहा जाय कि तुलसीदास अपनी सर्वोत्तम उपमाओं में कालिदास की सर्वोत्तम उपमाओं से श्रेष्ठ हैं, तो इस पर विचार करने की आवश्यकता है । रामचरितमानस की अलंकरण-पद्धति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने अपनी उपमाओं के सादृश्य एवं साधर्म्य-निर्वाह के लिए ज्ञान के समग्र स्रोतों का उपयोग किया है,

---

१ : न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् । काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, ५१

२ : सुनु सुरपति कपि भालु हमारे । परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे ॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना । सकल जिआउ सुरेस सुजाना ॥
६.११४.२

३ : (क) तुलसीदास की सारी रचनाएँ एक-से-एक अनूठी उपमाओं से ओतप्रोत भरी हैं । कहीं-कहीं तो उपमाएँ रहट की घड़ियों की तरह एक-पर-एक लगातार आती गई हैं । इस प्रकार का आनंद अयोध्याकांड में खूब मिलता है ।
—तुलसीदास और उनका काव्य, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० [illegible]

फिर भी उपमा अलंकार की ही ऐसी सीमा है, जिसके द्वारा वे अपने मनोभावों को स्पष्ट एवं पारदर्शी अभिव्यक्ति नही प्रदान कर सके है। उन्होंने उपमा – स्पष्टतः रूढ़ उपमा अलंकार की असमर्थता पर मानस के अनेक स्थलो पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उपमा में उपमेय के पूर्ण सदृश समकक्षीय उपमान चाहिए—जैसा गोस्वामी जी भली-भाँति जानते हैं—गुणलेश साम्य में कामचलाऊ उपमा ही हो सकती है। किन्तु अपने महान् पात्रो की तुलना मे उन्हे उपमान वडे लघु मालूम पडते हैं,' जहाँ लघु नही हैं, वहॉ वे वार-वार दुहराये जाने के कारण जूठे मालूम पडते है। इसलिए वे इन लघु-जूठे उपमानो का प्रयोग कर अपने को कुकवि सिद्ध कर अयश-भागी नही वनना चाहते। अतः, जहॉ वे अपने अभीष्ट सौंदर्य का वर्णन करना चाहते हैं, वहाँ वे उपमा को छोड देते हैं। सामान्य कथ्य को ही वे उपमा के द्वारा व्यक्त करते हैं, नही चाहते हुए भी एक ही उपमा का इतना अधिक प्रयोग करते है कि उसकी वची-खुची ताजगी भी समाप्त हो जाती है। इसलिए मेरी तो धारणा है कि 'उपमा कालिदासस्य' की ख्याति प्राप्त करनेवाले दीपशिख कालिदास की सुदर उपमाओं के समक्ष गोस्वामी तुलसीदास की उपमाएँ प्रतिद्वंद्विता नही कर सकती। कालिदास और तुलसीदास दोनों का महत्त्व भिन्न दृष्टियो से है। कला-प्रतियोगिता में दोनों को खड़ा न करने पर भी दोनो के महत्त्व में किसी प्रकार की कमी नही आती। फिर भी समग्र मानस पर ध्यान रखते हुए निष्कर्षरूपेण इतना कहा जा सकता है कि मानस में ऐसी अनेक उपमाओं के स्तवक है, जो वस्तु उपस्कार एवं चमत्कृति-विवर्धन के कारण मन को अनायास आकृष्ट करते हैं।

---

(ख) उनके काव्य का कोई छन्द भले ही बिना उपमा के मिल जाए, परन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनाई से ऐसा मिलेगा, जिसमे सुन्दर उपमा का प्रयोग न हुआ हो।

तुलसी की अलंकार-योजना, पृष्ठ ८०
नरेन्द्र कुमार-तुलसी, डॉ॰ उदयभानु सिंह द्वारा संपादित

(ग) "रामचरितमानस की कोई चौपाई भले ही विना उपमा की मिल जाय, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएँ साधारण नही है। वे अमूल्य रत्नराजि हैं।"

तुलसी की उपमाएँ, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, माधुरी वर्ष, २, खंड १, सख्या १, पृष्ठ ७४

(घ) "There is ... when occasion requires its sensitiveness spheritic method of dealing with narratives, which teems with similies drawn not from the tradition but from nature herself and better than Kalidas at his best."

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Page—471 (1921—Edition)

(ङ) "Tulsidas, although not averse to using the conventional language of Indian poets 'teems with similies', not from the traditions of the schools, but from nature herself, and better than Kalidas at his best"

—Akbar The Great Mogul–Smith Page 304

१ : उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अग अनुरागी॥
सिय वरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥

१ २४७ २-३

सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं विदेहकुमारी॥

—१.२३० ८

## २ : अनन्वय :

एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान—दोनों बना देना अनन्वय अलंकार कहलाता है।[1] इसी तरह की परिभाषा रुय्यक,[2] जयदेव,[3] विश्वनाथ[4] आदि ने दी है किन्तु भामह,[5] उद्भट,[6] पंडितराज जगन्नाथ[7] इसके साथ-ही-साथ 'असादृश्य-विवक्षा' अथवा 'उपमानान्तरव्यवच्छेद' को भी आवश्यक मानते है। दंडी अनन्वय को स्वतंत्र अलंकार मानने के पक्ष मे नही है, वे तो इसको उपमा के एक भेद 'असाधारणोपमा'[1] के अंतर्गत ही परिगणित करते हैं।

अनन्वय अलंकार भी विलक्षणता की एक अभिनव छाया रखता है। कवि अपने वर्ण्य की स्पष्ट छवि अंकित करने के लिए उपमानों के तीन लोकों का परिव्रजन करता है, वह अपने प्रस्तुत के सदृश अप्रस्तुत को प्राप्त कर लेना चाहता है। किन्तु, अन्ततोगत्वा उसे निराश-हताश हो इसी स्थिति पर पहुँच जाना पड़ता है कि उसके उपमेय के सदृश्य उसका उपमेय ही है। वह उपमेय को ही उपमान बना डालता है, उपमानान्तर का व्यवच्छेद कर डालता है।

भगवान राम तुलसी के इष्टदेव हैं। अतः जब वे उनके माहात्म्य का वर्णन आरंभ करते हैं, तो कभी भी तृप्ति का अनुभव नही करते। वे अपने आराध्य को अरबों कामदेवों के समान सुंदर, अरबों दुर्गाओ के समान शत्रुनाशक, अरबो सूर्यों के समान प्रकाशपुंज, अरबो यमराजों के समान दुस्तर, अरबो पातालों के समान अथाह, अरबों तीर्थराजो की तरह पावन, अरबो हिमगिरियो के समान अचल आदि कहते-कहते इस स्थिति तक पहुँच जाते है कि उनके नाम निरुपम है। फिर उन्हें संतोष नही होता। उन्हे अपने प्रभु का विराट उदात्त रूपांकन यथाविध अभीष्ट तथा तथाविध हो नही पाया। अतः, वे काकभुसुंडि के शब्दो में कह उठते हैं—

**निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहे।**

७.९२.६

राम ही क्यों, भरत के प्रति भी उनकी वैसी ही श्रद्धा है। लगता है, तुलसी के मन-प्राणो पर यदि अकारण किसी पात्र का एकछत्र साम्राज्य है, तो भरत का ही। भरत विमल यशरूपी विमल विधु को कवि की सुमति रूपिणी चकोरकुमारी एकटक निहारती है, भला वर्णन करे तो कैसे? भरत का स्वभाव जब आगम-निगम के लिए अगम है तो तुलसी अपनी लघुमति की चपलता क्यों दिखलाएँ? इसीलिए उन्होने परमज्ञानी जनक का कराश्रय ग्रहण किया। जनक ने भी भरत के महान् चरित्र के लिए अनेक उपमान ढूँढ़े, किन्तु अन्त में उन्हें कहना पड़ा—

**निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरतु भरत सम जानि।**
**कहिअ सुमेरु कि सेर सम कवि कुल मति सकुचानि॥**

—२.२८७

---

१ : एकस्योपमेयोपमानत्वेऽनन्वयः — वामन, काव्यालंकार सूत्र, ४/३/१४

२ : एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः — रुय्यक, अलंकारसर्वस्व सूत्र, १३

३ : उपमानोपमेयत्वे यत्रैकस्यैव जाग्रतः — जयदेव, चन्द्रालोक ५/१२

४ : उपमानोपमेयत्वम् एकस्यैव त्वनन्वयः — साहित्यदर्पण – १०/ ६

५ : यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम्। — भामह, काव्यालंकार— ३/४५

६ : ,, ,, — उद्भट, काव्यालंकार-सार-संग्रह [illegible]

७ : [illegible] — रसगंगाधर

ऐसे अनुपम भरत, चंपक वन में चंचरीकवत् निवासकर्त्ता भरत अपनी माता कैकेयी की कुकरनी के कारण पश्चात्ताप के तुषानल में किस प्रकार तिल-तिल दग्ध हो रहे हैं, इनका वर्णन गोस्वामी जी ने इस प्रकार किया है —

**स्वामि गोसाईंहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मै साँइ दोहाई॥**

२ २६७ ४

"मोहि समान में साँई दोहाई" में अनन्वयरीत्या की जो ग्लानि उमडी है, भरत का चरित्र जिस तरह उमडा है, उसके लिए कोई कवि हजार-हजार चौपाइयाँ लिखकर ऐमा प्रभाव उत्पन्न नही कर सकता। तभी तो भगवान राम को स्वयं कहना पडा—

**करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।**
**गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥**

२ ३०३

रूप-वर्णन में लखन-शत्रुघ्न के नख-शिख-वर्णन के समय त्रिभुवन में उन्हे एक भी उपमा न मिली—"उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं।"

**उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहु कबि कोबिद कहैं।**
**बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एहैअहैं॥**

१.३११.१०

एक स्थान पर दशरथ-जनक के मिलन के समय उपमा खोज-खोज कर कवि थक गया। वीप्सा कवि की परेशानी की ओर सहज ही इंगित करती है और तव गोस्वामी जी कहते हैं—

**लही न कतहु हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥**

१.३२०.३

इस प्रकार समुचित उपमान के अभाव में गोस्वामी जी ने अपने विशिष्ट पात्रो के अनन्वित चरित्र एव प्रभाव-निरूपण के लिए अनन्वय का अनन्वित प्रयोग किया है।

३ : उपमेयोपमा :

उपमेय और उपमान को परस्पर एक दूसरे का उपमेय-उपमान वना देना उपमेयोपमा अलंकार कहलाता है।[1] यह परिभाषा भामह कथित परिभाषा का ही सूत्रवद्ध रूप है।[2] दडी, मम्मट, जयदेव, विद्यानाथ और विश्वनाथ आदि आलंकारिकों ने प्रायः स्वविध शव्दावली का प्रयोग किया है, किन्तु उत्तरालंकारिकों ने उपमेय और उपमेय के परस्पर विनिमय के अतिरिक्त एक और अनुबंध लगाया है कि उपमेयोपमा के चमत्कार के लिए तृतीय सदृशव्यवच्छेद आवश्यक है[3] अर्थात् वर्णन से शव्दत. ऐमा ज्ञात हो कि इसके सदृश ससार में अन्य तृतीय पदार्थ है ही

१ : पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता — साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३०३
२ : उपमानोपमेयत्व यत्र पर्यायतो भवेत्
उपमेयोपमां नाम ब्रुवते ता ययोदितम् — भामहालंकार—३/३७
३ : तृतीय सदृशव्यवच्छेदं वुद्धिफलकवर्णनविषयी भूत
परस्परमुपमानोमेयभावमापन्नयोर्र्थयोः
साधर्म्यमुपमेयोपमा — रसगंगाधर

नहीं। दंडी, रुद्रट तथा भोज ने उन्हें उपमा के भेद के अंतर्गत ही रख कर—अन्यन्योपमा[1] तथा उपमेयोपमा[2] नाम क्रमशः दिये है।

उपमेयोपमा में कवि की मानसिक वृत्तियो के संकट का आभास मिलता है। अपनी वर्ण्य-वस्तु के लिए उपमान प्रस्तुत करने के पश्चात् जब वह उपमान को वर्ण्य बनाना चाहता है, तो वह उस वर्ण्य के लिए नवीन उपमान ढूँढना चाहता है। अत्यधिक मानसिक व्यायाम करने पर भी उसे कोई अन्य (तीसरा) नवीन उपमान नही मिलता। वह पुनः अपने पूर्व विषय की ओर लौटता है और तब सोचता है कि जिसे उसने पहले उपमेय बनाया था वही, कवल वही उपमान बनने की क्षमता रखता है और ऐसी स्थिति में उपमेय-उपमान के परस्पर स्थानान्तरण में उपमेयोपमा की उत्पत्ति हो जाती है।

मानस में गोस्वामी तुलसीदास को एकाध स्थल को छोड कर शायद ही कही ऐसी स्थिति से गुजरना पडा हो। उपमा या व्यतिरेक पद्धति से उनके समक्ष उपमानों का अक्षय-कोष खुल जाता है, उनका मानस ऐसे वात्याचक्र में नही उलझता कि उन्हे उपमेय-उपमान का परस्पर विनिमय करना पडे। यही कारण है कि उपमेयोपमा-जैसा बहुप्रथित अलंकार उनके मानस में उदाहरण-मात्र ही प्राप्त होता है। कौशल्या के शब्दो में कवि राम और भरत के पारस्परिक प्रेम का उल्लेख करता है—

**राम प्रानहुते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे॥**

२.१६८.१

भरत के लिए रघुपति प्राण-सदृश हैं और रघुपति के लिए भरत भी प्राण के सदृश ही हैं। भरत-राम की परस्पर अनुरक्ति के लिए कवि को इतर उपमान प्राप्त न हो सका है और इसलिए यहाँ उपमेयोपमा के द्वारा ही उन्हें अपने कथन को स्पष्ट एवं आकर्षक बनाना पडा है।

४ : स्मरण :

जहाँ किसी सदृश वस्तु के स्मरण से अन्य वस्तु का स्मरण हो, वहाँ स्मरण अलंकार होता है—ऐसा रुय्यक[4] का कथन है। वस्तुतः इस अलंकार के उद्भावन का श्रेय रुद्रट[5] को है, किन्तु समासतः रुद्रट की परिभाषा का ही संक्षिप्तीकरण मम्मट,[6] शोभाकर,[7] विश्वनाथ,[8] विद्याधर[9]

---

१ : तवाननमिवाम्भोजमिव ते मुखम्
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी। — काव्यादर्श २/१

२ : वस्त्वन्तरमस्त्यनयोर्न सममिति परस्परस्य यत्रमवेत
उभयोरुपमानत्व सकृमनुभयोपमा सान्या। — काव्यालंकार ८/९

३ : विपर्यासोपमा तासु प्रथमाथोभयोपमा
अथोत्पाद्योपमा नाम तुरीयानन्वयोपमा। — सरस्वती-कंठाभरण, ४/२३

४ : सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तर स्मृतिः स्मरणम् — अलंकारसर्वस्व, पृ० ९८

५ : वस्तुविशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम्। — काव्यालंकार, ८, १०९

६ : यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः। — स्मरणम्
काव्यप्रकाश

७ : सदृशानुभवात् स्मरणे स्मृतिः। — अलंकाररत्नाकर

८ : सदृशानुभवादन्य स्मृतिः स्मरणमुच्यते। — साहित्यदर्पण

९ : सदृशं सदृशानुभवादन्य स्मर्यते तत् स्मरणम्। — एकावली

और विद्यानाथ,[1] आदि ने किया है। विश्वनाथ राघवानंद महापात्र[2] के विचार का अनुमोदन करते हुए विरुद्ध वस्तु के अनुभव से उत्पन्न स्मरण को भी स्मरणालंकार मानते हैं। स्मरण अलंकार में दो वस्तुओं अथवा दो स्थितियों का सादृश्य अथवा वैसादृश्य वर्णित किया जाता है। कभी स्मर्यमाण के द्वारा अनुभूयमान की सदृश या विसदृश कल्पना की जाती है, तो कभी अनुभूयमान के द्वारा स्मर्यमाण की सदृश या विसदृश कल्पना की जाती है। अधिकाश अवस्थाओ में उपमेय को देखकर उपमान का स्मरण होता है किन्तु ऐसी भी स्थिति होती है जब उपमान को देखकर उपमेय स्मृत हो जाय तथा साहचयजनित् पूर्वस्थितियाँ मानस में उमड-घुमड़ कर तदनुकूल वातावरण का निर्माण कर दें। वैसे तो प्रायः सभी अलकार मनोवैज्ञानिक मानसिक प्रक्रिया से सवद्ध हैं, किन्तु स्मरण का तो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से बडा ही प्रगाढ़-प्रत्यक्ष संबध है।

मानस में सादृश्य तथा वैसादृश्य दोनो के द्वारा स्मरणालंकार के उदाहरण मिलते हैं। पुष्पवाटिका मे श्यामल राजकुमार गुरु के पूजा-निमित्त फूल लेने आये हैं। उनके रूप ने सब पर मोहिनी डाल दी है। यत्र-तत्र-सर्वत्र सभी राम की रूप-प्रशंसा करते अघाते नही। इस नृप-सुत के दर्शन के लिए सीता के लोचन भी अकुला रहे हैं। किन्तु, कुमारी सीता परपुरुष को देखे तो कैसे? प्रीति का उपहार दे तो कैसे? ऐसे अवसर पर गोस्वामी जी ने स्मरण अलंकार की अवतारणा कर सीता के उज्ज्वल चरित्राकन के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की महत्ता को भी अक्षण्ण रखा है। यहाँ कवि यदि किसी दूसरे अलंकार का पल्ला पकडता, तो सब गुड गोबर हो जाता, कवि की कला पर कालिमा-रेखा लग जाती। अतः, ऐसे ही अवसरो पर गोस्वामी जी की अलकारपटुता देखते बनती है। दोहा है—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी पीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत।।

१.२२९

वैसादृश्य के द्वारा स्मरणालंकार के कई अच्छे उदाहरण मानस में मिलते हैं—

१ : सती[3] जाय देखेउ तब जागा। कतहु न दीख संभु कर भागा।।
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ।।

१.६३.४-५

२ : बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती।।
तापस अन्ध साप सुधि आई। कौसल्याहि सब कथा सुनाई।।

२.१५४.३-४

३ : रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।।
होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज।।

२.२१६

४ : बिरह बंत भगवंतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेषी।।
मोर श्राप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा।।

३.४१.५-६

५ : भएउ कोलाहलु नगर मझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी।

६.१८.८

---

१ : सदृशानुभवादन्यस्मृति: स्मरणमुच्यते—प्रतापरुद्रीय
२ : राघवानन्द महापात्रास्तु वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालंकारमिच्छन्ति—पृष्ठ ३०३
३ : अन्य उदाहरण—सरल बचन सुनि के नृप काना। बैर सँभारि हृदय हरपाना।।

इन उदाहरणों में वैसादृश्य के द्वारा पात्रों के मानसिक भूचाल को कवि ने बड़ी सफलता से व्यक्त किया है। सती, दशरथ, भरत तथा नारद के प्रसंग में तो स्मरणालंकार ने पात्रों की मनोव्यथा की बड़ी ही आर्द्र अभिव्यक्ति की है। वस्तुतः ऐसे ही स्मरण पात्रों के अंतस्-द्वार का उद्घाटन करते है और उन्हें सहृदयों की सजल सहानुभूति से अभिषिक्त करते हैं।

## ५ : अभेदप्रधान : रूपक

रूपक सादृश्यमूलक अभेदप्रधान आरोपधर्मी अलंकार है। इसे भी भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित[1] करने का प्रयत्न किया गया है तथा अभेद प्रतीति[2] और ताद्रूप्य प्रतीति को लेकर पूरा शास्त्रार्थ किया गया है। इन विवादों एवं शास्त्रार्थों मे न उलझकर इतना कथन ही पर्याप्त होगा कि उपमा जहाँ दो भिन्न-धरातलीय पदार्थों में सादृश्य प्रदर्शन करती है, वहाँ रूपक के द्वारा दो भिन्न-धरातलीय पदार्थों में अभिन्नता अथवा तद्रूपता उपस्थित की जाती है। इसलिए दंडी का कथन ठीक ही मालूम पड़ता है कि उपमेय और उपमान मे भेद मिटा देने पर उपमा ही रूपक कही जाती है।[3]

रूपक के स्वरूप के विषय में ही मतभेद हो ऐसी बात नहीं, वरन इसके भेदोपभेद को लेकर भी आलंकारिकों मे पर्याप्त मतभेद है। भामह ने समस्त वस्तुविषय तथा एक देश-विवर्ति— दो भेद माने है।[4] दंडी ने रूपक के बीस भेदों का उल्लेख किया है।[5] भामह के समस्तवस्तुविषय को उन्होने सकल रूपक कहा है।[6] उद्भट भी भामह के दोनों भेदों को स्वीकारते है, किन्तु वे समस्त

---

१ : क. तद्रूपकमभेदोऽय उपमानोपमेययो॰। मम्मट का० प्र० १०/१३०

ख. अभेदप्रधानाये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्। रुय्यक, अलंकारसर्वस्व, सू॰ १५

ग. यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षित सामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम। रुद्रट, काव्यालंकार ८/३८

घ. रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०/२७ के बाद

२ : क. अभेदप्रतीतिवाला तत्त्व मम्मट की उपरिकथित परिभाषा में निहित है।

ख. रूपक में अभेद प्रतीति नहीं होती है—इसका निर्देश हेमचन्द्र की परिभाषा में इस प्रकार है— काव्यानुशासन ६/५
सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेक विषयम्।

ग. अप्पय दीक्षित ने रूपक में ताद्रूप्य प्रतीति का खण्डन किया तथा पुनः रूपक की परिभाषा में 'उपरञ्जकता' शब्द का उल्लेख कर उसका अर्थ ताद्रूप्य बतलाया है। यह स्वतोव्याघात है।
—देखें, चित्रमीमांसा पृष्ठ ५२ से ६६ पृष्ठ तक

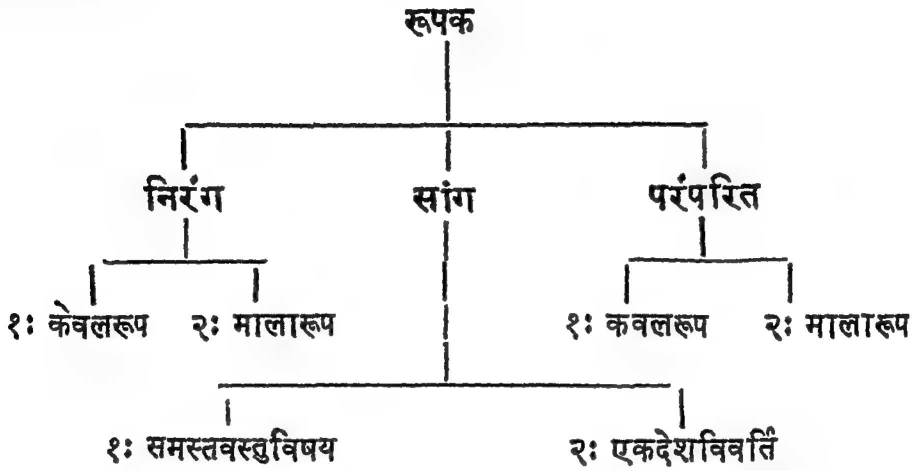
३ : उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते। काव्यादर्श २/६६

४ : समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्तच्चोच्यते यथा। भामह, काव्यालंकार २/२२

५ : काव्यादर्श. २/६६-२९५

६ : ताम्रांगुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम्।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम्॥
अंगुल्यादौ दलादित्वं पादे चारोप्य पद्मताम्।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत् सकलरूपकम्॥ काव्यादर्श, २/६९/७०

वस्तुविषय का नाम मालारूपक देते हैं।[1] रुद्रट ने रूपक के तीन भेद माने—सावयव, निरवयव और संकीर्ण। मम्मट अपने वर्गीकरण का आधार रुद्रट से ही ग्रहण करते हैं और संकीर्ण को ही परंपरित कहते है। सावयव तथा निरवयव को ही क्रमशः साग तथा निरंग रूपक कहा जाता है। रूपक के मुख्यतः निरंग, सांग और परंपरित—ये ही तीन भेद है और भेदों का निरूपण मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियो ने किया है। अतएव, रूपक के प्रमुख ये ही भेद विचारणीय हैं—




गोस्वामी तुलसीदास जी अलंकारो की कार्यक्षमता से पूर्णतः परिचित थे। उपमा किसी वस्तु को दूर से दिखाकर विरत हो जाती है, वह स्वयं रूप-धारण नही करती। रूपक तो मानस-चक्षु के समक्ष भाव की मूर्त्ति ही उपस्थित कर देता है। मानस के पग-पग पर हम रूपक की मूर्त्ति-विधायनी शक्ति का चमत्कार पाते हैं। वैसे तो भाषा ही विवर्ण रूपको की पुस्तक है।[3] इसकी विवृत्ति यदि दूसरे प्रकार से करें, तो कह सकते है कि समृद्ध भाषा का अभिज्ञान ही इन म्लान रूपको के द्वारा होता है। जैसे—

**बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥**

१.१०.४

**सो दस सीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥**

३.२८.६

यहाँ 'सँवारी' तथा 'भड़िहाई' में रूपकत्व की छटा देख सकते है।

मानस में रूपक के प्रमुख छहों भेदों के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण प्राप्त है—

**बंदौं गुरपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥**
**अमिअ मूरिमय चूरनु चारु। समन सकल भवरुज परिवारु॥**
**सुकृत संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥**
**जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलकु गुनगन बस करनी॥**

---

१ : समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते।

—उद्भट १, २५

२ : सावयवं निरवयवं संकीर्णं चेति भिद्यते भूयः।

—काव्यालंकार ८/४१

३ : Language is a book of faded Metaphors.

श्री गुरपद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन हीके। मिटहिं दोष दुख भव रजनीके॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक॥

१.१.१-८

रामचरितमानस के शुभारंभ होते ही निरंग रूपकों की महार्घ मणियाँ जगमगाने लगती हैं। उपमेय, गुरुपद, भव, सुकृति, मञ्जुमन, श्री गुरुपद-नख, मोह, भव तथा रामचरित के लिए क्रमशः उपमान पदुम, रुज, संभुतन, मुकुर, मनिगन, तम, भव तथा मनि-मानिक के आरोप होने से निरंग रूपक हैं। ये सारे आरोपण असम्बद्ध होते हुए भी अर्थ-सम्बद्धता के अभिनव गवाक्ष खोलते हैं। इस केवल निरंग रूपक के साथ मालारूप निरंग रूपक का संयोजन तो तुलसी की अपनी विशेषता है। गुरु-पद-पदुम का पराग, स्वाद, सुगंध, रस और अनुराग से परिपूर्ण है। अन्य पराग में भले ही सुरुचि, रस और अनुराग न हो, किन्तु गुरु-पद-पदुम-पराग का तो यही वैशिष्ट्य है। यह पराग क्या है? संजीवनी बूटी का सुंदर चूर्ण है—जिसके प्राप्त होते ही एक नहीं, वरन् सम्पूर्ण सांसारिक रोगों के परिवार नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, यह धूलि पुण्यवान् पुरुषरूपी शंकर के तन पर विराजमान निर्मल विभूति है। यह पदरज मंजुल-मंगल आनन्द की जननी है। यह मानवों के मन-रूपी निर्मल दर्पण पर पड़ी मैल को दूर करनेवाली है। यदि मस्तक पर इस पदरज का ही तिलक किया जाय, तो मनुष्य अनंत गुणों को वश में कर सकता है। इस तरह केवलरूप एवं मालारूप निरंग रूपक के समाहार द्वारा गोस्वामी जी गुरुपद पद्म-पराग के माहात्मय का दिग्दर्शन कर रामचरितमानस के पाठकों के चित्त का परिष्कार एवं रोग-विमुक्त करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि जबतक मनुष्य पूर्णरूपेण आधि-व्याधि से मुक्त नहीं होगा, तबतक वह किसी प्रकार का पुरुषार्थ नहीं कर सकता। अतः, गुरु-पद-पदुम-पराग से मन-मुकुर को निर्मल कर तथा अपने अंतःकरण में सद्गुणों को विकसित कर गुरु के पद-नखों के मणिगणों से विच्छुरित ज्योति को तो समक्ष रखने पर प्रकाश मिलता है, किन्तु गुरु पद-नखों से विकसित प्रभा के स्मरण मात्र से दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। गीता में भगवान् अर्जुन को दिव्य दृष्टि देते हैं ( दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरं )—यहाँ गुरु-पद-नख का स्मरण ही दिव्य-दृष्टि प्रदान करता है। गोविंद से गुरु बड़ा है—ऐसा निर्गुणिया संतों ने कहा था—गोस्वामी जी इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि गुरु की और बातों को छोड़ो। उसके पद-नखों के प्रकाश में ही ऐसी शक्ति है कि आत्मा में दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। इस संसार में माया जीवों को अनेकानेक कष्टों में उलझाए रहती है। मनुष्य मायाकृत अंधकार के कारण सद-असद् विवेक खो बैठता है। उसे अपना गंतव्य दीख ही नहीं पड़ता है। यह ज्योति अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करती है तथा हृदय के वह नेत्र खुल पड़ते हैं। संसाररूपी रात्रि के सारे दुःख दूर हो जाते हैं। संसाररूपी रात्रि के दुःख का क्या कहना! कामासक्ति, परदोष-कथन, अज्ञान, स्वरूप-विस्मृति, वासना, मोह, द्वेष, काम क्रोध-मद-लोभ और मद-मान आदि निशाचरों का भय, सुतवित्त, पुत्र कलत्र, धन-धाम से मिथ्या संबंधों को सत्य मानना आदि। इतने सारे अनर्थों वाली संसार-रजनी के दोषों को दूर करनेवाली गुरु-नख-प्रभा है और हृदय में प्रकाश का पुंज फूटा तो फिर रामचरितरूपी मणि माणिक्य को ढूँढ निकालना क्या कठिन कार्य होगा? कदापि नहीं। अतः, रामचरितरूपी मणि-माणिक्य के लिए सबसे सुगम उपाय है गुरु-पद नख ज्योति का स्मरण। इस प्रकार निरंग रूपकों में इतना अगाध अर्थ भर दिया गया

है कि वस्तुतः तुलसी के लघु निरंग रूपक ऐसे घटयोनि हैं, जो अपनी चुल्लुओ में अर्थ के असीम सागर भर लेते है।

सूचीकटाहन्याय से एकदेशविवर्ति सांग रूपक का सौंदर्यावलोकन करें—

**नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।**
**लोचन निज पद जंत्रित, जाहि प्रान केहि बाट॥**[1]

श्री राम ने जब हनुमान से पूछा कि सीता किस प्रकार अपने प्राणो की रक्षा करती है, तो इसी के उत्तर में उन्होंने कहा है कि आपके वियोग में तो सीता के प्राण कब के भाग गये होते। किन्तु, भागें तो कैसे ? हर क्षण आपके नाम का स्मरण ही पहरेदार है, आपका ध्यान करना ही किवाड है तथा अपने पाँवो की ओर नेत्र झुकाये रखना ताला लगा देना है। बंदी प्राण शरीर की कोठरी में रख दिये है—जिसमें मजबूत किवाड लगे है और उस पर भी ताला बंद हैं। इतना ही नही, कही जबर्दस्त बंदी किवाड तोड न डाले इसलिए सजग पहरेदार भी हर घडी तैनात है। बंदी जीवन को ध्यान में रखकर गोस्वामी जी ने सीता की विरहावस्था तथा राम के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा समर्पण का बडा ही सुंदर चित्र खीचा है। सीता-जैसी साध्वी नारी को जहाँ ले जाएँ—स्वर्णपुरी हो कुबेरपुरी हो, या इन्द्रपुरी हो, अपने पातिव्रत्य के मार्ग से कभी कही विचलित हो ही नही सकती।

मानस में समस्तवस्तुविषय सांग रूपक अनेक हैं, कुछ बडे लम्बे है तथा कुछ छोटे। प्रलम्ब समस्तवस्तुविषय में उल्लेख्य ये हैं—

| | |
|---|---|
| १ : रामचरितमानस-सर[2] | २ : रघुबर-बाल-पतंग[3] |
| ३ : सकर-चाप-जहाज[4] | ४ : रोष-तरंगिनी-कैकेयी[5] |
| ५ : तीर्थराज प्रयाग[6] | ६ : अरण्य-रामराज्य[7] |
| ७ : आश्रम-सागर[8] | ८ : जनक-भूपमन-प्रयाग[9] |
| ९ : भरत-हिय-विमल आकाश[10] | १० : काम-कटक[11] |
| ११ : भरत-उर व्योम[12] | १२ : मोह-विपिन[13] |
| १३ : विश्व रूप रघुवंश मणि[14] | १४ : धर्मरथ[15] |
| १५ : शोणित-सरिता[16] | १६ : संसार-विटप[17] |
| १७ : राम-प्रताप-रवि[18] | १८ : ज्ञानदीप[19] |
| १९ : भक्ति-चिंतामणि[20] | २० : मानस-रोग[21] |

वस्तुतः ये ही वे रूपक हैं, जिनके कारण महाकवि अपने महाकाव्यात्मक औदार्य एवं माहात्म्य का पटहनाद करते है। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी में शायद ही कोई कवि

१ : ५.३०
२ : १ ३६-४३
३ : १.२५४-१ २५५
४ : १ २६०-१ २६१
५ :
६ : २.१०४-२.१०५
७ : २ २३५-२ २३६
८ : २ २७५-२ २७६
९ : २ २८८ ५-२.२८६
१० : २ ३२५
११ : ३ ६८
१२ : ३ ४२क
१३ : ३.४३
१४ : ६ १४-६.१५
१५ : ६ ८०
१६ : ६ ८७-६.८८
१७ : ७ १३ ५ छद
१८ : ७.३१
१९ : ७ ११७-७.११८
२० : ७.१२०
२१ : ७.१२१ (क)

मिले, जो इतने दीर्घ-प्रसारी समस्तवस्तुविषय सांग रूपक का कुशलतापूर्वक निर्वाह करता हो। मानस के आदि में मानससर तथा अंत में ज्ञानदीप रूपक हैं, जो सबसे विशाल है। वस्तुतः ये मानस-प्राकार के प्रवेश-द्वार और निर्गम-द्वार के सुदृढ़ हीरक कपाट हैं। मानससर में केवल कामी काक बलाक को ही कठिनाई नही है, वरन् पंडितम्मन्य व्यक्ति भी मानससर-विस्तार को दूर से ही देखकर क्लिन्न-खिन्न हो जाते हैं। ज्ञानदीप तो गोस्वामी जी के गंभीर दार्शनिक चिंतन के घृत से ही ज्योतिर्मान् है। मानससर में अवगाहन के लिए प्रभुकृपा सर्वाधिक स्पृहणीय है। किन्तु, यह प्रभुकृपा ज्ञानदीपक से प्रकाशित मन-मंदिर में प्राप्त नही होती वरन् इसके लिए भक्ति-चितामणि की परम आवश्यकता है। जिसे भक्ति-चितामणि मिल गयी, उसे और कुछ न चाहिए, बस सारे मानस-रोग क्षण भर में दूर हो जायेंगे। बीच में पडनेवाले अन्य रूपक तो इस मानस-प्राकार के मध्यवर्त्ती भवन, तड़ाग, उपवन, मंदिर-कलश आदि की तरह सुशोभित हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की रूपक-योजना पर आलोचकों के तरह-तरह के विचार हैं—कोई उनको रूपक का बादशाह[1] मानते हैं तो कोई रूपक को उनकी अलंकार-योजना का प्राण मानते हैं।[2] आचार्य पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है—"अप्रस्तुतविधान में तुलसी इतने सिद्धहस्त हैं कि वे विना किसी रोक-टोक के बड़े लंबे रूपक बाँध जाया करते हैं। मानस-रूपक बडा लंबा है, पर कहीं भी बेमेल नही है और न कहीं शृंखला ही टूटने पायी है। इसी प्रकार उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में बडे-बडे रूपक बाँधे हैं। इसमें संदेह नही कि तुलसी के समान रूपक का बंधान बाँधनेवाला हिन्दी में कोई कवि नही हुआ।"[3]

"उन्होंने अपने लम्बे-लम्बे सांग रूपकों में भी मजाल नही है कि सादृश्य और मर्मस्पर्श का आद्योपान्त निर्वाह न किया हो, साथ ही उनकी पूर्ण प्रभविष्णुता न दिखाई हो। उन्होंने ऐसे रूपकों की योजना सामान्यतया गंभीर विषयों को सरस एवं सरल रीति से हृदयंगम कराने के लिए की है और उसमें पूर्णतः सफल हुए हैं।"[4] डॉ० राजपति दीक्षित का कहना है—"गोस्वामी जी ने रूपक अलंकार पर अनुपमेय अधिकार दिखाते हुए इसका प्रयोग अपनी सभी कृतियों में पग-पग पर किया।"[5] डॉ० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है—"तुलसी के सांग रूपक इस प्रकार के साहित्यिक खिलवाड मात्र नही हैं, परन्तु उनमें उपदेशतत्त्व ही प्रधान है, काव्यतत्त्व नहीं।"[6] पुनः वे लिखते हैं—"बडे-बड़े सांग रूपकों में इस प्रकार की खींचातानी और दुरान्वय दोष तो भरे पड़े हैं, छोटे-छोटे रूपकों में भी काव्य सौंदर्य का प्रायः अभाव है।"[7] एक लेखक के वाक्य हैं—"गोस्वामी तुलसी रूपकालंकार के अप्रतिम आचार्य हैं। .... उनके रूपकों में केवल कल्पना की चमत्कृति नहीं, किन्तु सरसता, सरलता और दिव्यता की त्रिवेणी सर्वत्र

१. कवितावली की प्रस्तावना, लाला भगवान दीन, पृष्ठ ३१
२. तुलसी की अलंकार-योजना : नरेन्द्रकुमार, पृष्ठ ८०
तुलसी, डॉ० उदयभानु सिंह द्वारा संपादित पुस्तक मे।
३. कवितावली, अंतर्दर्शन, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ३१
४. कवितावली, अन्तर्दर्शन, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ ३१
५. तुलसीदास और उनका युग, डॉ० राजपति दीक्षित, पृष्ठ ४३५
६. मानस-दर्शन, डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ ११०
७. मानस-दर्शन, डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ ११४

बहती हुई मिलती है।[1] गोस्वामी जी की रूपक-सृष्टि पर इतनी परस्परविरोधिनी मान्यताएँ है कि सहसा कोई निष्कर्ष देना निरापद नही है।

इन लम्बे सांग रूपको के दो प्रकार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं—(१) एक में सूक्ष्म भावो के लिए आरोपण है तथा (२) दूसरे में स्थूल वस्तु के लिए आरोपण।

रामचरितमानस सर, विश्वरूप-रघुवंश-मणि, ससार-विटप, ज्ञानदीप तथा मानस-रोग मे मानसिक अगोचर सूक्ष्म भावो के लिए जागतिक गोचर स्थूल पदार्थ प्रस्तुत किये गये हैं, अतः ऐसे स्थलो में तार्किक बुद्धि को निराशा होती है। ये रूप सामान्य-जन-दृष्ट नही हैं वरन् कविदृष्ट। जब पण्डित सुमित्रानंदन पंत 'नील झंकार' की बात कहते है, तो वहाँ 'झंकार' के वर्ण को लेकर मतवैभिन्न्य हो सकता है; क्योंकि झंकार का रंग श्रेष्ठ कवि के विरल सृजनात्मक क्षणों मे देखा गया है। यदि सामान्य-जन ऐसे विशिष्ट क्षणो में अपने को स्थानान्तरित नही करता, तो उसे उसका बोध होगा नही और निर्बोध तो निरानन्द रहेगा ही। श्री अरविंद की 'सावित्री' मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ योग-भाषा का प्रयोग हुआ है और उसका आनन्द योगी ले सकता है या योगी बनकर ही लिया जा सकता है।

सर्वप्रथम मानस-रूपक को ही देखें। सुमति भूमि है, तो हृदय गहरा स्थल कैसे हुआ? राम सुयश श्रेष्ठ जल कैसे है? सगुण लीला को सुयश जल की स्वच्छता और प्रेमा भक्ति की मधुरता और सुशीलता मानने का क्या कारण है? सत्कर्म को ही धान क्यों कहे या फिर धान छोड़कर कोई अन्य अन्न का उल्लेख क्या संभव नही था? उपमा को वीचिविलास, चौपाई को सघन पुरइन, सुन्दर उक्तियो को मणि-सीप, छंद, सोरठा तथा दोहे को बहुरंग कमल कुल, अनुपम अर्थ को पराग, सुन्दर भाव को मकरद और सुन्दर भाषा को सुगंध क्यो कहा गया? भाषा के आवरण में ही सुन्दर भाव रहता है। क्या सुगंध मे ही मकरंद और पराग रहते हैं? सुकृत पुंज को मंजुल मणिमाला, ज्ञान-विराग के विचार को मराल, ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण और जाति को मनोहर मीन, अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष, ज्ञान-विज्ञान-विचार, नवरस, जपतप-योग-विराग को जलचर कहने का क्या तात्पर्य है? अभी ही ज्ञान-विराग विचार को उन्होने मराल कहा था, फिर ज्ञान-विराग विचार को जलचर कहा—आखिर इसकी आवृत्ति का प्रयोजन क्या है? पुण्यात्मा, साधु और श्रीरामनाम के गुणगान को जल-विहग क्यो कहा? सत-सभा सरोवर के चारो ओर रहनेवाली अमराई मानी गयी। श्रद्धा वसत ऋतु है, नानाविध भक्ति-निरूपण, क्षमा, दया तथा द्रुम-लता-मडप हैं, शम, यम, नियम, फूल, ज्ञान, फल, प्रभु-चरणो मे प्रेम ही फल का रस है। कथा सुनकर रोमाच होना वाटिका, बाग और वन हैं, कथा से प्राप्त सुख सुन्दर पक्षियो का विहार है, निर्मल मन माली है जो प्रेमरूपी जल से सुन्दर नेत्रो के पात्र से इन्हें सींचता रहता है।

'संसार-विटप' वाला एक दूसरा रूपक देखें।[2] इस विटप का मूल अव्यक्त है, इसकी चार त्वचाएँ, छह तने, पचीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और बहुत-से फूल हैं। इसमें कडवे और मीठे—दो प्रकार के फल लगे हैं। इस विटप पर सदा फूलने-फलने वाली एक ही लता छायी रहती है। इस रूपक को लेकर अब मानस-व्यायाम करते रहिए। विटप का मूल अव्यक्त कैसे हो सकता है? वृक्ष में क्या त्वचाओ की संख्या निश्चित होती है? ये चार त्वचाएँ, छह तने,

१ : साहित्य-सम्राट् तुलसीदास, गगाधर मिश्र, पृष्ठ २६०

२ : ७.१३ ५ वाँ छंद

पचीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और बहुत से फल क्या है? आखिर यह कैसा विचित्र वृक्ष है कि इसमे कड़वे और मीठे—दोनो प्रकार के फल लगे हैं? ये कडवे और मीठे फल क्या है? इस वृक्ष पर आश्रित रहनेवाली तथा सदा फूलने-फलने वाली कौन सी वेल है? ऐसे रूपक में साधारण पाठकों की बात तो छोडिये, पंडितों की बुद्धि भी चकराने लगती है तथा उनके लिए भी किसी निर्णय पर पहुँचना सुगम नहीं हो पाता है।

'ज्ञान – दीपक' रूपक का एक अंश देखिए। अज्ञानांधकार से आवृत्त जीव 'मैं और मोर' की ग्रन्थि से मुक्ति कैसे पावे? इसके लिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि भगवान की कृपा से सात्त्विक श्रद्धारूपी गाय हृदयरूपी घर में निवास करे, वेदोक्त जप, तप, व्रत, नियम, शुभ धर्म और आचार की हरी घास चरे, भावरूपी वछडे से पेन्हावे, निवृत्ति की नोई लगाकर निर्मल मनरूपी ग्वाला जब विश्वासरूपी पात्र में धर्ममय दूध दुहे, उस दूध को निष्काम भाव-रूपी अग्नि पर अच्छी तरह औंटे, औंटने के बाद संतोष और क्षमारूपी हवा में ठंढा करे, धैर्य और जामन देकर जमावे, दूध जब जमकर दही बन जाय तो मुदितारूपी माँढ मे विचाररूपी मथानी से इन्द्रियदमनरूपी खम्भे में सत्य और सुन्दर वाणीरूपी रस्सी से बाँधकर मथे, मथा जब हो जाय तो विमल विरागरूपी मक्खन निकाले, मक्खन निकाल लेने के बाद योगरूपी अग्नि प्रकट कर शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन लगा दे। वैराग्यरूपी मक्खन का जब ममतारूपी मल जल जाय, तो ज्ञानरूपी घी को बुद्धिरूपी पखे से ठंढा करे। जब विज्ञानरूपी घी को पाये, तो उसे चित्तरूपी दीपक में भर दे और समतारूपी दियट पर दृढ़ कर रखे। तीन अवस्थाओं तथा तीन गुणों रूपी कपास से तुरीयावस्थारूपी सूत्र निकालकर सुन्दर मजबूत बाती बनावे। जब चित्तरूपी दीपक-स्थित ज्ञान-घृत में तुरीयावस्था रूपी कपास से बनी बाती रखी जाय, उस तेजराशि विज्ञानमय दीप को जब जलाया जाय, तो उसके समक्ष मदादि पतंग शीघ्र जल जायँगे। 'सोऽहमस्मि' यह अखंड वृत्ति उस दीपक की प्रचंड लौ है, आत्मानुभव ही इस दीपक का सुखमय प्रकाश है और इस सुखमय प्रकाश में संसार के मूल रूप भेदरूपी भ्रम का नाश हो जाता है।

इसी तरह मानस रोग की आरोपण-शृंखला देखें। काम वात, लोभ कफ है, क्रोध छाती-जार पित है। ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद गलगँड है, दूसरे का सुख देख कर जलना क्षय रोग है, दुष्टता और मन की कुटिलता कुष्ट रोग है, दंभ, कपट, मद, मान नेहरुआ, तृष्णा जलोदर तथा त्रिविधा ईषणा तीन दिनों पर आनेवाला ज्वर है। किन्तु, जहाँ-जहाँ स्थूल वस्तुओं के लिए आरोपण-शृंखला चली है, वहाँ मानस गोचरता एवं सुबोधता का अभाव नहीं है।

गोस्वामी जी के रूपक ऐसे सेनाध्यक्ष हैं, जिनके मैदान मे आते ही अन्य अलंकारों की सेना स्वतः समुपस्थित हो जाती है। उदाहरणार्थ मानस-सर-रूपक-राज के कतिपय उदाहरणों में इन अनेक अलंकार-तार की जगमगाहट देखें—

१: संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥—मुद्रा

२: सुठि सुन्दर संवाद वर—पुनरुक्तवदाभास

३: राम सीय जस सलिल सुधा सम—उपमा

४: अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुवासा॥ यथासंख्य

५: ते त्रिविध जन विहग समाना—उपमा

६ : ऋद्धा रितु बसंत सम गाई—उपमा
७ : संबुक भेक सेवार समाना—उपमा
८ : तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक···—काव्यलिंग
९ : जे गावहिं यह रचित सेवारे। एहि ताल चतुर रखवारे ॥—निदर्शना
१० : आवत एहि सर अति कठिनाई। राम कृपा बिन आइ न जाई ॥—विनोक्ति
११ : जडता जाड़ विषम उर लागा। गएउँ न मज्जन पाव अभागा ॥—काव्यलिंग
१२ : सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेहीं ॥—विभावना.
१३ : महाघोर त्रयताप न जरई।—विशेषोक्ति
१४ : अस मानस मानस चख चाही।—यमक
१५ : मानस मूल मिली सुरसरहीं। सुनत सुजन मन पावन करहीं ॥—अक्रमातिशयोक्ति
१६ : बिच बिच कथा विचित्र बिभागा। जनु सरि तीर तीर तन बागा ॥—उत्प्रेक्षा
१७ . राम तिलक हित मंगल साजा। परम योग जनु जुरे समाजा ॥—उत्प्रेक्षा

गोस्वामी जी के प्रलंब सांग रूपकों में महासागर की विस्तृति, अंतलता एव अकल्पनीय समृद्धि दीख पडती है, तो उनके लघु सांग रूपको में कश्मीर के नयनाभिराम नीलवर्ण झीलो की मोहकता। लघु सांग रूपको में कौशल्या—प्राची,[1] समरयज्ञ, रोषतरंगिनि केकेई,[3] कैकई-कुमत-बढई,[4] चित्रकूट-अहेरी,[5] रामवियोगपयोधि[6] और शशिकेसरी[7] बड़े ही सुन्दर रूपक है। इन छोटे छोटे रूपको में प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं लोकानुभव का ऐसा सुन्दर समंजन हुआ है कि उनकी रूपक-योजना पर प्रशंसा-मूक बन जाना पडता है। एक-दो सुन्दर रूपकों की बानगी लीजिए—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनदु अधिकान ॥[8]

तथा

संपति चकई भरतु चक मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार ॥[9]

इन दोनो रूपको में नये पकड़े हाथी और चकवा-चकई के रूपक द्वारा राम तथा भरत की राज्य एव सम्पत्ति की निस्पृहा के द्वारा चारित्रिक औदात्त्य का बडा ही भव्य चित्र खींचा गया है। यही कारण है कि काल की धूल चाहे जितनी उडे, परिस्थितियो के थपेडे चाहे जितने पडें, किन्तु भारतीय जन-मानस के समक्ष राम और भरत की भव्य मूर्त्ति कभी भी विवर्ण नही हो पाती।

एक दूसरे प्रकार का रूपक देखें—

सोक कनक लोचन मति छोनी। हरि विमल गुनगन जग जोनी ॥
भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहिं काला ॥[1]

शोकरूपी हिरण्याक्ष ने सभासदों की बुद्धिरूपी ऐसी पृथ्वी को हर लिया, जो विमल गुण-गणों को उत्पन्न करनेवाली थी। भरत–विवेकरूपी वराह भगवान् ने अवतरित होकर—उस शोक-

१ : १·१६
२ : १ २८२
३ : १ ३४ १-४
४ : कैकेई कुमति बढई–२ २१४ ३-४
५ : २·१३३ ३-४
६ : १ ५४५-७
७ : ६·१२क १-३
८ : २ ५१
९ २·२१४

रूपी हिरण्याक्ष का वध कर अनायास ही बुद्धिरूपी पृथ्वी का उद्धार कर दिया। वाराह पुराण की पूरी कथा को केवल एक चौपाई में समेट कर ऐसा रूपक खडा किया गया है कि उस पर भरत-विवेक की विजय-पताका फहराने लगती है। पौराणिक कथा का सुन्दर उपयोग कोई सीखना चाहे, तो कविकुलगुरु तुलसीदास से सीखे। मानस में ऐसे अनेक पौराणिक स्थल मिलेंगे, जिनका उपयोग गोस्वामी जी ने स्वर्णमुद्रिका में हीरक-नग जैसा किया है।

मानस में परंपरित रूपक के भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं। जहाँ दूसरा आरोप पहले आरोप पर अवलंबित हो, वहाँ परंपरित रूपक होता है।[1] केवल परंपरित रूपक के एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१ : राम कथा सुन्दर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी ॥
१.११४.१

५ : प्रणवौ पवन कुमार खल बनपावक ज्ञानघन।
१.१७

३ : रामचरित चिंतामनि चारु। संत सुमति तिअ सुभग सिंगारु ॥
१. ३२. १

४ : जासु नाम भ्रम-तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा ॥
१. ११६. ४

परंपरित रूपक अश्लिष्ट और श्लिष्ट दोनों प्रकार का हो सकता है। अश्लिष्ट परंपरित रूपक के अनेक उदाहरण दिये गये। श्लिष्ट परंपरित रूपक का एक उदाहरण अलम् होगा—

रावन सिर सरोज बनचारी। चली रघुबीर सिलीमुख धारी ॥
६, ६२ ७

मालारूप परंपरित रूपक—जहाँ ऐसे आरोपों की शृंखला दिखलाई पड़े—

१ : मोह महा घन पटल प्रभंजन। संसय-बिपिन-अनल सुर रंजन ॥
६. ११५.२

२ : कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन ॥
राम रूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥
१. २६२. २-३

३ : जय रघुबंस बनज बन भानु। गहन दनुज कुल दहन कृसानू ॥
१. २८५ १

४ : हरन कठिन कलि कलुष कलेसु। महामोह निसि दलन दिनेसू ॥
पाप पुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू ॥
जनरंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारु ॥
२.३२५. ६ ८

गोस्वामी जी के रूपक-विधान का अध्ययन अन्य आलंकारिकों के रूपक-भेद के आधार पर किया जा सकता है। यह विवेचन अत्यंत विस्तृत हो जायगा, फिर भी गोस्वामी जी की रूपक-महिमा की हलकी झाँकी दिखाने का लोभ संवरण न कर केवल दंडी और अप्पयदीक्षित-कृत रूपक-भेदों के कुछ उदाहरण देकर संतोष कर रहे हैं।

दंडी के रूपक-भेद के आधार पर मानस से उदाहरण दिये जा रहे हैं—

१ : यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् तत् परंपरितम्। साहित्यदर्पण

१ : समस्त रूपक—

बंदौ गुरुपद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।

१. ५ के बाद सोरठा

२ : असमस्त रूपक—

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥
राम भगति जहँ सुरसरि धारा। — — — — —॥

१. २. ७-८ (पू)

३ : समस्त-व्यस्त रूपक—

महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर।

१. ५

४ : सकल रूपक—

राम कथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुबीर बिहारु॥

१. ३१

५ : अवयव रूपक—

जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन ग्रहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

१. ६

६ युक्त रूपक—

बंदौ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची॥
प्रगटेउ जहं रघुपति ससि चारु। बिस्व सुखद खल कमल तुषारु॥

१.१६. ४-५

७ : अयुक्त रूपक—

प्रगटेउ जहं रघुपति ससि चारु। बिस्व सुखद खल कमल तुषारु॥

१. १६. ५

८ : विशेषण रूपक—

बंदौ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

१. १. १

९ : विरुद्ध रूपक—

चाप स्त्र वा सर आहुति जानू।

१. २८३. २

१० : श्लिष्ट रूपक—

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥

६. ९२ ७

११ : उपमा रूपक—

राम नाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालहिं दलि सुरसाल॥

१. २७

१२ : व्यतिरेक रूपक—

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥

२. २०६. १

१३ : आक्षेप रूपक—

सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु।

१. २३७

अप्पयदीक्षित ने रूपक के सर्वप्रथम अभेद और ताद्रूप्य नाम से दो भेद किये। फिर इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद किये[1]—आधिक्य रूप, न्यूनत्व रूप तथा अनुभय रूप अर्थात् सम रूप। इन छहों रूपको के एक-एक उदाहरण मानस से दिये जा रहे हैं—

१ : आधिक्य रूप अभेद रूपक—

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥

२. २०६ १

२ : न्यूनत्व रूप अभेद रूपक—

कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥
वैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोषु बड़ अनुचित कीन्हे॥

१. २३८. २-३

३ : अनुभय रूप अभेद रूपक—

प्रेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपा सिंधु रघुबीर॥

२. २३७

४ : आधिक्य रूप तद्रूप रूपक—

विष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥
बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुख धाम॥
अंग अंग पर वारिअहिं कोटि कोटि सत काम॥

१.२२०.७-१०

५ : न्यूनत्व रूप तद्रूप रूपक—

जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥

१.२३७

६ : अनुभय रूप तद्रूप रूपक—

उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥

१.२५४

---

१ : विषय्यभेदताद्रूप्यरंजनं विषयस्य यत्
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः।

कुवलयानन्द, १७

इस तरह अनेक काव्यशास्त्रियो के विभाजन के आधार पर केवल गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त रूपकों का वर्गीकरण, विश्लेषण एवं सौन्दर्य-निरूपण किया जाय, तो एक स्वतंत्र महा प्रबंध की आवश्यकता होगी। रामचरितमानस पूरा रूपक, इसके आरंभ में रूपक, मध्य में रूपक, अंत मे रूपक, मानस में जिधर दृष्टि जाती है, उधर रूपक की छटा दिखाई पड़ती है। ऐसे रूपक कम है, जहाँ गोस्वामी जी का केवल बुद्धि-विलास मालूम पड़े, अधिकाश रूपक तो उनकी कल्पनाशीलता, अनुभूतिप्रवणता एवं कलात्मकता का त्रिवेणी-संगम बनकर पुनः-पुनः दर्शनीय एवं अवगाहनीय बन गये हैं।

## ६ : परिणाम

परिणाम अलंकार के उद्भावक राजानक रुय्यक का कथन है—"आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोगी होने पर परिणाम अलंकार होता है।[१] रूपक अलंकार में भी आरोपण होता है, किन्तु वहाँ आरोप्यमाण अर्थात् अप्रस्तुत या उपमान आरोप विषय अर्थात् प्रस्तुत या उपमेय का उपरंजन मात्र करता है, उसका उपयोग नही होता।[२] परिणाम अलकार में अप्रकृत का प्रकृत रूप में उपयोग होता है, अतः प्रकृत अप्रकृत रूप में परिणमित हो जाता है।

परिणाम में भी क्योंकि रूपक की तरह उपमेय के ऊपर उपमान का आरोपण वाला तत्त्व सामान्य है इसलिए भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने इसे स्वतंत्र अलंकार नही माना था किन्तु रुय्यक के उद्भावन के पश्चात् तो शोभाकर,[३] विश्वनाथ,[४] विद्याधर,[५] विश्वनाथ,[६] अप्पयदीक्षित[७] तथा पडितराज[८]—सभी ने उसे स्वतंत्र अलंकार माना है तथा सबने इसमें ईषत् परिवर्त्तन-परिवर्द्धन कर परिभाषाएँ निर्मित की है।

जब कवि की सहज सौंदर्यविधायनी दृष्टि अपने उपमेय के लिए उपमान को ले आती है, किन्तु वर्णनकाल में उसका ध्यान उपमेय तथा उपमेय के गुण, उसकी क्रिया पर केन्द्रित रहता है तो परिणाम अलंकार का जन्म होता है। ऐसी अवस्था में लाये गये उपमान अर्थान्वय में तबतक संगत नही होते, जबतक उन्हें उपमेय से एकरूप न कर दिया जाय। सर्वावयव रूपक में कल्पना की व्यापकता है, तो परिणाम में कल्पना की एकागिता। इसमे लोकसिद्धता अर्थात् उपमेय-उपमान

---

१ : आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। अलंकारसर्वस्व, सू० १६

२ : प्रकृतं मुखादि, तत्रोपयोगित्वं वाक्यार्थानुप्रवेशपर्यन्तमारोपणविवक्षायां स्यात् तद्धि रूपके नास्ति मुखमेव चन्द्र इत्येतावतैव रूपकत्व सिद्धेः। तस्मादारोप्यमाण चन्द्रत्वादि मुखादौ प्रकृतार्थे ताद्रूप्यप्रतीत्याधानरूपेणोपरंजकत्वेनैव रूपकालकारोऽन्वयं भजते।
विधाचक्रवर्तिन्, अलंकार-सर्वस्व-संजीवनी, पृष्ठ ६१

३ : प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः। अलंकार-रत्नाकर, सू० २८

४ : विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि।
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा॥ साहित्यदर्पण १०.३४

५ : यत्रारोपविषयः प्रकृतकार्यसिद्ध्यर्थमारोप्यमाणात्मतया परिणमति तत्र यथार्थाभिधानं परिणामः।
एकावली

६ : परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना कुवलयानन्द ६ २१

७ : विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण स परिणामः।
रसगंगाधर

की सर्वसामान्य समता पर रूपक बन जाता है, परन्तु कार्यसिद्धि तभी होती है, जब उपमान क्रिया के लिए उपमेय ही परिणमित रहे। इसीलिए इस अलंकार का नाम परिणाम भी रखा गया है।[1]

मानस में परिणाम अलंकार के सुंदर उदाहरण भरे पड़े हैं। सीता के हाथ में जयमाला सुशोभित हो रही है, किन्तु कवि अपने सहज स्वभावानुसार कहता है—

**पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला॥**

१.२४८.६

एक अन्य उदाहरण लंकाकाड से लें। प्रभु सुग्रीव की गोद में सर रखकर लेटे हुए हैं। उनकी बायी ओर धनुष और दाईं ओर तरकस रखा है। वे एक ओर लंकेश विभीषण से मंत्रणा कर रहे है और दूसरी ओर अपने दोनो हाथो से बाण को ठीक कर रहे हैं, उसमें लगे पर को ठीक कर रहे है, उसके फल को माँज रहे हैं, ताकि आततायी शत्रुओ का विनाश शीघ्र हो। बाण हाथ से ही सुधारा जा सकता है—कमल से नही। किन्तु कवि की सौन्दर्य-दृष्टि उसे केवल हस्त कहने नही देती, उसके साथ कमल भी जोड देती है। यहाँ अर्थ-प्रत्यायन के लिए यह आवश्यक है कि उपमान कमल उपमेय कर के क्रियानुरूप हो जाय।

**दुहुँ कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना॥**

६.११.६

## ७. संदेह :

प्रकृत में अप्रकृत के संशय को सन्देह कहते हैं।[2] किन्तु, यह संशय प्रतिभोत्थित होना चाहिए, ऐसी परिभाषा विश्वनाथ ने दी है। कोई भी अलंकार रमणीय हो नहीं सकता, जो कवि की प्रतिभा से उत्थित न हो। अतः, प्रतिभोत्थित देने का कोई विशेष स्वारस्य न दीखता। चींटी को देखकर जब साधारण मनुष्य हाथी या ऊँट का संशय नही करता, तो फिर अतलदर्शिनी प्रतिभावाला कवि कैसे कर सकता है? ज्ञान की तीन कोटियो—प्रमा, संशय और भ्रान्ति में जब चित्तवृत्ति संशय के कारण दोलायित होती रहती है, जब मन किसी एक बिंदु पर नही टिक कर कई बिंदुओ पर गतिशील रहता है, तो संदेह अलंकार का सर्जन होता है। लौकिक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति और काव्यात्मक सन्देहात्मक चित्तवृत्ति में भी थोड़ा अंतर है। लौकिक संदेहात्मक चित्तवृत्ति अनाहार्य होती है, जबकि कवि की संदेहात्मक चित्तवृत्ति आहार्य अथवा कल्पनाजन्य होती है। भ्रान्ति की अवस्था मे अप्रस्तुत प्रायः प्रधान हो जाता है, किन्तु संदेह में कवि का चित्त प्रस्तुत के वृत्त में घूमता रहता है।

संदेह के स्वतंत्र अलंकारत्व को अनेक आलंकारिकों ने माना है। भामह, उद्भट, मम्मट, अप्पयदीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ इसे 'ससंदेह' पुकारते हैं, तो रुद्रट 'संशय' कहकर। दंडी सन्देह का अंतर्भाव संशयोपमा में कर लेते हैं।[3] उन्होंने संशयोपमा के साथ-साथ निर्णयो-

१ : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन, डॉ० ओमप्रकाश शास्त्री, पृष्ठ ५००

२ : सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः

साहित्यदर्पण, १०।३५

३ : किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा॥

काव्यादर्श, २.२६

पमा का भी उल्लेख किया है। विचार करने पर यह निर्णयोपमा संदेह के तृतीय भेद निश्चयान्त संदेह-जैसी ही मालूम पड़ती है।[1] रुय्यक ने इसे संदेह कहा है। आधुनिक आलंकारिकों को इसका 'संदेह' नाम ही मान्य है।

सन्देह के भेदोपभेद कई प्रकार से उल्लिखित हुए हैं। उद्भट दो प्रकार के संदेह का संकेत करते है—१ : निश्चयगर्भ, २ : शुद्ध संदेह। रुद्रट ने संदेह के तीनों भेदो—१ : शुद्ध, २ : निश्चयगर्भ और ३ : निश्चयान्त का संकेत दिया है।[2] रुय्यक, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि परवर्त्ती आलंकारिको ने इसे ही मान्यता प्रदान की है। भोज ने संदेह के अनेक भेद किये हैं—एकवस्तुविषय तथा अनेकवस्तुविषय—ये दो भेद किये। पुनः अनेक-वस्तु-विषयक के शुद्ध तथा मिश्र दो भेद किये।[3] शोभाकर संदेह के प्रथम भेद शुद्ध संदेह को ही संदेह मानते हैं। उन्होंने संदेह-संबंधी तीन अलंकारों की चर्चा की—१ : संदेह, २ : वितर्क, ३ : संदेहाभास। वस्तुतः वितर्क और संदेहाभास भी संदेह ही है। रामचरितमानस में संदेह के शुद्ध एवं निश्चयान्त संदेह-भेद का निरूपण बड़े ही कौशल से हुआ है। सर्वप्रथम हम यहाँ शुद्ध संदेह के एक-दो उदाहरण लें—

वनवासी राम-लक्ष्मण को देखकर हनुमान की सहज विचिकित्सा का गोस्वामी जी ने बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥

४.१ ७-१०

चिरदुःखिनी अशोकवाटिकावासिनी सीता की ऐसी ही स्थिति होती है, जब उनके सामने रामदूत हनुमान का आविर्भाव होता है। कपटी रावण के मायाजाल से क्षण क्षण संत्रस्त सीता भी हनुमान के प्रति देखकर संशय करती है, जिससे हनुमान की सौम्य आकृति आँखों में झूलने लगती है—

की तुम्ह हरि दासन्ह महु कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आएहु मोहि करन बड़भागी॥

५.६ ७-८

निश्चयान्त संदेह का तो मानस में बड़ा ही उत्तम उदाहरण मिलता है। भरत-शत्रुघ्न के चित्रकूट-गमन के अवसर की पंक्तियाँ देखें—

कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। रामु लखन सखि होहिं कि नाहीं॥
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली॥

२.२२१.१-२

---

१ : नपद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युतिः।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा॥

काव्यादर्श, २ २७

२ : तीनो के उदाहरण—काव्यालंकार ८ ६०, ८ ६३, तथा ८.६४ देखें।

३ : अर्थयोरिति साद्दश्याद्यत्र दोलायते मनः
तमेकानेक विषयं कवयः सशय विदुः
अनेकवस्तुविषयो द्विधा शुद्धो मिश्रश्च।

सरस्वती-कंठाभरण, ४.४१

इस प्रकार मानस में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त है जहाँ संदेह चौंकाने के लिए नहीं, वरन् मन की अनिर्णयात्मिका वृत्ति के फलस्वरूप काव्यात्मक ढंग से नियोजित हुए हैं।

## ८ : भ्रान्तिमान् :

सादृश्य के कारण प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत वस्तु के निश्चयात्मक ज्ञान को भ्रान्तिमान् कहते हैं।[1] वस्तुतः दो वस्तुओं में इतना अधिक सादृश्य रहता है कि स्वाभाविक रूप से भ्रम हो जाता है। किन्तु, यह स्मर्त्तव्य है कि भ्रम कवि को नहीं होता, कवि-निबद्ध-पात्र को होता है; क्योंकि कवि के भ्रम-विघूर्णित चित्त से रचित काव्य में भ्रमशून्य व्यक्ति को किस प्रकार आनंद उपलब्ध हो सकता है? रूपक तथा अतिशयोक्ति में आहार्य निश्चय होता है, जबकि भ्रान्तिमान में अनाहार्य निश्चय होता है। विश्वनाथ ने इस परिभाषा में प्रतिभोत्थित[2] शब्द जोड़कर यह बतलाना चाहा है कि जबतक इस भ्रान्ति को कवि-प्रतिभा का परम-पारस प्राप्त न हो, तबतक अलंकारता संभव नहीं। कवि प्रतिभोत्थापित भ्रान्ति को ही अलंकारत्व प्रदान करेंगे, अस्वरसोत्थापित भ्रान्ति को नहीं।

भ्रान्तिमान् अलंकार की चर्चा भामह, भट्टि, उद्भट तथा वामन ने नहीं की है। दंडी के उपमाभेद मोहोपमा को भ्रान्तिमान का पूर्वरूप माना जा सकता है।[3] इसके आविष्करण का श्रेय रुद्रट[4] को है। उनकी ही परिभाषा माँजकर मम्मट, रुय्यक, विद्यानाथ तथा विद्याधर आदि के द्वारा उपस्थित की गयी है।

भ्रान्तिमान् के भी भेदोपभेद करने की चेष्टा की गयी है। भोज ने सरस्वती-कण्ठाभरण में भ्रान्ति के 'अतत्त्वेतत्त्वरूपा' तथा 'तत्त्वे अतत्त्वरूपा' भेद करके पुनः दोनों के अबाधिता, बाधिता एवं कारणबाधिता तथा हानहेतु, उपादानहेतु तथा उपेक्षाहेतु क्रमशः तीन-तीन भेद किये हैं।[5] इसके अतिरिक्त उन्होंने भ्रान्ति के भ्रान्तिमान्, भ्रान्तिमाला, भ्रान्तेरतिशय तथा भ्रान्त्यनध्यवसाय—इन चार रूपों का उल्लेख किया है।[6]

भ्रान्तिमान् अलंकार के संक्षिप्त विवेचन के अनन्तर मानस में नियुक्त इस अलंकार का सम्यक् विश्लेषण ही प्रसंगोपात्त होगा। अशोक-वृक्ष के ऊपर से हनुमान द्वारा मुद्रिका गिराने पर सीता का अंगार समझना या हनुमान का संजीवनी बूटी वाले पर्वत को लेते जाते देखकर भरत के द्वारा राक्षस समझने में भ्रान्तिमान् की अच्छी विनियुक्ति देखी जा सकती है—

१ सादृश्याद् वस्त्वन्तर प्रतीतिर्भ्रान्तिमान्। ।६८।

२ : साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान्प्रतिभोत्थितः। साहित्यदर्पण १०.३६

३ : शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता। काव्यादर्श २।२५

४ : अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्
निःसंदेहं यस्मिन्प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान्स इति। काव्यालंकार ८।८७

५ : अतत्त्वे तत्त्वरूपा या त्रिविधा सापि पठ्यते
अबाधिता बाधिता च तथा कारणबाधिता। ३।३६
अतत्त्वरूपा तत्त्वे या साऽपि [illegible]।
हानोपादानयोर्हेतुरुपेक्षायाश्च [illegible]। ३।३७

६ : भ्रान्तिमान् भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च यः
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिभेदाः [illegible]। सरस्वती कंठाभरण—३।३८

कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ।।

५. १२

देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेउ चाप श्रवण लगि तानि।।

६. ५८

६ : उल्लेख :

उल्लेख अलंकार के सर्वप्रथम उल्लेखक आचार्य रुय्यक की परिभाषा है "निमित्त-भेद के कारण एक ही विषय अथवा अनुभाविता का अनेकशः ग्रहण उल्लेख अलंकार कहलाता है।[1] शोभाकर भी एक का अनेकधा कथन मे उल्लेख अलंकार मानते है।[2] उल्लेख अलंकार में कहीं अनेक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक भावनाओं—रुचियो के आधार पर एक पदार्थ का विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं और कहीं एक ही व्यक्ति एक पदार्थ का उसके भिन्न-भिन्न गुणो-धर्मो के आधार पर उसका वर्णन करता है। इस तरह ज्ञातृ-भेद और विषय-भेद के कारण उल्लेख के दो भेद स्पष्ट हैं।[3] प्रथम उल्लेख और द्वितीय उल्लेख के भी दो-दो भेद होते है— १: शुद्ध रूप तथा २ : संकीर्ण रूप। शुद्ध रूप उल्लेख में अन्य अलकार का संश्लेष– अर्थात् मिश्रण नही होता, किन्तु संकीर्ण उल्लेख, उपमा, रूपक, श्लेष, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारो के साथ वह मिश्रित रहता है। संकीर्ण उल्लेख अलंकारान्तर विच्छित्तिमूलक माना जा सकता है, किन्तु शुद्ध रूप उल्लेख नही।

उल्लेख का प्रयोग ऐसे ही कवि के द्वारा संभव है, जिसका विषय सामान्येतर के साथ-साथ लोकख्यात हो तथा जिसमें वर्णन की अद्भुत क्षमता हो। कहना न होगा कि मानस का विषय रामकथा के आधारस्तम्भ मर्यादा पुरुषोत्तम जगत्वंद्य भगवान् श्रीराम तथा उसके वर्णनकर्त्ता महाकवि तुलसीदास हैं। यही कारण है कि मानस मे अनेकानेक स्थल ऐसे है, जहाँ उल्लेख अलंकार की सुषमा देखी जा सकती है।

१ : ज्ञातृ-भेद द्वारा उल्लेख—

राम के दूल्लह रूप को देखकर विभिन्न देवताओ की प्रतिक्रियाओ एव मनोभावो का अत्यावर्जक निरूपण कवि ने किया है। दो से अधिक नयन भले ही कभी देवताओ को अशोभन-अप्रिय लगे हो, किन्तु आज सर्वाधिक नयनवाला ही अपने को सर्वाधिक भाग्यशाली मान रहा है। इतना ही नही, परतियगामी पुरंदर की अभिशप्त सहस आँखें आज वरदान सिद्ध हुई है। कवि कहता है—

सकर राम रूप अनुरागे। नयन पंचदस अतिप्रिय जागे।।
हरिहित सहित रामु जब सोहे। रमा समेत रमापति मोहे।।
निरखि राम छबि विधि हरषाने। आठै नयन जानि पछताने।।

---

१ : एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः — अलकारसर्वस्व, सू० १९

२ : एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेख — सू० ३४

३ : क्वचिद्भेदाद्ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्
'एकस्यानेकधोल्लेख' यः स उल्लेख उच्यते। — साहित्यदर्पण १०-३७

सुरसेनप उर बहुत उछाहू । विधि तें डेवढ़ सुलोचन लाहू ॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना । गौतम श्रापु परम हित माना ॥
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं ।आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं ॥
मुदित देव गन रामहिं देखी । नृप समाज दुहु हरुष बिसेषी ॥

१. ३१७. १-७

एक दूसरा उदाहरण—

धनुष-यज्ञ के अवसर विभिन्न व्यक्तियो द्वारा श्रीराम को देखने का है—

जिन्ह के रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥
देखहिं रूप महा रनधीरा । मनहु बीर रसु धरे सरीरा ॥
बिदुसन्ह प्रभु बिराटमय दीसा । बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे । सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी । सिसु सम पीति न जाहि बखानी ॥
जोगिन्ह परम तत्व मय भासा । सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा ॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सखदाता ॥

१. २४१. ४-५; १. २४२. १-५

मानस मे एकाध स्थल को छोडकर स्यात् ही अधिक स्थल निकले, जहाँ शुद्ध उल्लेख मिलता हो । ज्ञातृ-भेद द्वारा उल्लेख में दोनों उदाहरण संकर रूप हैं । प्रथम उदाहरण में काव्यलिंग ( विधि ते डेवढ़ लोचन लाहू ), अनुज्ञा ( रामहि चितव सुरेस सुजाना । गौतम श्रापु परम हित माना ॥ ) तथा चतुर्थ प्रतीप ( देव सकल सुरपतिहि सिहाही । आजु पुरंदर सम कोउ नाही ॥ ) का मिश्रण है और द्वितीय में उत्प्रेक्षा तथा उपमा-मिश्रित हैं । उल्लेख इन अलंकारो से इन्द्र-धनुपित होकर आशातीत रमणीय बन जाता है ।

विषय-भेद द्वारा उल्लेख के भी अनेकों उदाहरण मानस में भरे हैं । परशुराम द्वारा राम की स्तुति देखें—

जय रघुबंस बनज बन भानू । गहन दनुज कुल दहन कृसानू ॥
जय सुर बिप्र धेनु हितकारी । जय मद मोह कोह भ्रम हारी ॥
बिनय सील करुना गुन सागर । जयति बचन रचना अति नागर ॥
सेवत सुखद सुभग सब अंगा । जय सरीर छबि कोटि अनंगा ॥
करौं काह मुख एक प्रसंसा । जय महेस मन मानस हंसा ॥

१.२८५.१-५

इस तरह गोस्वामीजीने 'राम-कथा' और 'रामचरित' की व्यापकता, महत्ता एवं प्रभविष्णुता की हृदय पर अमिट छाप छोडने के लिए उल्लेख का सफल विनियोग किया है ।

## १० : अपह्नुति

अपह्नुति अलंकार के प्रथमतः उल्लेखकर्त्ता आचार्य भामह की परिभाषा है— जहाँ उपमा के आधार पर वास्तविक अर्थ का अपह्नव या निगूहन किया जाय, वहाँ अपह्नव करने का अभीष्ट रहने के कारण यह अपह्नुति कहलाता है ।[1] आचार्य विश्वनाथ अपह्नुति को और स्पष्ट करते

१ : अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा ।

काव्यालंकार ३/२१

के लिए कहते हैं कि जहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोपण किया जाय, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है।[1] वस्तुतः उपमेय और उपमान में इतना अधिक सादृश्य रहता है कि वह एक उपमेय का वरण कर दूसरे अर्थात् उपमान का स्थापन करता है। इस स्थापन में भी कवि का उद्देश्य उपमेय के अतिशय सौन्दर्य का प्रकाशन ही करता है। रूपक में भी अति सादृश्य के कारण उपमेय पर उपमान का आरोपण रहता है, किन्तु वहाँ उपमेय का निषेध नही रहता। इस निषेधमूलक आरोपण मे कथन-भंगिमा का एक अभिनव गवाक्ष खुलता है।

भामह, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ तथा आचार्य विश्वेश्वर आदि केवल सादृश्य-संबंध मे ही अपह्नुति मानते हैं किन्तु दंडी, शोभाकर, जयदेव, विश्वनाथ तथा अप्पय-दीक्षित सादृश्येतर संबंध में भी अपह्नुति स्वीकार करते है।

अपह्नुति के भेदोपभेद को लेकर आलंकारिको में पर्याप्त मतवैभिन्य है। दंडी ने अपह्नुति के दो भेद किये हैं—१ : विषयापह्नुति, २ : स्वरूपापह्नुति। विषयापह्नुति में किसी वस्तु के धर्म को स्वीकार कर अपने अनुभव के आधार पर उसका निषेध किया जाता है जैसे कोई विरही चन्दन-चन्द्रिका आदि को दूसरो के लिए शीतल मानता है, किन्तु उसे वे पदार्थ शीतल नहीं लगते हैं। अपने पक्ष में वह चन्दनादि के शीतत्व का निषेध करता है। स्वरूपापह्नुति में प्रकृति पदार्थ के विरुद्ध गुणो को जानकर उसके नैसर्गिक गुण, क्रियाओं का निषेध कर अन्य रूप का आरोप करता है जैसे विरही चन्द्रमा को सुधादीधिति तो केवल नाम्ना जानता है, कर्मणा तो वह 'विषनिष्यन्दि-दीधिति' है।

रुय्यक अपह्नुति की अभिव्यक्ति-प्रणाली तीन प्रकार से मानते है—

१ : अपह्नव-पूर्वक-आरोप

२ : आरोप-पूर्वक-अपह्नव

३ : प्रतिषेध-भाव-सूचन के लिए छलादि शब्दो में अपह्नव का विधान।[2]

जयदेव ने अपह्नुति के पाँच भेद माने है— १ : अपह्नुति, २ : पर्यस्तापह्नुति, ३ : भ्रांतापह्नुति, ४ : छेकापह्नुति तथा ५ : कैतवापह्नुति। अप्पयदीक्षित ने इन भेदों में हेत्वपह्नुति एक भेद और जोडकर इसके छह भेद किये है।

पडितराज जगन्नाथ ने उपमा तथा रूपक के समान अपह्नुति के सावयवा-निरवयवा-जैसे भेद किये हैं।

मानस मे अन्य आलंकारिको के भेदोपभेद का विवेचन न कर अप्पयदीक्षित के भेदो को देखेंगे; क्योंकि ये ही भेद अद्यावधि अधिक मान्य रहे है। अपह्नुति में उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोपण किया जाता है, ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। कही तो निषेधपूर्वक आरोप होता है और कही आरोपपूर्वक निषेध। निषेधपूर्वक आरोप का सुन्दर उदाहरण मिलता है किष्किंधा काड में। सुग्रीव वालि के कठोर प्रहार से विचलित हो उठा है। वह श्रीराम से वालि के वारे में कहता है—

---

१. प्रकृतं यत् निषिध्यान्यस्थापन स्यादपह्नुतिः।

—साहित्यदर्पण—१०/३८

२. तस्य च त्रयी वन्धच्छाया—अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोप पूर्वकोऽह्नवः, छलादिशब्दैकसत्यत्व प्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देश।'

—पृष्ठ ७६

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बन्धु न होइ मोर यह काला॥

४८४

आरोपपूर्वक निषेध को उदाहृत करनेवाली एक सुन्दर अर्द्धाली बालकांड के परशुराम-आगमन-प्रसंग में मिलती है। लक्ष्मण परशुराम के साथ छेड़खानी कर रहे हैं। परशुराम के क्रोध का पारा बड़ी तेजी से चढ़ता है। श्रीराम उन्हें शांत करने के लिए कहते हैं कि हे भगवन! बालक पर क्रोध करना उचित नहीं। लक्ष्मण तो बड़े सीधे हैं, दूध-मुख हैं। इसी के उत्तर में परशुराम कहते हैं—

गौर सरीर स्यामु मन माहीं। कालकूट मुख पयमुख नाहीं॥

१.२७७.७

अब हम अपह्नुति के प्रमुख छह भेदों पर विचार करें—

१ : शुद्धापह्नुति

शुद्धापह्नुति में उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप किया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास बराबर शंकित रहते हैं कि कहीं कोई श्रीराम की नरलीला से मोहित होकर उन्हें मानव न समझ ले। उनके ईश्वरत्व-स्थापन के लिए उन्होंने शुद्धापह्नुति का आश्रय लिया है—

तात रामु नहि नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

५.३९.१-२

२ : हेत्वपह्नुति—

जहाँ उपमेय का निषेध करते समय कोई हेतु या कारण दिया जाय।
एक उदाहरण देखें—

प्रभु प्रताप बडवानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥
तव रिपु नारि रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भएउ तेहि खारा॥

६.१.५-६

३ : भ्रान्त्यपह्नुति—

जहाँ किसी व्यक्ति की भ्रान्ति के अपसारण के लिए उसके भ्रान्त ज्ञान का निषेध कर तथ्य-स्थापन किया जाय। भ्रान्त्यपह्नुति को आचार्य विश्वनाथ अपह्नुति का भेद न मानकर 'निश्चय' नामक पृथक् अलंकार मानते हैं। भ्रान्त्यपह्नुति का एक उदाहरण लें—

कहत विभीषनु सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिदमाला॥
लंका सिखर उपर अगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥
छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी॥
मन्दोदरी श्रवण ताटंका। सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका॥
बाजहिं ताल मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुरभूपा॥

६.१३.२-१

४ : पर्यस्तापह्नुति —

जहाँ उपमान को उपमेय के रूप में अपह्नुत कर उपमेय को ही उपमान कहा जाय। पंडितराज जगन्नाथ इसे अपह्नुति के भीतर परिगणित नही करते। अपह्नुति के इस भेद को दृढारोप रूपक कहते है। मानस से कुछ उदाहरण लें—

क : पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥

७.४५.७

ख : सुनु सर्बग्य प्रनत सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुण चारी॥

६.३८.८

ग : गिरि सरि सिन्धु भार नहि मोहीं। जस मोहि गरुअ एक पर द्रोही॥

१.१८४.५

घ : मरम बचन सुनि राउ कहु कहु कछु दोप न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर॥

२.३४

५ : छेकापह्नुति—

किसी गोपनीय अर्थ को किसी प्रकार प्रकट कर श्लेष या अन्य प्रकार से उसे फिर छिपा देने मे भी अपह्नुति अलंकार होता है।[1]

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहिं नाईं॥

१.५६.२

६ : कैतवापह्नुति—

जहाँ कैतव, व्याज, मिस आदि शब्दो का प्रयोग कर उपमेय का निषेध किया जाय। मानस में कैतवापह्नुति से मंडित अनेक स्थल विद्यमान हैं। राजा दशरथ की प्राणवल्लभा कैकेयी के राम वनवास के लिए हठ करने का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

लखी नरेस बात सब साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाँची॥

२.३४.५

कैतवापह्नुति के अन्य सुंदर उदाहरण देखें—

क : बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीचे बीचु जननी मिस पारा॥

२.२६०.१

ख : पठइ मोह मिस खगपति तोहीं। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥

७.७०.४

इस तरह हम देखते हैं कि अपह्नुति का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसका सफल प्रयोग मानस में न हुआ हो। अप्रस्तुत-पद्धति से गोस्वामी जी ने अपनी कथन-भंगिमा बड़ी ही मनोहर बनायी है—इसका प्रमाण हमें प्रदत्त उदाहरणों में मिल चुका है।

१. अलंकार-मुक्तावली, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ ८८

## ११ : उत्प्रेक्षा :

उत्प्रेक्षा साधर्म्यमूलक अभेद-प्रधान अध्यवसान-साध्य अलंकार है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय व्यापारावस्था में रहता है[1] जबकि अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्धावस्था में पहुँच जाता है। भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक—सभी ने उत्प्रेक्षा अलंकार का सविस्तर विवेचन किया है। आचार्य विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा को परिभाषित करते लिखा है कि उपमेय में उपमान की संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं।[2] भ्रान्तिमान् में ज्ञान निश्चयात्मक रहता है, संदेह में ज्ञान की दो या दो से अधिक कोटियाँ समान रहती हैं, किन्तु उत्प्रेक्षा में निश्चय की ओर झुकता हुआ संशय रहता है—एक कोट्यधिक संशय रहता है।

कतिपय आलंकारिक उत्प्रेक्षा के लिए केवल कविकल्पित उपमान ही अलम् मानते हैं। आचार्य विश्वेश्वर तथा विद्याचक्रवर्तिन् आदि की यही मान्यता है।[3] किन्तु, यह मत निर्भ्रान्त नही दीखता। उत्प्रेक्षा के लिए आवश्यक अंग है—संभावना। उपमा मे दो वस्तुओ—उपमेय—उपमान को मापने की प्रवृत्ति रहती है—उपमेय और उपमेय को एक धरातल पर लाने की प्रवृत्ति रहती है। किन्तु, उत्प्रेक्षा में कवि का उत्कट प्रेक्षण अभीष्ट होता है। कवि नये-नये उपमानों को प्रस्तुत कर उपमेय के साथ न तो उपमित करता, न तो उपमेय पर आरोपित करता, न तो उपमेय-उपमान मे निश्चय के लिए दोलायित रहता है, वरन् उसकी सूक्ष्मेक्षिका उपमेय में आनीत उपमान की संभावना करने लगता है। 'मुख मानो चाँद है' इस कथन में अति सादृश्य के कारण उसका ध्यान मुख की यथार्थता से विलग होकर चाँद की ओर उन्मुख होने लगता है। उपमेय-उपमान के अति सादृश्य के कारण उपमेय के यथार्थ स्वरूप को विस्मृत करने लगता है, वह उपमेय को ही उपमान मान लेने का पक्ष ग्रहण करता है।

अतः, उपमा का स्तुतिपाठ चाहे जितने भी आलंकारिकों ने किया है, किन्तु महाकवियों की कलात्मकता और उनके अति विकसित सौंदर्यबोध को प्रमाणित करने के लिए उत्प्रेक्षा का महत्त्व उपमादि सादृश्यमूलक अलंकारो में सर्वोपरि है। उत्प्रेक्षा मे कवि के मानसचक्षु पृथ्वी से आकाश तक जिस तरह दौड लगाते हैं शायद ही अन्य अलंकारों में ऐसा करना पडे। इसलिए सभवतः स्थल-स्थल पर गोस्वामी जी ने उपमा की लघुता तथा घिसी-पिटी होने के कारण उसकी आकर्षणहीनता की चर्चा की है। रामचरित तो आगम-निगम-पुराण, रामायण तथा अन्य अनेक रूपों में तुलसी-पूर्व वर्णित हो चुका है—इतना ही नही, अनेक विषयों पर अनेक काव्य लिखे

---

१ : अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा

अलंकारसर्वस्व, पृ० [illegible]

२ : भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

—साहित्यदर्पण, १०/४

३ : यत्रोपमानतावच्छेदककविकल्पितमुपमानमभिमतम् तत्रोत्प्रेक्षैव। तदुक्तं चक्रवर्तिना —

यदा यदुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति  
तदोपमैव येनैवशब्दः सादृश्यवाचकः  
यदा पुनरयं लोकात्सिद्धः कविविकल्पितः  
तदोत्प्रेक्षैव येनैवशब्दः सम्भावनापरः

—संस्कृत-साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का विकास, पृष्ठ [illegible]

गये है। अपनी अभिव्यक्ति में अभिनवता एवं सहज रमणीयता लाने में उपमा[1] बहुत दूर तक उसकी सहायता न कर सकी। यही कारण है कि उन्होने मानस में एक-से-एक सुंदर उत्प्रेक्षा का समायोजन किया है। केशव मिश्र ने अपनी पुस्तक 'अलंकार-शेखर' मे उत्प्रेक्षा का महत्त्व-निरूपण एवं विध किया है—

सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्तिविवर्धिनी
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढास्मितादिव
शंके मन्ये ध्रुवं प्रायो नूनं जानामि तर्कये
इवेत्यादिभिरुत्प्रेक्षा व्यजते काव्यवर्त्मनि[2]

रामचरितमानस में उत्प्रेक्षा के ऐसे शताधिक स्थल है कि इनके उत्प्रेक्षा-उपन्यसन पर मुग्ध हो जाना पडता है। अयोनिजा परम रूपवती सीता के सौंदर्य का सही चित्र खीचने के लिए कवि तीनो लोकों का पर्यटन करता है, किन्तु उसे एक भी उपमा अनस्पृष्ट अनाघ्रात नही मिलती। विधाता ने एक-से-एक सुदर रचना की, किन्तु उसे लगता है कि सृष्टि में कोई-न-कोई ऐसा मिलता रहा, जो यह कहता हो कि कही और कोई सुदर नारी-मूर्त्ति वन पाती। विधाता ऐसे दोषद्रष्टा व्यक्ति की चुनौती से जैसे ऊव गया हो और उसने सीता के रूप में अपनी सारी कला खर्च कर दी हो। वह अपना सारा अनुभव निचोड कर सीता की अनन्वित मूर्त्ति गढ कर लोगों के सामने सीना तानकर कहता है। यदि सुन्दरता की पराकाष्ठा देखना चाहते हो, मेरी कला का चमत्कार देखना चाहते हो, तो सीता को देखो—

**जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। विरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई॥**

१.२३०.६

ब्रह्मा के लिए अनेको पर्यायवाची शब्द है जैसे अज, अंडज, आत्मज, आत्मयोनि, कमलासन, कर्त्तार, चतुरानन, नाभिजन्य, परमेष्ठी, प्रजापति, पितामह, लोकेश, विधाता, विधि, विरंचि, सृष्टिकर्त्ता, सुरज्येष्ठ, स्रष्टा, स्वयंभू, सदानन्द, हिरण्यगर्भ आदि किन्तु, विरंचि में जिस प्रसंगोपात्त अर्थगौरव की आवश्यकता थी, वह अन्य किसी शब्द में नही। विरचि ने 'रचकर' नही विरचकर विश्व के समक्ष सीता-सौदर्य को प्रच्छन्न रूप से नही, वरन् प्रकट कर दिखा दिया है।

इतना ही नही, सीता की सुन्दरता सुन्दरता को भी सुन्दर करती है। यह ऐसा प्रतीत होता है मानो छविगृह में दीपशिखा जल रही है। छविगृह-चित्रशाला में दीपशिखा के द्वारा सीता के सौन्दर्य का ऐसा मूर्त्त स्वरूप उन्होने अंकित किया है कि विमुग्ध रह जाना पड़ता है। ऐसे वर्णनो में दीपशिख कालिदास भी पराजित होते दीखते है। कालिदास की सचारिणी दीपशिखा की तरह प्रतीत होनेवाली इन्दुमती उपमा-पाश में बँधकर वैसी नही लगती जैसी सीता की उत्प्रेक्षित रमणीय मूर्त्ति। यह स्थल उपमा के ऊपर उत्प्रेक्षा का विजयघोष ही नही करता, वरन्, कालिदास की कला के ऊपर तुलसीदास की कला का विजयघोष भी करता है। यदि दोनो कवियो मे साम्यप्रदर्शन करना ही हो, तो 'उपमा कालिदासस्य' के साथ-साथ 'उत्प्रेक्षा तुलसीदासस्य' कहना युक्तियुक्त होगा।

---

१ : (क) उपमा सकल मोहि लघु लागी। १.२४७ २
(ख) सब उपमा कवि रहेउँ जुठारी। १ २३०.८ (पू०)

२ : सस्कृत-साहित्य में सादृश्य-मूलक अलंकारों का विकास, पृष्ठ ३६

वालकांड से एक स्थल और उपस्थित करना ही पर्याप्त होगा। सीता की सात्त्विक निर्लिप्त दृष्टि का वर्णन कवि करता है—

जहँ विलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी॥

१.२३२ २

मृग-शिशु की तरह नेत्रवाली सीता जहाँ देखती है, वहाँ मानो श्वेत कमलो की वृष्टि हो जाती है। सीता के देखने में प्रकाश की रेखाएँ खिचती हैं और रेखाएँ ज्योति-परमाणुओ से निर्मित होती हैं—ऐसा वैज्ञानिक सत्य भी है। किन्तु इस वैज्ञानिक सत्य का अपूर्व काव्यायन इस उत्प्रेक्षा-पद्धति से हुआ है। सीता के नेत्रो से विच्छुरित ये सहस्र-सहस्र ज्योति-परमाणु क्या हैं, श्वेत कमलो की पंक्तियाँ हैं। दृष्टि-निक्षेप का ऐसा स्पष्ट मूर्त्तिमंत वर्णन स्यात् ही हिंदी-काव्य में कही उपलब्ध हो। इतना ही नही, निर्लेप सात्त्विक दृष्टि के लिए श्वेत कमलों को उन्होंने चुना है रक्त कमल, नील कमल या पीत कमल को नहीं। कमल में कलुषहीनता एवं निर्लिप्तता की हमारी परंपरित धारणा एवं सात्त्विक प्रेम के वर्ण-परिज्ञान के द्वारा जो उत्प्रेक्षा लायी गयी है, वह कथ्य को पूर्णतः उपस्कृत करती है।

इस छोटी-सी उत्प्रेक्षा के द्वारा गोस्वामी जी ने सीता के उज्ज्वल चरित्र एवं भारतीय मर्यादा को अक्षुण्ण रूप में उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, कीट्स के बिम्बो पर सौ जान से फिदा होनेवाले आलोचक इस छोटी-सी उत्प्रेक्षा में एक साथ चाक्षुप विम्ब ( वीज़ुअल इमेज ), वर्ण विम्ब ( कलर इमेज ), ज्योति विम्ब ( लाइट इमेज ) तथा घ्राण विम्ब ( ऑलफैक्ट्री इमेज ) आदि-आदि न मालूम कितने प्रकार के विम्बो का जमघट देख सकते हैं।

ऐसी ही उत्प्रेक्षाएँ तुलसी की कवित्व-शक्ति के मेरुदंड हैं। उत्प्रेक्षा उनके सर्वाधिक प्रिय अलकारो में ही नही, वरन् सर्वाधिक सफलतापूर्वक प्रयुक्त अलंकारों में हैं। आचार्य चंद्रबली पाण्डेय का कहना है—'तुलसी ने उपमा को उतना महत्त्व नही दिया है, जितना उत्प्रेक्षा को।' वस्तुतः अपने कथ्यानुरूप वर्णन के लिए गोस्वामी जी जिस अलंकरण-प्रणाली का अन्वेपण कर रहे थे, उत्प्रेक्षा आकर उनका कार्य वडी ही निष्ठा से सँभाल देती है।

मानस में ऐसे अनेक स्थल है, जहाँ एक के बाद दूसरी उत्प्रेक्षा लहरिल जल-प्रवाह की भाँति उमडती है, जिसे हम उत्प्रेक्षामाला की संज्ञा दे सकते हैं। अरण्य काड मे मदन महीप के जिस सांग रूपक को उन्होंने खडा किया था, वह बीच में ही भहरा जाता यदि उसमें उत्प्रेक्षाओं के मणिस्तम्भ न रहते। मदन महीप की सेना का वर्णन देखें—

विटप विसाल लता अरुझानी। विविध वितान दिए जनु तानी॥
कदलि ताल वर ध्वजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥
विविध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥
कहुँ कहुँ सुंदर विटप सुहाए। जनु भट बिलग बिलग होई छाए॥
कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥
तीतिर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन गन बरना॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिविध बयारी बसीठीं आई॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे॥ ३.३८.१-१०

गोस्वामी तुलसीदास दाक्षिणात्यो की तरह उत्प्रेक्षाप्रिय[1] नही हैं, फिर भी मानस में ऐसी अनेक उत्प्रेक्षा-मालाएँ पिरोयी हुई है। उत्प्रेक्षा-शृंखला वाण के हर्षचरित या कादम्वरी की तरह नही कि बहुत देर तक दम साध कर उसे देखते चलना पडे और न श्री हर्ष के नैषधीयचरितम् की तरह कि जिसमें अनेकत्र वौद्धिक संतोष भी उपलब्ध न होता हो। उत्प्रेक्षा में कवि-कल्पना को पूरी स्वतंत्रता रहती है। किन्तु, ऐसी स्वतंत्रता नही जो अराजकता की स्थिति में पहुँच जाए। उत्प्रेक्षा के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि को अत्यधिक विलिष्ट कल्पना न करनी पडे, अप्रस्तुत ऐसे न आएँ जो विलकुल विसंगत और यत्नकृत हो। ऐसे अप्रस्तुतों से वर्णन वोझिल हो जाता है, काव्य-सौदर्य का सहज उच्छल स्रोत उमड नही पाता है। दंडी ने ठीक ही कहा है कि लोकातीत वर्णन से विदग्ध ही परितुष्ट हो सकते है, अन्य जन नही।[2] और, गोस्वामी जी के 'मवहिं सुलभ सव दिन सव देसा' काव्य लिखने का उद्घोष तो सर्वविदित है ही।

गोस्वामी जी ने अपनी उत्प्रेक्षा-सृष्टि में पौराणिक उपाख्यानों का वडा ही सुंदर उपयोग किया है। ऐसे स्थलो को पाकर भारतीय साहित्य से परिचित पाठक एक विशेष प्रकार की संतुष्टि एव आनंद प्राप्त करता है। ये प्राचीन उपाख्यान मोहन-भोग में प्रस्तरकरण की भाँति अवरोध नही उत्पन्न करते, वरन क्षीरान्न में मधुमिश्रण का आनंद प्रदान करते हैं। ऐसी दो-चार उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण द्रष्टव्य है—

अस कहि फिर चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥
भये विलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल॥

१ २३०.३-४

उपमा बहुरि कहौ जिअ जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥

२.१२२ ४

लेइ उसास सोच येहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती॥
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥

२.१४७.६-७

अस अनंदु अचरिजु प्रतिग्रामा। जनु मरुभूमि कलपतरु जामा॥

२.२२२ ८

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।
गह दसन पुनि पुनि कमठ पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई
रघुबीर रुचिर प्रयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ सर्पराज सो लिखत अविचल पावनी।

प्रथम उत्प्रेक्षा में पौराणिक उपाख्यान द्वारा भारतीय संस्कृति की मर्यादावादिता, द्वितीय में पारिवारिक स्नेहशीलता, तृतीय मे दशरथ के सहसा स्वप्नभंग एवं अन्तर्दाह, चतुर्थ में

१ : श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येस्वर्थमात्रकम्
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्वरम्।

—हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, ७

२ : लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरेजनाः।

—काव्यादर्श १/८६

अभीष्ट प्राप्ति की सीमाहीनता एवं पंचम में श्रीराम की सेना-यात्रा की ब्रह्माण्डव्यापी हर्षमिश्रित भयोत्पादकता का जैसा विमोहक भव्य वर्णन किया गया है कि चकित रह जाना पड़ता है। ज्ञान का ऐसा रसात्मक परिपाक अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा है कि उत्प्रेक्षा के मूल में यदि अन्य कोई अलंकार हो, तो वह और भी चमत्कारयुक्त हो जाती है।[1] उन्होंने अपह्नुतिमूला, श्लेषमूला एवं उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा के उदाहरण द्वारा अपने कथन को समर्थित करने का प्रयास किया है। उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—

१ उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा—

अंगद दीख दसानन बैसा। सहित प्रान कज्जल गिरि जैसा॥

६.१९.४

२ : प्रतीपगर्भितोत्प्रेक्षा—

तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भवर छवि छीनि॥ १ १४७

३ : अधिक-गर्भितोत्प्रेक्षा—

बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोध बस उगिलत नाहीं॥

१.१५६.६

४ : अतिशयोक्ति-गर्भितोत्प्रेक्षा—

इन्द्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहिं करि रहेऊ॥

१.१८३.१

५ : रूपक-गर्भितोत्प्रेक्षा—

प्रभुहि चितव पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥ १.२५८

६ : विषमगर्भितोत्प्रेक्षा—

सांत बेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनि तनु जनु बीर रसु, आयेउ जहँ सब भूप॥ १ २६८

इस प्रकार मानस से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनके द्वारा आपाततः गोस्वामीजी का उत्प्रेक्षा-निरूपण-वैलक्ष्य उद्‌द्योतित होता है—

उत्पेक्षा में कहीं जाति उत्प्रेक्ष्य रहती है,[2] कहीं गुण, कहीं क्रिया तथा द्रव्य। अतः इन चारों प्रकार की एक-से-एक उत्तम उत्प्रेक्षा के उदाहरण मानस में प्राप्त होंगे।

१ : जात्युत्प्रेक्षा—

क : अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलहि बैठे जनु मोती॥

१.१९९.२

ख : चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥

१.२२९

१ : अलंकारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत्। १०/४०

२ : जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि—साहित्यदर्पण—विश्वनाथ—
दशम परिच्छेद ४० के श्लोक की वृत्ति

३ : क्रियोत्प्रेक्षा—

क : जहँ बिलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ॥
१.२३२.२

ख : सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई ॥
१.२३०.७

४ : द्रव्योत्प्रेक्षा—

क : उपमा बहुरि कहौ जिअ जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनी सोही ॥
२.१२२.४

ख : बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्यरति लसई ॥
२.१२२.३

भेद-प्रभेद :

भामह, दंडी, उद्भट एवं भोजराज आदि ने उत्प्रेक्षा का संक्षिप्त कथन किया है। कई ऐसे आलंकारिक हैं, जिन्होने उत्प्रेक्षा के भेदो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने उत्प्रेक्षा के १२० भेद किये है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने उत्प्रेक्षा के १७६ भेदो की चर्चा की है।[2] पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने उत्प्रेक्ष्य एवं उत्प्रेक्षित वस्तुओ में समता, न्यूनता तथा अधिकता के आधार पर सम, न्यून और अधिकोत्प्रेक्षा आदि विभाजन करने का संकेत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने दुरुत्प्रेक्षा, विलोमोत्प्रेक्षा, संभवी एवं असंभवी उत्प्रेक्षा-जैसे भेदों का भी उल्लेख किया है।[3] किन्तु, इन भेदों की वृहत् संख्या को घटाकर अप्पयदीक्षित ने उत्प्रेक्षा के केवल छह भेदो की चर्चा की है।[4] १ : उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, २ : अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा, ३ : सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा, ४ : असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा, ५ : सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा, ६ : असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने उत्प्रेक्षा के केवल दस भेदो को विवेच्य माना है।

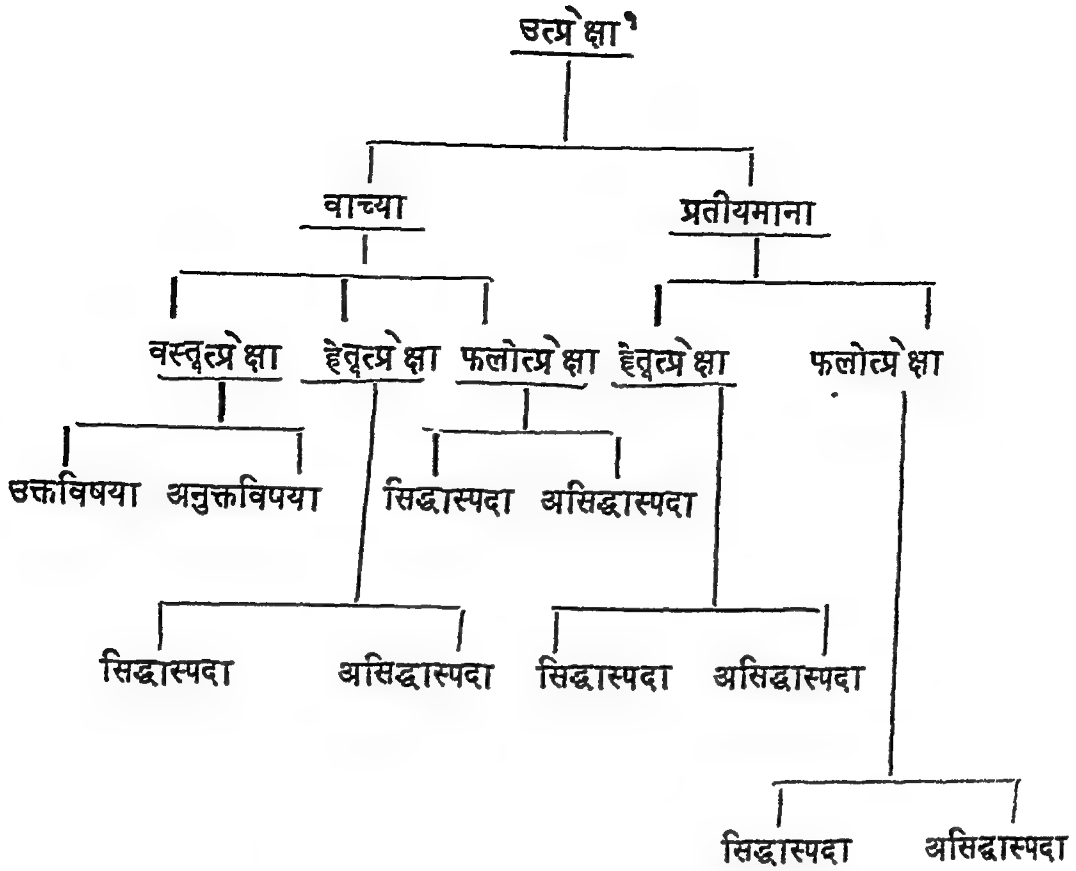
---

१ : .... .. साच वाच्या इवादिमिः प्रदर्श्यते। प्रतीयामानायां पुनरिवाधप्रयोग । सा च जातिक्रिया गुणद्रव्याणामप्रकृतानामध्यवसेयत्वेन चतुर्धा। प्रकृतस्यैस्द्धे दयोगेऽपि न वैचित्र्यमिति ते न गणिता.। प्रत्येकं च भावाभावाभिमानरूपतया द्वैविध्येऽष्टविधत्वम्। भेदाष्कस्य च प्रत्येकं निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्या द्वात्रिंशत्प्रभेदाः। तेपु च प्रत्येकं हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपत्वेन षण्णवतिर्भेदाः। एषा गतिर्वाच्योत्प्रेक्षायां:। तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलोत्प्रेक्षा भेदास्ततः शातनीयाः। प्रतीयमानायास्तु यद्यप्युद्देशत एतावन्तो भेदाः, तथापि निमित्तस्यानुपादानं तभेयां न सभवतीति तैर्भेददैन्यूनोंऽयं प्रकार.। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य निष्प्रमाणत्वा त् प्रायश्य स्वरूपोत्प्रेक्षात्र न संभवति। तदेवं प्रतीयमानोत्प्रेक्षाया यथासंभवं भेदनिर्देश·।—पृष्ठ ८४ से। ८६ तक।

२ : साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३१८-३२०

३ : अलंकार-पीयूष, पृष्ठ ३०४

४ : संभावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना
उक्तानुक्तास्पदाद्यात्र सिद्धाऽसिद्धास्पदे परे।—कुवलयानद ३२




मानस में आचार्य विश्वनाथ-वर्णित उत्प्रेक्षा-भेदों के पृथक्करण एवं विवेचन के लिए एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध की आवश्यकता होगी। यहाँ हम उत्प्रेक्षा के प्रमुख भेदों को उदाहृत करके ही संतोष करेंगे—

१ : वाच्या उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलज पटल बिलगाइ॥

१.२३२

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥

१.१४७.५

२ : वाच्या अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा—

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरति मंत तपस्या जैसी॥

१.७८.६

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा॥

१.१४३.४

३ : वाच्या सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा—

स्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा॥

२.२.७

---

१ : अलंकार-मुक्तावली, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ ६०

आगें दीखि जरति रिस भारी। मनहुँ रोप तरवारि उघारि ॥

२.३१.१

४ : वाच्या असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा—

सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला ॥

१.२६४.७

५ : वाच्या सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा—

चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी ॥
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहिं सीय पद जनि परहरहीं ॥

२.५८.५-६

६ : वाच्या असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा—

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा ॥

२.११०.१

७. प्रतीयमाना असिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा—

इन्हहि देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावन लागा ॥
कीन्ह बहुत स्रम एक न आये। तिहि इरिपा बन आनि दुराये ॥

२.१२०.५-६

८ : प्रतीयमाना सिद्धास्पदा हेतूत्प्रेक्षा—

राजत राज समाज महुँ कोसलराज किसोर।
सुन्दर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर।

१.२४२

९ : प्रतीयमाना असिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा—

पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उडावन फूँकि पहारू ॥

१.२७३.२

१० : प्रतीयमाना सिद्धास्पदा फलोत्प्रेक्षा—

चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनुमोला ॥

१.२३३.५

उत्प्रेक्षा के इन भेदो में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा सर्वाधिक प्रयुक्त हुई है, तदनन्तर उक्तविषया हेतूत्प्रेक्षा और तब फलोत्प्रेक्षा आयी है। इससे भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपने पात्रों के रूप-गुण-क्रिया की तीव्र अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उपयोग कर कलाकार के रूप मे भी पूरी सफलता पायी है।

उत्प्रेक्षा-दोष—

उत्प्रेक्षा के दो प्रमुख दोष विचारणीय है—१ : अवाचकता, २ : अनुचितार्थता।

१ : ज्यों, यथा, जैसे, जैसा आदि अव्यय उपमा के वाचक पद है, उत्प्रेक्षा के नही। किन्तु कही-कही ये शब्द उत्प्रेक्षा के वाचक बनकर आते है और भ्रम उत्पन्न कर देते है। यह दोष है और इसे अवाचकता से अभिहित किया जाता है। उदाहरणार्थ—

क : रिपिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी ॥

१.७८.१

ख : सुभग सकल सुठि चंचल करनी । अय इव जरत धरत पग धरनी ॥

१.२६८.५

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में जैसी और जिमि उपमा के वाचक हैं, किन्तु यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार स्पष्ट है ।

२ : जहाँ उत्प्रेक्षा के समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है, वहाँ अनुचितार्थतादोष माना जाता है । मानस में ऐसे कई स्थल देखने को मिलते हैं । यथा—

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई
मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि विषम भाँति निहारई
दोउ वासना रसना दसन वर मरम ठाहरु देखई
तुलसी नृपति भवतव्यता बस काम कौतुक लेखई ।

२.२५ के पहले का छंद

अथवा

ढलकि उठेऊ सुनि हृदय कठोरू । जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू ॥
ऐसिउ पीर बिहसी तेहिं गोई । चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई ॥

२.२७.४-५

इन दोनों उदाहरणों के अंतिम चरणों में उत्प्रेक्षा के समर्थनार्थ अर्थान्तरन्यास की सहायता ली गयी है । दूसरे उदाहरण में उपमा का वाचक 'जिमि' आ जाने से अवाचकता संकीर्ण है ।

मानस-प्रयुक्त उत्प्रेक्षाओं का सिंहावलोकन करने पर पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने प्रधान पात्रों के तीव्र मनोवेगों, उनके कार्य-व्यापारों, उनके स्वरूप-चित्रणों तथा उनकी अवस्थाओं के सफलतापूर्वक निरूपण के लिए उत्प्रेक्षा की पूरी सहायता ली है । ऐसा मैंने उपमा पर लिखते हुए अपना विचार प्रकट किया है कि उपमा से उनके मनोवांछित कार्य की पूर्ति नहीं हो सकी । 'लघु' 'जूठी' उपमाओं का प्रयोग वे सामान्य स्थलों पर भले करते हैं, विशिष्ट अवसरों पर नहीं । वास्तविक स्थिति-स्थापन के लिए जहाँ वे एक उपमा से असन्तुष्ट होकर दूसरी उपमा देने की बात कहते हैं, तो वहाँ उपमा नहीं, उत्प्रेक्षा लानी पड़ती है । यथा—

उपमा बहुरि कहौं जिय जोही । जनु बुध विधु बिच रोहिनि सोही ॥

२.१८२.४

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई । जनु मधु मदन मध्य रति लसई ॥

२.१२२.३

इतना ही नहीं, जहाँ वे गीतावली में अभूत उपमा देने की बात[1] कहते हैं, वहाँ वह अभूत उपमा और कुछ नहीं, वरन उत्प्रेक्षा ही है ।

इस तरह ऐसा निस्संकोच कहा जा सकता है कि जिस तरह कालिदास उपमा, भारवि अर्थान्तरन्यास और सुबन्धु श्लेष के लिए सम्मानित हैं, उसी तरह उत्प्रेक्षा के लिए गोस्वामी तुलसीदास प्रसिद्ध हैं ।

---

१ : उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाए ।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाय मनो तड़ित छपाए ॥ गीतावली १/१

## १२ : अतिशयोक्ति :

अतिशयोक्ति अभेदप्रधान अध्यवसायमूलक अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि अध्यवसाय के सिद्ध होने पर अतिशयोक्ति अलकार होता है।[1] अध्यवसाय और कुछ नहीं, वरन् उपमेय का निगरण कर उपमान के साथ उसका (उपमेय का) अभेद-स्थापन है। यहाँ यह स्मरणीय है कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य रहता है, किन्तु अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्प्रेक्षा में उपमेय निगीर्यमाण होता है, अतिशयोक्ति मे पूर्णतः निगीर्ण हो जाता है तथा केवल उपमान की प्रतीति होती है। उत्प्रेक्षा में जो निगरण की प्रक्रिया चल रही थी, अतिशयोक्ति मे पूरी हो जाती है।

अतिशयोक्ति सादृश्यमूलक अलंकारो की अंतिम सीमारेखा का स्पर्श करती है, इस अर्थ में कि उपमेय उपमान मे समानता दिखलाते-दिखलाते मानस की ऐसी भी स्थिति होती है, जब उपमेय से ध्यान पूर्णतः हट जाता है, केवल उपमान ही बच जाता है।

अतिशयोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने किया। इतना ही नही, वरन् उन्होंने सारे अलंकारों के मूल मे अतिशयोक्ति मानी। उनके मत से अतिशयोक्ति का अर्थ है लोकातिक्रान्त-गोचर वचन।[2] दंडी अतिशयोक्ति को अलंकारो का आधार,[3] आनन्दवर्द्धन काव्योत्कर्ष विधायक[4] तथा मम्मट अलंकारत्व का प्राणतत्त्व[5] स्वीकार करते है।

आलकारिको ने अतिशयोक्ति के अनेक भेद किये हैं। मम्मट अतिशयोक्ति के चार भेद करते हैं[6]—

१ : उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके अध्यवसाय में
२ : प्रस्तुत का अन्य प्रकार से वर्णन करने मे
३ : समानार्थक शब्दो के वर्णन से कल्पना करने में तथा
४ : कारण-कार्य के पौर्वापर्य-विपर्यय मे।

विश्वनाथ ने अतिशयोक्ति के पाँच भेद किये[7]—

१ : भेद मे अभेद दर्शित करनेवाली अतिशयोक्ति
२ : संबंध में असंबध करनेवाली अतिशयोक्ति
३ : अभेद में भेद करनेवाली अतिशयोक्ति
४ : असंबंध में संबंध करनेवाली अतिशयोक्ति
५ : कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यत्यय करने वाली अतिशयोक्ति।

---

१ : सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। साहित्यदर्पण, १०/४६

२ : निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलकारतया यथा॥— काव्यालकार, २/८१

३ : अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ काव्यादर्श— /२२०

४ : प्रथम तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालकारेपु शक्यक्रिया।
कृतैव च सा महाकविभि कामपि काव्यच्छाया पुष्यतीति कथ
ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्पमावहेत' —ध्वन्यालोक, पृष्ठ २१९

५ : सर्वत्र एवविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनाक्तिष्ठते ता विना प्रायणालंकारत्वायोगात्। —काव्यप्रकाश

६ : काव्यप्रकाश १०/१००

७ : साहित्यदर्पण १०/४७

अप्पयदीक्षित ने अतिशयोक्ति के निम्नलिखित भेद माने हैं—

१ : भेद में अभेद दिखलाने वाली अतिशयोक्ति को उन्होने रूपकातिशयोक्ति कहा।[1]

२ : सापह्नवा अतिशयोक्ति—अपह्नव युक्त अतिशयोक्ति।[2]

३ : भेदकातिशयोक्ति—जहाँ अभेद रहने पर भेद कथन किया जाय।[3]

४ : संबंधातिशयोक्ति – जहाँ असंबंध में संबंध वर्णन किया जाय।[4]

५ : असंबंधातिशयोक्ति—संबंध रहने पर भी जहाँ असंबंध कथन किया जाय।[5]

६ : अक्रमातिशयोक्ति—कारण-कार्य जहाँ एक साथ वर्णित हो।[6]

७ : चपलातिशयोक्ति—जहाँ कारण के ज्ञान मात्र से ही कार्य की उत्पत्ति हो जाय।[7]

८ : अत्यन्तातिशयोक्ति—जहाँ कार्य पहले हो और कारण बाद में।[8]

मानस में इन अतिशयोक्ति-भेदों के प्रयोग-सौंदर्य का विश्लेषण करेंगे। सर्वप्रथम रूपकातिशयोक्ति का एक उदाहरण लें—

रामु सीय सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं॥
अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

१.३२५.८-६

कमल को लाल पराग से भरकर अमृत के लोभ से साँप चंद्रमा को विभूषित कर रहा है अथवा कमल लाल पराग से पूर्ण होकर अमृत के लोभ से चंद्रमा को विभूषित करता है—जो भी अर्थ ग्रहण करें, इतना स्पष्ट है कि श्री राम के हाथ के लिए 'कमल', सिंदूर के लिए 'अरुन पराग', सीता के मुख के लिए 'चंद्रमा' तथा सौंदर्य के लिए 'अमृत' का प्रयोग किया गया है। कमल, अरुण पराग, चंद्र तथा अमृत ने क्रमशः हाथ, सिंदूर, मुख एवं सौन्दर्य को निगीर्ण कर लिया है, उपमेय को बिलकुल तिरोहित कर दिया है, इसलिए यहाँ रूपकातिशयोक्ति है। हाथ तथा मुख के लिए कमल तथा चंद्र भले ही रूढ़ उपमान हो, किन्तु सिंदूर के लिए लाल पराग एवं सौन्दर्य के लिए अमृत-जैसे उपमान का संयोजन कर गोस्वामी जी ने इस सिंदूर-दान के दृश्य को बड़ा ही भव्य बना डाला है।

२ : भेदकातिशयोक्ति—अभेद रहने पर भेद-वर्णन में भेदकातिशयोक्ति होती है। श्री राम जब विभीषण को बतलाते हैं कि जिस स्यन्दन से जय लाभ होता है, वह दूसरा ही स्यन्दन होता है, तो वहाँ भेदकातिशयोक्ति आ जाती है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होई सो स्यन्दनु आना॥

६.८०.४

३ : असंबंधातिशयोक्ति—संबंध रहने पर भी संबंधाभाव में असंबंधातिशयोक्ति होती है। मानस से एक उदाहरण लें—

---

१ : रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः — कुवलयानन्द—३६
२ : यद्यपह्नुतिगर्भत्वं सैव सापह्नवा मता — कुवलयानन्द—३७
३ : भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम् — कुवलयानन्द—३८
४ : संबन्धातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् — कुवलयानन्द—३९
५ : योगेऽप्ययोगोऽसंबन्धातिशयोक्तिरितीर्यते। — कुवलयानन्द—४०
६ : अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययोः — कुवलयानन्द—४१
७ : चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे। — कुवलयानन्द—४२
८ : अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे — कुवलयानन्द—४३

विधि हरिहर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥

१.३.११

सन्त की महत्ता असंबधातिशयोक्ति के द्वारा जिस चातुरी से दिखलायी गयी है, अन्य अलंकार के द्वारा ऐसा संभव नही था। संत-महिमा का वर्णन करने में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि और विद्वानो की वाणी भला क्यो न समर्थ हो? किन्तु गोस्वामी जी सबकी असमर्थता दिखलाकर सन्त की अकथनीय महिमा की अभिव्यक्ति बडे ही सरल ढंग से कर देते है।

४ : संबंधातिशयोक्ति—संबंध के अभाव में भी जहाँ संबंध वर्णित हो। उदाहरणार्थ यह अर्द्धाली देखे—

जो सम्पदा नीच गृह सोहा। सो बिलोक सुरनायक मोहा॥

१.२८६.८

नीच गृह की सम्पत्ति तथा सुरनायक ऐश्वर्यपति इन्द्र के मोहित होने में किसी प्रकार का संबंध दीखता नही, किन्तु यहाँ मोहित होना वर्णित कर संबंध दिखलाया गया है। कवि का लक्ष्य अयोध्या की अपार सम्पत्ति का बोध कराना है।

५ : अक्रमातिशयोक्ति—पहले कारण होता है, उसके बाद कार्य। कारण का आरम्भ होते ही कार्य सम्पन्न नही हो जाता, वरन् कुछ समय अवश्य लगता है। जहाँ कार्य-कारण का पौर्वापर्य समाप्त हो जाय, वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है। श्रीराम के शक्ति-प्रदर्शन के लिए गोस्वामी जी ने इनका सुदर उपयोग किया है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियाँ देखे—

बिनु फर बान राम तेहि माना। सत जोजन गा सागर पारा॥

१ २१०.४

सन्धानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अन्तर ज्वाला॥

५ ५८.६

६ : चपलातिशयोक्ति—जहाँ कारण के शीघ्र पश्चात् ही कार्य का होना वर्णित किया जाय। मानस मे श्रीराम, रामकथा तथा शिव के महत्त्व-निरूपण के उद्देश्य से चपलातिशयोक्ति का उत्तम प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ पंक्तियाँ देखें—

क : छन मे प्रभु के सायकन्हि काटे बिकट पिसाच।
पुनि रघुबीर निषंग महुँ प्रबिसे सब नाराच॥

६.६८

ख : बिमल कथा कर कीन्ह अरम्भा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥

१.३५.६

ग : तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भएउ जरि छारा॥

१.८७.६

७ : अत्यंतातिशयोक्ति—जहाँ कारण के पहले ही कार्य का होना वर्णित किया जाय। मानस से एक उदाहरण लें—

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार॥

२.३

इस तरह हम देखते हैं कि अतिशयोक्ति के द्वारा गोस्वामी जी ने अपने विशिष्ट पात्रो एवं तत्सबद्ध वस्तुओ का बडा ही भव्य तथा लोकातिशायी वर्णन किया है। जिन कवियो की

अतिशयोक्ति गपोड़बाजी या दूर की कौड़ी लाने की चेष्टा बन गयी है, यदि मानस के अतिशयोक्ति-वर्णन का आदर्श रखते, तो ऐसी स्थिति नही होती।

## १३ : तुल्ययोगिता :

तुल्ययोगिता पदार्थगत गम्यौपम्याश्रयमूलक अलंकार है। इसमें अनेक तुल्यों अर्थात् समानो का योग किया जाता है। तात्पर्य यह कि तुल्ययोगिता में अनेक उपमेयो अथवा उपमानो का एक धर्माभिसंबंध वर्णित किया जाता है।[1] तुल्ययोगिता से दीपक इसी अर्थ मे पृथक् अलंकारत्व प्राप्त करता है कि उसमें उपमेय और उपमान दोनो में एकधर्माभिसंबंध वर्णित होता है। यह एक धर्माभिसंबंध गुण-रूप या क्रिया-रूप—कोई भी हो सकता है। अधुनातन आलंकारिकों को तुल्ययोगिता की उपरिकथित परिभाषा ही मान्य है वैसे तो प्राचीन आलंकारिको ने इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।[2]

सब कर संशऊ अरु अग्यानू। मंद महीपंन्ह कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनि वरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥
संभु चाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥

१.२६६.५-७

संशय, अग्यानू, अभिमानू, गर्व, गरुआई, कदराई, सोच, पछितावा, दुखदावा—इन सभी अप्रस्तुतो का एक क्रिया-रूप धर्म 'चढ़े जाइ' से संबंध वर्णित है। शिव-धनुषरूपी जहाज पर उन्होंने अच्छे-अच्छे सवार चढ़ाये हैं।

भोज ने सरस्वतीकंठाभरण में हित तथा अहित मे समान व्यवहार को तुल्ययोगिता अलंकार माना है। मानस से उदाहरण देखें—

बंदौ संत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ॥

१.३ क

दंडी ने उत्कृष्ट गुणवानों के साथ सादृश्य-प्रतिपादन मे तुल्ययोगिता मानी है, इसका उल्लेख गत पृष्ठ की पाद-टिप्पणी मे हो चुका है। 'जगत सिंह' ने 'भाषा-भूषण' में भोज के लक्षण को प्रथम भेद, चन्द्रालोक के लक्षण को दूसरा भेद तथा दंडी के लक्षण को तीसरा भेद माना है।[3] तुलसी-साहित्य-रत्नाकर में तुल्ययोगिता के चार भेद किये गये हैं और चारो के

---

१ : पदार्थानां प्रस्तुतानाम् अन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता। — साहित्यदर्पण—१०/४८

२ : (क) न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया।
तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता॥ — भामह—काव्यालंकार ३/२७

(ख) विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत् समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता॥ — दंडी, काव्यादर्श २/३३०

(ग) उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।
साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता॥ — उद्भट, काव्यालंकार-सार-संग्रह ५/७

(घ) विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता। — वामन, काव्यालंकार सूत्र ४/३/२६

(ङ) वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता। — दीक्षित, कुवलयानंद ८—४४

३ : हिंदी-साहित्य-कोश, पृष्ठ ३७१

उदाहरण रामचरितमानस से प्रस्तुत किये गये है। उक्त पुस्तक में वर्णित तुल्ययोगिता के प्रथम दो भेद विश्वनाथ-कथित एक ही परिभाषा के हैं। जहाँ अनेक प्रस्तुतो का एक धर्मकथन हो, वहाँ प्रथम तुल्ययोगिता, जहाँ अनेक अप्रस्तुतों का एक धर्मकथन, वहाँ दूसरी तुल्ययोगिता—यहाँ तक तो मान्य है। उनकी तीसरी तुल्ययोगिता है 'जहाँ एक में वहुत धर्मों का कथन किया जाय, वहाँ तृतीय तुल्ययोगिता होती है तथा चौथी तुल्ययोगिता है, जहाँ कई विरोधी वस्तुओं के साथ एक धर्म आरोपण किया जाय।'[1] तुल्ययोगिता के अंतिम दो भेदों का प्रौढ़ शास्त्रीय आधार न रहने के कारण यहाँ उनका विवेचन उचित नही समझ कर छोडा जा रहा है। वस्तुतः किसी भी अलंकार के जितने भी भेद-प्रभेद किये जाते हैं, मानस में अधिकांश को ढूँढ लिया जा सकता है। प्रमुख रूप से तुल्ययोगिता का एक ही भेद है—चाहे अनेक प्रस्तुतों का एक धर्माभिसंबंध रहे या अनेक अप्रस्तुतों का। मानस में ऐसी तुल्ययोगिता के अनेको उदाहरण मिलते हैं, जिससे गोस्वामी जी की शब्द-मितव्ययिता का पुष्ट प्रमाण मिलता है। साथ ही-साथ अनेक तुल्यों को एक स्थान पर जुटाने में उनकी सम-वस्तु-संयोजन-चातुरी भी प्रदर्शित होती है। कुछ उदाहरणों से इस कथन की पुष्टि की जा रही है—

**१ : जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।**
**चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुख मूल॥**

१.१६०.६-१०

**२ : गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहु परइ दुसह दुख भारू॥**

२.७१.४

**३ : जप तप मख सम दम व्रत दाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना॥**
**सबकर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥**

७.६५.५-६

## १४ : दीपक :

दीपक भी सादृश्य-गभ-गम्योपम्याश्रय-मूलक अलंकार है। आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थों में एक धर्म-सवंध अथवा अनेक क्रियाओं के एक कारक रहने मे दीपक अलंकार माना है।[2] इसी दूसरे प्रकार को कारक दीपक भी कहा जाता है। दीपक और तुल्ययोगिता को एक ही अलंकार के अंतर्गत रखना चाहिए, किन्तु दीपक के अंतर्गत रखा जाय या तुल्ययोगिता के अंतर्गत—इस विषय को लेकर आलंकारिकों में पर्याप्त शास्त्रार्थ हुआ है[3] फिर भी आज तक अलंकार-साहित्य में तुल्ययोगिता और दीपक दोनो के व्यक्तित्व अक्षुण्ण हैं।

सर्वप्रथम मानस में विनियुक्त दीपक के एक-दो उदाहरण देखें—

**सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥**

१.२७३.६

यहाँ महिसुर एक प्रस्तुत तथा सुर हरिजन और गाय अनेक अप्रस्तुतो का 'सुराई' रूप एक धर्म-संवध वर्णित है।

---

१ : तुलसी साहित्य रत्नाकर, रामचंद्र द्विवेदी, पृष्ठ ४७२-७३

२ : अप्रस्तुत प्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत। १०.४९

३ : देखें—अलकार-मंजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
अलकार-मुक्तावली—आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा तथा रसगंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ।

दूसरा उदाहरण लंकाकांड से लें—

कौल काम बस कृपन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा ॥
सदा रोग बस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी ॥
तनु पोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी ॥

६.३१.२-४

अंगद ने जिन चौदह प्रकार के प्राणियों की सूची दी है उसमें इस प्रकरण में कौल, कामबस, विमूढ़ा, अधमी, संतत क्रोधी, विष्णु विमुख, श्रुति संत विरोधी, तनु पोषक, निंदक तथा अघखानी प्रस्तुत रावण के पक्ष में गृहीत हो सकते हैं तथा कृपिन, अति-दरिद्र, अति बूढ़ा तथा सदा रोग बस अप्रस्तुत के रूप गृहीत होते हैं—इन दस प्रस्तुतों तथा चार अप्रस्तुतों को अघखानि या जीवित सम—एक धर्म-संबंध होने से दीपक अलंकार है।

तुलसी ने नीति-कथन एवं सिद्धान्त-निरूपण के लिए दीपक का उपयोग बहुशः किया है। वे अपने कथन के समर्थन के लिए एक ही साथ अनेक प्रस्तुतों एवं अप्रस्तुतों की वाहिनी तैयार कर डालते हैं, ताकि उनके सिद्धान्त की जकड़ से कोई निकल न पाये।

'दीपक' के भेद-प्रभेद को लेकर भी ऐकमत्य नहीं दीखता। भामह ने दीपक के आदि दीपक, मध्य दीपक तथा अन्त दीपक'—तीन भेद किये। दंडी के विचार से दीपक के इतने भेद हो सकते हैं—

१ : जातिवाचक शब्द द्वारा कथित आदि दीपक
२ : क्रिया ,, ,,
३ : गुण ,, ,,
४ : द्रव्य ,, ,,
५ : जातिवाचक शब्द द्वारा कथित मध्य दीपक
६ : क्रिया वाचक ,, ,,
७ : गुण ,, ,,
८ : द्रव्य ,, ,,
९ : जातिवाचक शब्द द्वारा कथित अंत दीपक
१० : क्रिया ,,
११ : गुण ,,
१२ : द्रव्य ,,
१३ : मालादीपक
१४ : विरुद्धार्थ दीपक
१५ : एकार्थ दीपक
१६ : श्लिष्टार्थ दीपक
१७ : अर्थावृत्ति दीपक
१८ : पदावृत्ति दीपक
१९ : उभयावृत्ति दीपक[२]

१ : आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद्भिद्यते त्रिधा ॥ २-२५

२ : काव्यादर्श २।९७—११५ तक

मम्मट ने दीपक के मुख्यतः दो भेद किये है—१: क्रिया दीपक, २: कारक दीपक।[1] दीपक के विचारणीय भेदो में संस्कृत-काव्यशास्त्रियो के आधार पर कारक दीपक, आवृत्ति दीपक तथा माला दीपक हैं। हिन्दी के अलंकारशास्त्री ने 'देहली दीपक' नामक नवीन भेद की चर्चा की है, जो हिन्दी के विद्वानों को मान्य है।

मानस से इन दीपक-भेदो के उदाहरण लिये जा सकते हैं—

क : कारक दीपक—

१ : लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सब ठाढ़ें॥
१.२६१.७

२ : उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा॥
१.२३६.४

ख : पदावृत्ति दीपक—

सर्व सर्व गत सर्व उरालय

ग : अर्थावृत्ति दीपक—

१ : कुसुमित विविध विटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा॥
१.१२६.२

२ : बिमल सलिलु सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा॥
१.२२७.८

३ : गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥
१.२१२.७

घ : पदार्थावृत्ति दीपक—

१ : भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।
सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिअ मीचु॥
१ ५

२ : राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने॥
२.३३.७

ङ : देहरी दीपक—

१ : बंदौ बिधि पद रेनु भव सागर जेहिं कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनि॥
१.१४.२३-२४

२ : पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह।
कपिन्ह सहित बिप्रन कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह॥
६.१२०.१२-१३

च : माला दीपक—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥
२.२१७.८

---

१ : सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्। १०/१०३

इस प्रकार दीपक की बहुवर्णी ज्योति में मानस दीपित है। देहरी दीपक तो मानस के पग-पग पर है और इससे गोस्वामी जी की शब्द-मितव्ययिता का भी प्रमाण प्राप्त होता है।

## १५. प्रतिवस्तूपमा :

प्रतिवस्तूपमा भी सादृश्य-गर्भ-गम्योपम्याश्रय-मूलक अलंकार है। भामह[1] तथा दंडी[2] ने इसे उपमा के अंतर्गत ही विवेचित किया है। उद्भट ने सर्वप्रथम इसे स्वतंत्र अलंकार माना। भोज ने प्रतिवस्तूपमा को प्रतिवस्तूक्ति से अभिहित किया है। प्रतिवस्तूक्ति के उन्होंने ऋज्वी, वक्रा, पूर्वा, उत्तरा, विधि और निषेध आदि अनेक भेद किये हैं। उद्भट से पंडितराज जगन्नाथ तक अनेक आलंकारिकों ने प्रतिवस्तूपमा की परिभाषा दी है। यहाँ हम केवल विश्वनाथ की परिभाषा से संतोष कर रहे हैं। विश्वनाथ की परिभाषा है "जहाँ उपमेय और उपमान वाक्य में सादृश्य प्रतीयमान होता है, उनमें यदि एक ही साधारण धर्म पृथक्-पृथक् शब्दों से कहा जाय, तो प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है।[4] प्रतिवस्तूपमा साधर्म्य तथा वैधर्म्यमूलक दोनों होती है। इसकी चर्चा रुय्यक, विद्यानाथ, विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित आदि ने की है। यह माला-रूप भी हो सकती है। इसका उल्लेख मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ने किया है।

रामचरितमानस में साधर्म्य-मूलक, वैधर्म्य-मूलक तथा माला-रूप प्रतिवस्तूपमा के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

साधर्म्य मूलक—

१ : सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥
१.३.६

२ : अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन ज्योति मलीन।
तिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥
१.२३८

वैधर्म्य मूलक—

१ : भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥
१.१०.३-४

२ : सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप।
विद्यमान रन पाय रिपु कायर करहिं प्रलाप॥
१.२७४

माला रूप—

सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा॥
जायँ जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥
२.१७८.५-६

---

१ : काव्यालंकार

२ : काव्यादर्श

३ : सरस्वती-कंठाभरण

४ : प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्य साम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्। —साहित्यदर्पण, १०/४९ के बाद

मानस मे प्रतिवस्तूपमा का एक और विलक्षण रूप दिखाई पडता है। काकु द्वारा दो वाक्यो का एक धर्म-संबंध वर्णन में अतिरिक्त रमणीयता आ गयी है। ऐसे उदाहरण तो मानस मे अनेक प्राप्त होते हैं—

१ : सो मै बरनि कहउँ बिधि केही। डाबर कमठ कि मंदर लेही॥
२·१३६.७

२ : सो मैं कुमति कहउँ केही भाँती। बाज सुराग की गाडर ताँती॥
२ २४१.६

३ : नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा॥
२.२८.५

४ : प्रिय लागहि अति सबहिं मम भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग॥
१ १० क

## १६ : दृष्टान्त

दृष्टान्त भी प्रतिवस्तूपमा की जाति का ही अलंकार है। दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा मे भेद इतना ही है कि जहाँ प्रतिवस्तूपमा मे साधारण धर्म में वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है, वहाँ दृष्टान्त में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव। प्रतिवस्तूपमा मे उपमेय तथा उपमान में ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। किन्तु दृष्टान्त में उपमेय, उपमान तथा उनके साधारण धर्म – तीनो में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है—जैसा मम्मट ने लिखा है।[1] प्राचीन आलंकारिकों में भामह, दंडी एवं वामन ने इसका निर्देश नही किया है। उद्भट ने ही इस अलंकार का उद्भावन किया। भोज ने साम्यालंकार के एक भेद दृष्टोक्ति की चर्चा की है।[2] आधुनिक आलकारिकों ने इसके भी दो भेद किये हैं १ : साधर्म्य दृष्टान्त तथा २ : वैधर्म्य दृष्टान्त।

मानस तो दृष्टान्तो का उपवन ही है। इन दृष्टान्तो के द्वारा गोस्वामीजी अपने कथन को मानस पर मानो मुद्रित कर देते हो। दो-चार सुन्दर दृष्टान्त देखें—

१ : भरतहि होइ न राज मदु बिधि हरिहर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजीसीकरनि छीर सिंधु बिनुसाइ॥
२.२३०

२ : काटेहि पइ कदली फरै कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पइ नव नीच॥
५ ५८

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद
मुरुख हृदय न चेत जौ गुर मिलहिं बिरंचि सम।
६. १६ सोरठा

---

१ : प्रतिवस्तूपमा तु सा
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थिति' १०।१०१
तथा
दृष्टान्तः पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम् १०।१०२

२ : तत्रे वादेः प्रयोगेण दृष्टान्तोक्ति प्रचक्षते। —सरस्वती-कंठाभरण ४।३६

लौकिक जीवन के अनुभव-रस से सिक्त ये दृष्टान्त मानव के चतुर्दिक विकास के लिए कितने सहायक हैं—इसका अनुमान तो उन्हें ही हो सकता है, जिन्होंने मानस के सुन्दर दृष्टान्तों पर दृष्टिपात किया है। कहीं-कहीं ये दृष्टान्त राम-भक्ति को ओर वडी कुशलता से आकृष्ट करते हैं। यथा—

राम भजन विनु मिटहिं कि कामा। खल विहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

७.६०.२

इस प्रकार लौकिक एवं पारलौकिक उन्नयन के लिए तुलसी के दृष्टान्त कहीं मित्र, कहीं अभिभावक एवं कहीं पथप्रदर्शक का कार्य संपादित करते दीखते हैं।

## १७ : निदर्शना :

भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक ने निदर्शना का उल्लेख किया है। उद्भट का कथन है "वस्तु में संवंध का अभाव रहने पर भी संवंध की कल्पना करना तथा उपमान और उपमेयत्व का कथन करना निदर्शना है।[1] विश्वनाथ ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है—"वस्तुओं का परस्पर संवंध सम्भव अथवा असम्भव होकर (अर्थ की संगति के लिए) आपस में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव का वोध न करे, वहाँ निदर्शना अलंकार होता है।[2] दृष्टान्त में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव होता, किन्तु निदर्शना से अंतर यह है कि दृष्टान्त में अर्थ-संगति के वाद विम्ब-प्रतिविम्ब की कल्पना की जाती है, निदर्शना में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव की कल्पना के विना अर्थसंगति होती ही नहीं। एक वात और स्मरणीय है कि दृष्टान्त में जहाँ उपमेय और उपमान दोनो निरपेक्ष रहते हैं, वहाँ निदर्शना में दोनों सापेक्ष रहते हैं।

निदर्शना के कई भेदों की चर्चा की गयी है।

१ : परस्पर असंवद्ध वाक्यों में विम्ब-प्रतिविम्ब भाव।

२ : उपमेय के गुण का उपमान मे आरोप अथवा उपमान के गुण का उपमेय में आरोप।

३ : जहाँ किसी विशेष क्रिया से युक्त पदार्थ की क्रिया से असत् या सत् अर्थ का वोधन कराया जाय, वहाँ भी निदर्शना होती है।

१ : प्रथम निदर्शना—यह निदर्शना भी दो प्रकार की होती है। जहाँ वस्तुओं का संवंध संभव हो तथा जहाँ वस्तुओं का संवंध संभव नहीं हो।

क : संभव वस्तुसंवंध वाली निदर्शना—

निज प्रतिविम्ब वरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥

२.४७.८

ख : असंभव वस्तुसंवंधवाली निदर्शना—

१ : मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥

२.७२.३

---

१ : अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत्।
उपमानोपमेयत्व कथ्यते सा निदर्शना। —काव्यालंकार-सार-संग्रह ५/१०

२ : संभवन्वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्वापि कुत्रचित्
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना। —साहित्यदर्पण १०/५१

२ : सो धनु राज कुँअर कर देही। बाल मराल कि मंदर लेहीं ॥

१.२५६.४

३ : जे अस भगति जानि परिहरही। केवल ज्ञान हेतु स्रम करही ॥
ते जड़ काम धेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥

७.११५.१-२

४ : सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥

७.११५.३-४

२ : द्वितीय निदर्शना—इसे पदार्थ निदर्शना भी कहते है।

(क) जहाँ उपमान का गुण उपमेय धारण करता है, वहाँ द्वितीय निदर्शना होती है। उदाहरण ले—

१ : पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा ॥

१.११२.७

२ : पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥

७.३९

(ख) जहाँ उपमेय का गुण उपमान धारण करता है, वहाँ तृतीय निदर्शना होती है। यथा—

१ : तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। संग पितु मातु राम सिय जासु ॥

२.७५.७

२ : तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा ॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाही। जानु प्रीति रसु ऐतनेहि माही ॥

५.१५.६-७

३ : कह हनुमत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥

६.१२

३ : तृतीय निदर्शना—इसे सदर्थ निदर्शना भी कहते हैं। जहाँ अपने सद्व्यवहार या ज्ञान से दूसरों को उपदेश दिया जाय। यथा—

१ : प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि वाम अंग जनु कहि देही ॥

५.३५.६

२ : सगुन होहि सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर ॥

७.१.३-४

३ : उमा कहउँ मै अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥

३.३९ ५

सदर्थ निदर्शना की तरह असदर्थ निदर्शना भी बतलायी गयी है—

भूमि सयन पट्ट मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना ॥
कुमतिहि कसि कुवेषता फाबी। अन अहिवातु सूच जनु भावी ॥

२.२५.६-७

मालारूपा निदर्शना[1] का एक उदाहरण देखें—

जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं ॥
जे सुकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं ॥
जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातक मई ।
मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई ॥
करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं ।
ते पद पखारत भाग्य भाजनु जनकु जय जय सब कहैं ॥

१.३२४.११-१६

वाचक-लुप्ता-मालारूपा निदर्शना का एक सुंदर उदाहरण देखें—

सेवक सुख चह मान भिखारी । ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी ॥
लोभी जसु चह चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी ॥

३.१७.१५-१६

इस प्रकार निदर्शना के उतने रूप मानस में प्राप्त होते हैं, जितने रूपों की ओर किसी एक आलंकारिक का ध्यान भी नहीं गया है। मानस की निदर्शना गोस्वामी जी की अलंकारदक्षता का पूर्णतः निदर्शन करती है, इसमे संदेह नहीं।

## १८ : व्यतिरेक :

व्यतिरेक सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय भेदप्रधान अर्थालंकार है। भामह के कथनानुसार उपमान की अपेक्षा उपमेय के वैशिष्ट्य-निदर्शन में व्यतिरेक अलंकार होता है।[3] मम्मट ने लिखा है—"उपमान की अपेक्षा उपमान का उत्कर्ष-वर्णन व्यतिरेक अलकार कहलाता है।"[4] व्यतिरेक 'अतिरेक' से बना है, जिसका अर्थ है बढ़ा-चढ़ा कर कहना। इसमें किसको बढ़-चढ़ा कर कहा जाय, इसको लेकर आलंकारिकों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन का पक्षपाती है, तो दूसरा कहीं उपमेय के उत्कर्ष-वर्णन और कहीं उपमान के उत्कर्ष-वर्णन—दोनों को मान्यता प्रदान करता है। प्रथम वर्ग में भामह, मम्मट, हेमचन्द्र, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, चिंतामणि तथा कुलपति के नाम उल्लेख्य हैं एवं द्वितीय वर्ग में उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, विश्वनाथ, विद्यानाथ, भूषण और पद्माकर प्रमुख हैं।[5]

जहाँ उपमेय और उपमान मे समता भी दिखलाई जाती है, वहाँ भी उपमान की विशिष्टता प्रच्छन्न रहती है। वस्तुतः कवि अपने वाक्य को स्पष्ट करने के लिए या साम्य दर्शित करने के लिए जिन उपमानों का चयन करता है, वे मूलतः उपमेय से उत्कृष्टतर होते हैं। अनेक अलंकारों में उपमेय से उपमान उत्कृष्ट रहते हैं। व्यतिरेक अलकार का यही अतिरेक है कि इसमें उपमेय ही उपमान की अपेक्षा अधिक गुणशाली हो। कवि जब अपने वर्ण्य के लिए उपमानों को खोजने

---

१ : सुमति-ग्रंथावली के निदर्शना-प्रकरण से।
२ : देखें—साहित्यदर्पण, १०/५२ के बाद "मालारूपापि"
३ : उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद्यथा। — काव्यालंकार २/७५
४ : उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। — काव्यप्रकाश सूत्र १५९
५ : क : [illegible] उपमानात् [illegible] व्यतिरेक : — [illegible] ग्रंथ, पृष्ठ [illegible]
ख : आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा व्यतिरेकः — साहित्यदर्पण १०/५२

लगता है, तो उसके वर्ण्य की अतिशयता के कारण उपमान तुल नही पाते। परिणामतः वह अपने उपमेय की ही सर्वतोभावेन श्रेष्ठता प्रतिपादित करने को विवश हो जाता है। पूर्वग्रह्या अतिशयानुरक्ति से उत्पन्न भावावेग के कारण व्यतिरेक अलंकार का जन्म होता है। यही कारण है कि वीरगाथाकाल के रण-लोलुप वीरो. भक्तिकाल के अशरण-शरण आराध्यो, रीतिकाल के अर्थप्रदाता आश्रयदाताओ, प्रगतिवाद के सर्वहारावर्गों तथा आधुनिक कविता की दुर्दम जिजीविषा एवं मानव की अपराजेय युयुत्सा के वर्णनो में व्यतिरेक का आपातमनोहर वर्णन प्राप्त होता है।

गोस्वामी तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम के शील, सौन्दर्य और शक्ति तथा आराध्या श्री रामवल्लभा सीता की रूप-माधुरी पर इतने मुग्ध है कि उनकी तुलना में अप्रस्तुतो के महान रत्नकोष भी उन्हें तुच्छ जान पडते है। श्रीराम जनकपुर मे घूमने के लिए ज्योही निकले कि पुरंध्रियाँ अपने सारे कार्यों को विसार कर, भवनो के झरोखे से निरखने लगी। वे रामरूप में इतनी अनुरक्त हो गयी हैं कि सामान्य रूप से देखने की वात कौन कहे, निरखने लगी है। वे आपस में वार्तालाप करती हुई कहती हैं कि रूप का प्रतिमान अवतक तो कामदेव का रूप ही माना गया था, किन्तु उन्होंने तो करोडो कामदेवो की सुन्दरता को जीत लिया है। देवलोक, नरलोक तथा पाताललोक मे एक भी ऐसा व्यक्ति नही, जिसकी शोभा ऐसी सुनी जाती हो। इन सखियो ने आप्त पुरुषों, पुराणो एव काव्यो आदि से तीनो लोकों के सुन्दरतम व्यक्तियों के सौन्दर्य की चर्चा सुनी है, तीनो लोको के सुन्दरतम व्यक्तियो के सौन्दर्य को अपनी आँखों से देखना तो संभव नही; क्योंकि वे तो शूर्पनखा[1]-जैसी कुलटा नारी तो है नही कि अपनी काम-पिपासा शांत करने के लिए तीनो लोको का भ्रमण करती रहे। पाताललोक मे रहनेवाले शेषशायी विष्णु, पृथ्वीलोक में कैलासवासी पुरारी तथा देवलोकनिवासी रूपविधाता ब्रह्मा के रूप की वडी प्रशसा सुनी जाती है, किन्तु जिसके आकार में ही अनुपात न हो, उसे सुन्दरतम मानना तो निरर्थक है। विष्णु को चार भुजाएँ है, शिव पाँच मुखवाले तथा विकराल वेष है, तो ब्रह्मा को भी चार मुख है। भला इन भयावह आकृतिवालों को श्रीराम की सुन्दरता की तुलना मे कैसे उपस्थित किया जा सकता है? जब वडे-वडो का यह हाल है, तो छोटों की बात ही व्यर्थ है। देवो में सर्वाधिक दिव्य भी जब राम की समता नहीं कर सकते हैं, तो छोटे देव[2] तो आँख के अंधे नाम नयनसुख वाली कहावत ही चरितार्थ करते दीखते है। गोस्वामी जी के शब्दों में—

कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुं सुनिअति नाहीं॥
विष्णु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट वेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउँ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥

१ २२०.५-८

अन्य अलंकारो की भाँति व्यतिरेक के भेदोपभेदो के विषय मे पर्याप्त मतभेद है। भामह ने व्यतिरेक के भेद की चर्चा नही की, किन्तु दंडी ने व्यतिरेक के व्यतिरेक, उभय व्यतिरेक, सश्लेष

१ : मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥
२ : देव शब्द—दिव् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है प्रकाशमान। राम के सौदर्य के समक्ष ये देव प्रकाशमान नहीं, वरन् तममान् है।

व्यतिरेक, सदृश व्यतिरेक तथा सजाति व्यतिरेक[1] का सविस्तर वर्णन किया है। भोज ने सादृश्य की अभिधीयमानता तथा प्रतीयमानता, जाति, व्यक्ति, उपाधि, सादृश्य तथा वैसादृश्य के आधार पर व्यतिरेक के सोलह भेद किये हैं।[2] मम्मट ने उपमेय के उत्कर्ष एवं उपमान के अपकर्ष, औपम्यवाचक शब्दों के निर्देश-प्रकार तथा शब्दों की श्लिष्टता-अश्लिष्टता के आधार पर व्यतिरेक के चौबीस भेद किये हैं।[3] विश्वनाथ उपमेय और उपमान को दुगुना कर अड़तालीस भेद मानते हैं। किन्तु, हिंदी के आलंकारिकों ने इन अड़तालीस भेदों में केवल चार भेदों को ही विवेच्य माना है।

१ : उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश।
२ : उपमेय के उत्कर्ष का कारण-निर्देश।
३ : उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश।
४ : उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का कारण-निर्देश न होना।[4]

मानस में इन चारों भेदों के उत्तमोत्तम उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

१ : संतहृदय नवनीत समाना। कहाकविन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहि संत सुपुनीता॥
७.१२५.७-८

२ : सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
१ २.१२-१३

३ : गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनुपति जानी॥
विष वारुनी बन्धु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥
१.२४७.५-६

४ : जौं हठ करऊं त निपट कुकरमू। हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू॥
२.२५२ ६

प्रथम उदाहरण में संतहृदय की महत्ता तथा नवनीत की लघुता के कारण स्पष्टतः बतलाये गये हैं। नवनीत स्वताप से पिघलता है, किन्तु संत तो पर-ताप से पिघलते हैं। स्वताप से पिघलनेवाला श्रेष्ठ या पर-ताप से पिघलनेवाला—इसका निर्णय तो अबुध भी कर सकते हैं। द्वितीय उदाहरण में उपमेय साधु-समाजरूपी तीर्थराज की उत्कृष्टता के कारण सर्वदेश सुलभता एवं सेवन से तत्क्षण क्लेशशमन, सद्यः फल-प्रदान बतलाये गये हैं। तृतीय उदाहरण में सरस्वती, पार्वती, रति

---

१ : काव्यादर्श २/१८० से २/१९८ तक

२ : एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा। चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः आक्षेपाच्च द्वादशधा
श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा।
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः। — साहित्यदर्पण १०/५२ के बाद पृष्ठ ३३१
जात्या व्यक्त्युपाधिभ्यामेकोभयभिदा च सः
सादृश्याद्वैसादृश्याच्च भिन्नः षोडशधा मतः। — सरस्वतीकंठाभरण ३/३३

३ : काव्यप्रकाश

४ : देखें—१ : रसमंजरी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पृष्ठ २३०-२३१
२ : काव्यदर्पण, पं० रामदहिन मिश्र
३ : अलंकार-मुक्तावली, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, पृष्ठ १३०-१३०

तथा लक्ष्मी-जैसे उपमानो की निष्कृष्टता के कारण बतलाकर सीता-जैसे उपमेय से समता-प्रदर्शन का निवारण किया गया है। चतुर्थ उदाहरण मे सेवावृत्ति को कैलाश से भी भारी बतलाया गया है, किन्तु यहाँ पर उपमेय-उपमान के उत्कर्षापकर्ष के हेतु अनिर्दिष्ट हैं।

मानस में व्यतिरेक के अड़तालीस भेदों में अनेक भेदो के उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। बात यह है कि गोस्वामी जी ने साहित्यदर्पण और सरस्वती कंठाभरण आदि के भेदों को उदाहृत करने के लिए मानस की रचना नही की है। जैसे राम के दर्शन के लिए कीट-पतंग से देवाधिदेव उत्कंठित करते हैं, उनकी सेवा मे सर्वस्व न्योछावर करने के लिए उद्यत रहते है, वैसे ही इन अलंकारो के भेद-प्रभेद आपाधापी कर धन्य हो जाना चाहते हैं। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास की कला की ही यह व्यतिरेकता है, जो अनायासतः इतनी सूक्ष्मताओ को आयत्त कर लेती है।

## १९ : सहोक्ति

सहोक्ति सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय भेदप्रधान अलंकार है। अनेक आलंकारिको ने इसे अनेक प्रकार से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उपमान और उपमेय मे एक ही प्रधानता का निर्देश होने पर, दूसरे का सहार्थ से संबंध होने पर सहोक्ति होती है।[१] मम्मट की परिभाषा है कि एकार्थवाचक होने पर भी जहाँ सहार्थ के बल पर दोनों का वाचक होता है, वहाँ सहोक्ति का क्षेत्र होता है।[२] सहोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—सह + उक्ति अर्थात् साथ कथन। इस सह-कथन में जबतक सौंदर्य नही रहता, तबतक अलकारत्व आ नही सकता। इसलिए अप्पयदीक्षित ने सहभाव के साथ जनरजन को अनिवार्य माना है।[३] सहोक्ति में सह-सग आदि शब्दो के द्वारा एक पद के अनेकार्थ होते हैं, उसमे वर्णित समकालिकता मे कारण कार्य विपर्यय रूप अतिशयोक्ति रहती है। इसे रुय्यक और विश्वनाथ[४] आदि आलंकारिक तो मानते है, किंतु पडितराज जगन्नाथ इसका खडन करते हैं।[५]

सहोक्ति के भेदापभेद पर भी अनेक आलंकारिक उलझ गये है। रुय्यक ने प्रथमतः अतिशयोक्ति मूलक सहोक्ति के दो भेद किये—१ : कार्यकारण प्रतिनियम विपर्ययरूपा और २ : अभेदाध्यवसाय रूपा। पुन उन्होंने अभेदाध्यवसाय के दो भेद किये। १ : श्लेष भित्तिक, २ : अश्लेष मूलक।[६] पीछे चलकर भोज ने सबद्ध वस्तुओ के कर्त्तायन या कर्मादि, क्रियाओ की विविक्ति अथवा अविविक्ति के आधार पर अनेक भेद किये है।[७] बाद के आलंकारिको मे सहोक्ति के केशकर्षण को छोडकर केवल उसके मूल स्वरूप की चर्चा की जाती रही। मानस में सहोक्ति के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—

१ : त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं, बिचार बरै हठि तेही॥

१.२५०.४

---

१ : उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसबन्धे सहोक्तिः — अलंकारसर्वस्व, सू० २९

२ : सा सहोक्तिःसहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्। — काव्यप्रकाश, १०/११२

३ : सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः। — कुवलयानन्द २१/५८

४ : मूलभूतातिशयोक्तिर्यदाभवेत। — साहित्यदर्पण १०/५५

५ : रस गगाधर—देखिए—केशैवद्धनाम्‌··चालंकार विभाजकत्वात, पृष्ठ ४८६

६ : अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १३३

७ : कर्त्रादीना समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते। — सरस्वती कंठाभरण ४/५७

'वरे' शब्द 'विवाह करे' और 'ग्रहण करे' दो अर्थों में प्रयुक्त है।

२ : वलु प्रतापु वीरता वड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥
१.२६६.७

वल, प्रताप, वीरता तथा वड़ाई की नाक का पिनाक के साथ सिधारने में सहोक्ति का सुन्दर प्रयोग है।

## २० : विनोक्ति :

मम्मट-पूर्व विनोक्ति अलकार की चर्चा अलंकारशास्त्र में नही प्राप्त होती, इसलिए इस अलंकार के उद्भावन का श्रेय मम्मट को ही प्राप्त है। मम्मट के वाद प्रायः सभी आलंकारिकों ने इसे परिभाषित-उदाहृत किया है। यदि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के विना अशोभन या शोभन वर्णित हो, तो विनोक्ति अलंकार होता है।[1] इस तरह विनोक्ति दो प्रकार से हो सकता है– १ : अशोभन की विनोक्ति और २ : शोभन की विनोक्ति।

भक्त कवि तुलसी के रामचरितमानस में अशोभन की विनोक्ति अत्यधिक प्राप्त होती है। चाहे किसी व्यक्ति को कितना भी धन, वल, विद्या, वुद्धि, सम्पत्ति क्यो न हो जाय, किन्तु राम-भक्ति के विना सव शून्यवत् है। मनुष्य शास्त्रज्ञ होने पर भी सत्संगति के विना शोभन नहीं हो सकता। लक्षलक्ष साधन व्यर्थ हैं, यदि मनुष्य पर भगवान राम की अनुकम्पा नहीं हो। मानस में ऐसे स्थल वार-वार प्राप्त होते हैं। भक्ति, भगवंत एवं संत की ओर उन्मुख करने के लिए गोस्वामी जी ने विनोक्ति का वड़ा ही विलक्षण उपयोग किया है। इस अलंकार ने आत्मोन्नयन की कैसी मनोरम भूमिका निर्मित की है, यह तो मानस के स्थल-स्थल पर दर्शनीय है। जिधर दृष्टि जाती है, उधर अशोभन की विनोक्ति ही दिखलाई पड़ती है। कुछ उदाहरण देखें—

१ : विधु वदनी सव भाँति संवारी। सोह न वसन विना वर नारी॥
१.१०४

२ : विनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥
२.६८६

३ : साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जाय जियत जग सो महि भारू। जननी जौवन विटप कुठारू॥
२ १९०.७-८

रामचरितमानस में 'विनोक्तिमाला' के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनकी ओर मम्मट, विश्वनाथ, जयदेव और अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिको ने भी हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं किया है। दो उदाहरण मेरे कथन-समर्थन के लिए अलम् होंगे—

१ : जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी,
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जियँ भामिनी॥
२.५० के पहले छंद

२ : राजनीति बिनु धनु बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
विद्या बिनु विवेक उपजाएँ। श्रमफल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥
३.२१.८-६

१. (क) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः। काव्यप्रकाश १०/१७१
(ख) विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा। साहित्यदर्पण १० ५१

रघुनाथदास ने मानसदीपिका मे दो प्रकार की विनोक्ति की चर्चा की है 'नीक वानि काम कछु दुरावै नही' और दोनो के उदाहरण दिये हैं'—

१ : रामु कहा सबु कौसिक पाही। सरल सुभाउ छुआ छल नाही॥

१.२३७ २

२ : विधु वदनी सब भांति सँवारी। सोह न वसन विना वर नारी॥

१ १०.४

प्रथम प्रकार की विनोक्ति विलकुल स्पष्ट नही है।

## २१ : समासोक्ति :

समासोक्ति का अर्थ है, सक्षेप-कथन। इस अलंकार में प्रस्तुत वस्तु के व्यवहार पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का आरोप होता है। इसी बात को अनेक आलकारिको ने अनेक प्रकार से कहा है। उद्भट के अनुसार 'समान विशेषणो से प्रकृत परक वाक्य द्वारा अप्रकृत अर्थ का अभिधान समासोक्ति है।'[2] रुय्यक का कथन है 'विशेषण साम्य से अप्रस्तुत का वोध' समासोक्ति अलंकार है।[3] विश्वनाथ के अनुसार समान कार्य, लिंग तथा विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत वस्तु पर अप्रस्तुत वस्तु के व्यवहार का समारोपण समासोक्ति अलकार है।[4] विश्वनाथ के इस मत की आलोचना की गयी है। विशेषण शब्द प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत वस्तुओ के धर्मों का सूचक है। ये धर्म कार्य तथा गुण आदि के रूप में होते हैं। अतः, कार्य शब्द का विशेषण शब्द से पृथक् निर्देश उचित नही।

विश्वनाथ के द्वारा परिभाषा में लिंग शब्द का सन्निवेश भी उचित नही; क्योकि स्वयं लिंग अप्रस्तुत वस्तु का व्यंजक नही हो सकता। वह तो इस व्यंजकता में व्यवहार की साधारणता का सहकारी मात्र हो सकता है। यदि लिंग अप्रस्तुत का व्यंजक हो, तो 'निशा मुखं चुम्वति चन्द्रिकैषा' में भी निशा में स्त्रीलिंग का प्रयोग नायिका का व्यजक होना चाहिए। परन्तु, ऐसी वात नही।'[5]

जयदेव ने वडे ही सक्षेप में समासोक्ति की परिभाषा लिखी है—'प्रस्तुत में अप्रस्तुत का स्फुरण समासोक्ति अलंकार कहलाता है।'[6] वस्तुतः समासोक्ति का मूल मंत्र है—प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की प्रतीति हो जाना।

---

१ : मानस-मयूख—वर्ष २, अंक ४, पृष्ठ २५७

२ प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः
अप्रस्तुतार्थकथन समासोक्तिरुदाहृता। काव्यालंकार सार संग्रह १०।३३

३ : विशेषण साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः अलंकार सर्वस्व, सू० ३१

४ समासोक्ति समैर्यत्र कार्यलिंग विशेषणैः
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुतः साहित्यदर्पण १०।५६

५ : व्यंजकं हि तत्र मुख चुम्वनादिकमेव स्त्रीत्वदिकं तु सहकारिमात्रम्। किं च स्त्रीलिंगादिक न निरपेक्षं नायिकात्वादि व्यजकम्। 'निशामुख चुम्वति चन्द्रिकैषा' इत्यादावपि तदापत्तेः।
अलंकार-कौस्तुभ, पृष्ठ २५९

संस्कृत-साहित्य में साद्दश्यमूलक अलकारो का विकास, ब्रह्मानंद शर्मा, पृष्ठ ३२०-३२१

६ : परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य। चन्द्रालोक ५।६२

रामचरितमानस में समासोक्ति का पुष्कल प्रयोग नही मिलता। यत्किंचित् स्थल भले प्राप्त होते है, जिन्हें समासोक्ति के सुन्दर उदाहरणो के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। एक उदाहरण देखें—

**लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥**

१.२३२.७

सीता के इस व्यवहार में किसी चंचल पुरुष को बंदी वना लेने का व्यवहार प्रतीत होता है।

**उभेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक सुख दाता॥**

१.२३८.७

यहाँ सूर्योदय से पंकज, कोक, लोक के सुखी होने मे सीता, जनक, सुनयना सखियों—ग्रामवासियो के सुख देने का वर्णन है।

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं, वे लौकिक वस्तु में लौकिक समारोप के ही हैं।

समासोक्ति में व्यवहार समारोप चार प्रकार से होता है।[1]

१ : लौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु के व्यवहार का समारोप।

२ : शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीय वस्तु के ,, ,,।

३ : लौकिक वस्तु में शास्त्रीय वस्तु के ,, ,,।

४ : शास्त्रीय वस्तु में लौकिक वस्तु के ,, ,,।

मानस में लौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु के समारोप वाली समासोक्ति के अधिकाश उदाहरण प्राप्त होते हैं। ऊपर जो उदाहरण दिये गये है, वे लौकिक वस्तु मे लौकिक समारोप के ही हैं। एकाध उदाहरण में शास्त्रीय वस्तु मे लौकिक व्यवहार के समारोप की भी स्थिति देखी जाती है, किन्तु काव्यशास्त्रों मे जैसे उदाहरण दिये गये हैं, इनका उनसे ठीक-ठीक मेल खाना सभव नही है। जैसे—

ग्रह ग्रहीत पुनि बातबस तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी कहहु कौन उपचार॥

२.१७६

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहिं न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥

७.१००.१३-१४

यहाँ भैषज्य एवं भक्तिशास्त्रीय शब्दावली के द्वारा स्वास्थ्य की उपेक्षा करने वाले एवं वेदोक्त हरिभक्ति पथ की अवहेलना करने वाले मनुष्यो के व्यवहार की झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

लाला भगवानदीन ने 'अलंकार मंजूषा' में समासोक्ति-दोष का उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'समासोक्ति अलंकार मे समान विशेषणो द्वारा ही उपमान विशेष का प्रकाशन होता है। उसके लिए उपमान वाचक पद रखना एक दोष है, जिसे पुनरुक्तता या अपुष्टार्थता कहते हैं।'[2] मानस में समासोक्ति के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं, उनमे अपुष्टार्थता नहीं दिखलाई पड़ती।

१ : रसगंगाधर, तृतीय खंड, पृष्ठ ८७

२ : पृष्ठ २६३

## २२ : परिकर :

परिकर सादृश्यमूलक गम्यौपम्याश्रय विशेषण-वैचित्र्य संबंधी अर्थालंकार है। इस अलंकार के उद्भावन का श्रेय रुद्रट को है। जहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हो, वहाँ परिकर अलंकार होता है।[1] काव्य मे विशेषण का प्रयोग साभिप्राय ही होना चाहिए, नही तो अपुष्टार्थ-दोष माना जायगा। अतः, साभिप्राय विशेषण प्रयोग से अपुष्टार्थ-दोष का केवल निराकरण ही होता है। अतः, परिकर को अलकार मानने की आवश्यकता नही है। इसके उत्तर में मम्मट कहते हैं—यद्यपि अपुष्टार्थ को दोष कहने से उसके निराकरण से पुष्टार्थ को स्वीकार किया गया है। इसे अलंकार मानना उचित नही है, फिर भी एक विशेष्य के लिए अनेक विशेष्यों के नियोजन से वाक्य में वैचित्र्य आ जाता है, इसलिए इसे स्वतंत्र अलंकार गिना गया है।[2] मम्मट के विचार से परिकर में एकाधिक विशेषण चाहिए, इसी मत का समर्थन जयरथ, विश्वनाथ, विद्याधर आदि करते हैं किन्तु एक भी साभिप्राय विशेषण से परिकर अलंकार हो सकता है। इसका विवेचन जगन्नाथ ने सोदाहरण किया है।[3] जिस तरह एक चम्पक पुष्प से वातावरण सुगधित हो जाता है, उसी तरह एक साभिप्राय विशेषण के प्रयोग से कवि का कथन सुरभित हो उठता है। ऐसे अभिप्राय सहित विशेषणो का प्रयोग वही कवि कर सकता है, जो शब्दो की आत्मा में प्रवेश कर उसकी सूक्ष्म अर्थवत्ता को भली-भाँति परखता हो। कहना न होगा कि गोस्वामी जी शब्द-स्वरूप के जितने वडे पारखी हैं, उतना वडा शायद ही हिंदी भाषा में कोई कवि हो। यही कारण है कि उनके मानस के पग-पग पर ऐसे साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग हुआ है। मानस से दो-चार उदाहरण लें—

१ : देहु उतरु अनु कहहु कि नाहीं। सत्य सध तुम रघुकुल माहीं॥

२ ३०.४

२ : गूढ़ कपट प्रिय वचन सुनि तीय अधर बुधि रानि।
सुर माया बस बैरिनिहि सुहृद जानि पतिआनि॥

२.२६

३ : जो कछु कहउँ कपटु करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही।

२ २६.६

प्रथम उदाहरण मे 'सत्य सध' विशेषण का प्रयोग कर कैकेयी दशरथ को अच्छी तरह वाग्जाल में घेर लेती है। दूसरे उदाहरण मे गोस्वामी जी 'तिय' और 'अधर बुद्धि' के द्वारा कैकेयी का मंथरा की माया में उलझ जाने का वातावरण निर्मित करते है तथा तीसरे उदाहरण में 'भामिनी' के द्वारा दशरथ कैकेयी के कोपन स्वभाव की ओर इगित करते हैं। मानस से ऐसे कितने उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते है, जहाँ कवि ऐसे साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग कर कथन को सारगर्भ वना डालते है।

---

१ : (क) विशेषण साभिप्रायत्व परिकर:। — रुय्यक, अलकारसर्वस्व, सू ३०
(ख) विशेषणैर्यत्साइतैरुक्तिः परिकरस्तु स:। — काव्यप्रकाश : मम्मट, १०/१८३
(ग) उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायै : — साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, १०/५७

२ : यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तान्निराकरेण पुष्टार्थस्वीकारः कृत तथाप्येकनिष्ठेत्वेन वहूना विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यलकारमध्ये गणित :। — काव्यप्रकाश, पृष्ठ ५२४

३ : देखिए, रसगगाधर, हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ ३८

## २३ : परिकरांकुर :

जहाँ परिकर में साभिप्राय विशेषण का प्रयोग होता है, वहाँ परिकरांकुर मे साभिप्राय विशेष्य का। यही कारण है कि इसे पहले स्वतंत्र अलंकार न माना गया। जयदेव,[1] विद्याधर तथा अप्पय दीक्षित[2] ने इसे स्वतंत्र अलंकार माना है। गोस्वामी जी के मानस में परिकरांकुर का सौंदर्य विशेषरूपेण दीख पड़ता है, जहाँ उन्होंने पर्यायवाची शब्दों में से प्रसंगानुसार विशिष्ट अर्थगर्भ शब्दों का संचयन किया है।

१ : सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पट तरौं बिदेहकुमारी॥
१.२३०.८

२ : बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरजु उर अवनि कुमारी॥
२.६४.२

३ : अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहि कछु लाभु न हानी॥
१.२५८.२

४ : बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरससुमन कत बेधिअ हीरा॥
१.२५८.५

५ । सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
५.१२.१०

प्रथम उदाहरण में 'बिदेहकुमारी' शब्द के द्वारा बतलाना चाहते हैं कि 'देह कुमारी' की उपमा भले दी जा सकती, है 'विदेह कुमारी' की नहीं। दूसरे उदाहरण 'अवनि कुमारी' में अवनि की सहज सहनशीलता का धर्म सीता पर आरोपित कर सीता की धैर्यशीलता का अनुकूल वातावरण बनाते हैं। तीसरे में 'तात' से 'तप्त' करने वाले पिता के स्वरूप की ओर भी ध्यान चला जाता है। चौथे उदाहरण में 'विधि' से 'विधान कर्त्ता' तथा पाँचवें में 'अशोका' में 'शोकहर्त्ता' स्वरूप की विवृत्ति कर सीता जी दोनो से मनोनुकूल फल-प्राप्ति की कामना करती हैं।

'परिकर' और 'परिकरांकुर' का ऐसा उत्तम प्रयोग करने वाला हिन्दी में घनानंद को छोड़कर मुझे और कोई कवि नहीं दीख पड़ता है, फिर भी घनानंद के काव्य में 'परिकर' और 'परिकरांकुर' इतने नहीं मिलते, जितने रामचरितमानस में मिलते हैं।

## २४ : अप्रस्तुतप्रशंसा :

अप्रस्तुतप्रशंसा भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक विवेचित हुई है। यह समासोक्ति से प्रतिलोमधर्मी अलंकार है। समासोक्ति में जहाँ प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत की प्रतीति होती है। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रयुक्त प्रशंसा-शब्द कथनमात्र का वाचक है।

---

१ : साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्। चन्द्रालोक, [illegible]

अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति पाँच प्रकार[1] से देखी जाती है—

१ : अप्रस्तुत कारण के कथन से प्रस्तुत कार्य का बोध ( कारण निबन्धना )।
२ : अप्रस्तुत कार्य के कथन से प्रस्तुत कारण का वोध ( कार्य निवन्धना )।
३ : अप्रस्तुत विशेष के कथन से प्रस्तुत सामान्य का बोध ( विशेष निवन्धना )।
४ : अप्रस्तुत सामान्य के कथन से प्रस्तुत विशेष का बोध ( सामान्य निबन्धना )।
५ : अप्रस्तुत तुल्य वस्तु के कथन से प्रस्तुत तुल्यवस्तु का बोध ( सारूप्य निबन्धना) ।

गोस्वामी जी ने लक्षणशास्त्र समक्ष रखकर इन सारे भेदो को उदाहृत करने की चेष्टा नही की थी, फिर भी आश्चर्य है कि रामचरितमानस में ये सभी भेद सूक्ष्मतः विनियुक्त दीखते हैं—

१ : कारण निवन्धना—

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा । सार भाग ससिकर हरि लीन्हा ॥

६.१२.७

प्रस्तुत कार्य है रति-मुख की सुन्दरता का वर्णन करना । किन्तु, इसके वदले मुख के सौंदर्य के कारण—चन्द्रमा के सार भाग का वर्णन किया गया है और यह अप्रस्तुत है । शशि का सार भाग ग्रहण रूपी अप्रस्तुत कारण से रति-मुख-सुन्दरता रूपी प्रस्तुत कार्य की प्रतीति हो रही है—इसलिए कारण निबन्धना है ।

२ : कार्य निवन्धना—

मातु पितहि जनि सोच बस करसि महीस किशोर ।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ॥

१ २.७२

प्रस्तुत लक्ष्मण के वध-रूप कारण के वदले अप्रस्तुत माता-पिता का शोच-रूप कार्य वर्णित किया गया है, इसलिए कार्य निवन्धना है ।

३ : विशेष निवन्धना—

बार बार अस कहइ कृपाला । नहि गजारि जसु बधे सृकाला ॥

६.३०.३

अप्रस्तुत सिंह और शृगाल के वर्णन से जो विशेष है, प्रस्तुत राम और रावण के व्यक्तित्व का बोध होता है ।

४ : सामान्य निवन्धना—

कुपथ माँग जस व्याकुल रोगी । वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ।
एहि विधि हित तुम्हार मैं ठएऊ । कहि अस अन्तरहित प्रभु भएऊ ॥

१.१३३.१-२

---

१ : (क) अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुता श्रया ।
कार्यें निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते रुति
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्योति चपंचधा । काव्यप्रकाश १०।१५१-१५०

(ख) क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः
कार्यान्निमित्त कार्यं च हेतोरथ समात्सम्
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पंचधा ततः । साहित्यदर्पण १०।५८-५९

वैद्य और रोगी के सामान्य कथन से यहाँ विशेष का वर्णन है, इसलिए यहाँ सामान्य निवन्धना है।

५ : सारूप्य निवन्धना—( अन्योक्ति )—

**मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥**
**नव रसालबन बिहरन सीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥**

२.६३.६-७

यहाँ अप्रस्तुत मराली और कोकिल के वर्णन से प्रस्तुत सीता की अवस्था की प्रतीति करायी गयी है।

मानस में अप्रस्तुतप्रशंसा का विनियोग कम स्थलों पर हुआ है, फिर भी सुन्दर है।

## २५ : पर्यायोक्ति :

पर्यायोक्ति का विवेचन भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक ने किया है। अभीष्ट अर्थ का स्पष्ट कथन न कर भंग्यन्तर से कथन करना पर्यायोक्ति अलंकार है।[1] इस अलंकार के द्वारा कवि अपना वक्तव्य घुमा-फिरा कर उपस्थित करता है।
रामचरितमानस के एक-दो स्थलो को देखें—

**बंदौं अवधभुआल सत्य प्रेम जेहि रामपद।**
**बिछुरत दीन दयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥**

१.१६

यहाँ राम के वियोग में दशरथ ने प्राणत्याग किया—ऐसा कहना कवि का विवक्षित है। किन्तु, वह इसके बदले शरीर को तिनके की भाँति त्याग देना कहता है। एक भयानक अशुभ घटना को गोस्वामीजी ने चक्रवर्त्ती सम्राट् दशरथ की महिमा के अनुकूल शरीर को तुच्छ वस्तु की तरह छोड़ देना वर्णित किया है। जो महाराज राम के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर सकते हैं, वे क्षणभंगुर ध्रुव नश्यमान शरीर की परवाह क्या करें?
एक उदाहरण लें—

**सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।**
**जौं मैं रामु त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥**

३.३१

जटायु के प्रति राम के कथन में प्रकारान्तर से इतनी बातें कह दी गयी हैं कि इस पर्यायोक्ति पर कोई काव्यमर्मज्ञ सहसा विमुग्ध हुए बिना रह नहीं सकता। मैं साधारण व्यक्ति नहीं, वरन् अपने भृकुटि-संचालन से सारे ब्रह्मांड में प्रलय उपस्थित करनेवाला राम रावण को अवश्य मारूँगा। यहाँ राम के इष्टार्थ को कवि ने बड़ी ही चातुरी से प्रस्तुत किया है।

पर्यायोक्ति वहाँ भी होती है, जहाँ अपने अभीप्सित कार्य का सम्पादन किसी बहाने या किसी दूसरी पद्धति से किया जाय। कैतवापह्नुति में भी बहाने का आश्रय लिया जाता है, किन्तु जहाँ कैतवापह्नुति में कैतव अर्थात् बहाने का आश्रय उपमेय में उपमान के आरोपण हेतु लिया जाता है, वहाँ पर्यायोक्ति का एक उत्तम निदर्शन केवट-प्रसंग में देखें—

1 : (क) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। — भामह, काव्यालंकार ३.८
(ख) गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् — रुय्यक, अलंकारसर्वस्व, सू० [illegible]
(ग) पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। — साहित्यदर्पण, [illegible]

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परै मोरि नाव उड़ाई॥
येहि प्रति पालउँ सबु परिवारु। नहिं जानौ कछु और कवारु॥
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू॥

२.१००.४-८

केवट भगवान राम का चरणोदक चाहता है, किन्तु उसके लिए इतनी लम्बी भूमिका बाँध कर पाँव पखारने की अनुमति माँगता है।

इस तरह कहना न होगा कि मानस की पर्यायोक्ति मे कितना अर्थ-गौरव और मोहक वक्रिमत्व भरा है।

२६ : अर्थान्तरन्यास :

अर्थान्तरन्यास आचार्य भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक मान्य अलंकार है। इसकी अधिकाधिक मान्य परिभाषा है कि यदि सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाय, तो अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[1] आचार्य विश्वनाथ ने अर्थान्तरन्यास को थोड़ा और व्यापक बनाना चाहा है। उनके विचार[2] से अर्थान्तरन्यास मे साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से, कार्य का कारण से तथा कारण का कार्य से समर्थन होता है। अन्य आचार्यों ने कारण का कार्य से अथवा कार्य का कारण से समर्थन काव्यलिंग का क्षेत्र माना है। विश्वनाथ का कथन है कि कुछ लोग कार्यकारण भाव में अर्थान्तर-न्यास नही मानते। वाक्यार्थगत काव्यलिंग से ही उसे गतार्थ मानते है। यह ठीक नही है। हेतु तीन प्रकार का होता है। एक ज्ञापक, दूसरा निष्पादक और तीसरा समर्थक। इनमे जहाँ ज्ञापक हेतु हो, वहाँ अनुमानालकार, जहाँ निष्पादक हेतु हो, वहाँ काव्यलंकार तथा जहाँ समर्थक हेतु हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार समझना चाहिए।[3] किन्तु, परवर्त्ती किसी आलंकारिक ने इसे स्वीकार नही किया। इस तरह अर्थान्तरन्यास के चार भेद ही मान्य हैं—

१ : सामान्य का विशेष से साधर्म्य द्वारा समर्थन।
२ : सामान्य का विशेष से वैधर्म्य द्वारा समर्थन।
३ : विशेष का सामान्य से साधर्म्य द्वारा समर्थन।
४ : विशेष का सामान्य से वैधर्म्य द्वारा समर्थन।

मानस तो अर्थान्तरन्यासों का अर्णव है। गोस्वामी जी ने अपने विचारो को वज्ररेख की तरह अमिट कर देने के लिए अर्थान्तरन्यास का आश्रय ग्रहण किया है। अर्थान्तरन्यास के चारो भेद मानस में पुष्कल रूप से प्राप्य हैं।

---

१ : सामान्येय विशेपस्य विशेषेण सामान्यस्य वा यत् समर्थनं तदर्थान्तरन्यास'। जगन्नाथ

२ : सामान्यं वा विशेषेण विशेपस्तेन वा यदि
कार्यं च कारणेनेद कार्येण च समर्थते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टघा ततः। सहित्यदर्पण १०/६२

३ : इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्य लिंगेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते, तदयुक्तम्। तथा ह् यत्र हेतुस्त्रिधा भवति-ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिगस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यास इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्य लिंगान्। साहित्यदर्पण, पृष्ठ १४८

१ : कारन तें कारजु कठिन होय दोसु नहि मोर ।
कुलिस अस्थि तें उपल तें लोह कराल कठोर ॥

२.१७८

अथवा

भलो भलाइहि पे लहै लहै निचाइहिं नीचु ।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु ॥

१.५

२ : टेढ़ जानि सब बंदै काहू । बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू ॥

१.२८१.६

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं । पराधीन सपनेहु सुखु नाहीं ॥

१.१०२.५

३ : कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ । पुरुष परिखि अहिं समय सुभाएँ ॥

२.२८२.६

अस कहि चला बिभीषण जबहीं । आयु हीन भे निशिचर तबहीं ॥
साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्याण अखिल कर हानी ॥

४ : बड़ अधिकार दक्ष जब पावा । अति अभिमानु हृदयँ तब आवा ॥
नहि कोउ अस जनमा जगमाहीं । प्रभुता पाई जाहि मद नाहीं ॥

१.६०.७-८

पर घर घालक लाज न भीरा । बांझ कि जान प्रसव कै पीरा ॥

१.९७.४

आत्मानुभव के द्राक्षारस से निकले हुए सिद्धान्तों को गोस्वामी जी ने अर्थान्तरन्यासों के द्वारा जितनी सफलता से व्यक्त किया है कि उन्हें अर्थान्तरन्यास-प्रयोग में किरातार्जुनीय के महाकवि भारवि की पंक्ति में बिठाने में थोडी भी हिचक नहीं होती ।

## २७ : व्याजस्तुति :

व्याजस्तुति का विवेचन प्रायः सभी ख्यात आलंकारिकों ने किया है । भामह[1] और उद्भट[2] ने निन्दा के व्याज से स्तुति में ही व्याजस्तुति मानी है, किन्तु पीछे चलकर आलंकारिकों ने निन्दा के व्याज से, स्तुति और स्तुति के व्याज से निन्दा दोनों रूपों में व्याजस्तुति[3] मानी है । वाच्यार्थ निंदा-रूप होता है, तो व्यंग्यार्थ प्रशंसा-रूप प्रतीत होता है और जब वाच्यार्थ प्रशंसा-रूप होता है, तो व्यंग्यार्थ निंदा-रूप प्रतीत होता है ।

व्याजस्तुति में किसी कवि की अभिव्यंजन-वक्रता का बड़ा ही पुष्ट प्रमाण प्राप्त होता है । जिन प्रसंगों में व्याजस्तुति रहती है, उसे पढ़कर पाठक चमत्कृत ही नहीं होता, वरन् एक विचित्र

१ : दूराधिकगुणस्तोत्र व्यपदेशेन तुल्यताम्
किंचिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा । ३/३०

२ : शब्दशक्ति स्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ।

काव्यालंकार सार-संग्रह
काव्यालंकार, १०/११

३ : (क) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।
(ख) उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः । १०/१०

प्रकार के आह्लाद का अनुभव करता है। रामचरितमानस मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ व्याजस्तुति के दोनो रूपों की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

१ : निन्दा के बहाने स्तुति (व्याजेन स्तुतिः) —

निगु'न निलज कुवेष कपाली। अकुल अगेह दिगंवर व्याली ॥
कहहु कवन सुखु अस वरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के वौराएँ ॥

१.७६.६-७

सप्तर्षियों द्वारा कथित चौपाई के वाच्यार्थ से शिव की कटु निंदा प्रतीत होती है, किंतु इसके व्यंग्यार्थ के द्वारा शिव की लोकोत्तर महत्ता का भान होता है।

२ : स्तुति के वहाने निंदा (व्याजरूपा स्तुतिः)—स्तुति का बहाना भर है, किन्तु निन्दा ही की जा रही है —

राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सव पहिचाने ॥

२.३३.७

इस अर्द्धाली मे कैकेयी दशरथ से कहती है कि राम साधु है, तुम साधु हो तथा राम की माता भी भली है—ऐसा मैंने अच्छी तरह जान लिया है। इस अर्द्धाली के वाच्यार्थ में राम, दशरथ और कौशल्या की प्रशंसा व्यक्त होती है, किन्तु यथार्थ मे कैकेयी ने तीनो की वडी ही भर्त्सना की है। इस वाक्य का व्यंग्यार्थ है कि आप तीनो का स्वभाव जैसा मलिन है, मैं अच्छी तरह जानती हूँ। राम दुष्ट, आप मायावी तथा कौशल्या भी वहुत नीच है। यहाँ स्तुति के व्याज में निंदा का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

मानस में व्याजस्तुति इन स्थलो में देखी जा सकती है—

१ : राम-कथा-वर्णन में, २ : शिव-माहात्म्य-प्रसंग मे, ३ : लक्ष्मण-परशुराम संवाद मे, ४ : कैकेयी-मंथरा एवं दशरथ-कैकेई वार्तालाप में, ५ : हनुमान-रावण संवाद में और ६ : अंगद-रावण संवाद में।

गोस्वामी जी ने मानस के संवादों को जिन पद्धतियो से वक्रिमत्वख्यापक एवं रोचक वनाया है, उनमे व्याजस्तुति अलंकार का भी वडा योग है। 'व्याजस्तुति'-कौशल से ये सवाद वडे ही चमत्कारक एवं चित्ताकर्षक हो गये हैं।

## २८ : आक्षेप :

आक्षेप अलंकार प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिको द्वारा मान्य है। जहाँ विवक्षित वस्तु में विशेषता-सम्पादन के लिए निषेध-सा किया जाय, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है। इसी वात को भिन्न आलंकारिक भिन्न शव्दावली का सहारा लेकर व्यक्त करते है। रुद्रट का कहना है—जहाँ वक्ता किसी प्रसिद्ध अथवा विरुद्ध वस्तु को कह कर इस वचन का आक्षेप करते हुए उसके समर्थन के लिए अन्य वस्तु का कथन करे, वहाँ आक्षेप अलंकार होता है।[1] मम्मट के विचार से जो वात कहना चाहते है, उसमें विशेष उत्कर्ष व्यक्त करने के लिए निषेध करना आक्षेप

१ : वस्तु प्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य अन्यत्तथात्वसिद्धै यत्र ब्रूयात्स आक्षेपः।
काव्यालंकार, ८/८९

अलंकार है।[1] यह दो प्रकार से होता है—वक्ष्यमाणविषयक अर्थात् जो बात आगे कहनी है, उसका पहले ही निषेध किया जाय तथा उक्तविषयक अर्थात् पहले कही हुई बात का निषेध किया जाय। अप्पयदीक्षित कहते हैं—स्वयं कथित बात का किसी कारण विशेष को सोचकर प्रतिषेध-सा किया जाना आक्षेप अलंकार है।[2]

आक्षेप मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—

१ : उक्ताक्षेप—अपनी पूर्वकथित बात का वक्ता स्वयं (विशेषता-प्रतिपादन के लिए) निषेध समझे।

२ : निषेधाक्षेप—पहले निषेध करके फिर दृष्टार्थ को व्यक्त किया जाय।

३ : व्यक्ताक्षेप—प्रकट रूप में जहाँ स्वीकारात्मक हो, उसका निषेध किया जाय।

रामचरितमानस से त्रिविध आक्षेप के उदाहरण दर्शनीय हैं—

१ : उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संतसंमत मोहि भाई।
एक बात नहिं मोहि सुहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी॥

१.११४.६-७

२ : भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके बिमल बिबेक॥

१.६

३ : राजदेन कहि दीन्ह बनु मोहि न सोच दुखलेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

२.५५

रसरूप ने 'तुलसीभूषण' में आक्षेप की परिभाषा दी है 'कारज के आरम्भ में कीजे जहाँ निषेध'। उन्होंने आक्षेप के अनेक प्रकारों के उदाहरण दिये हैं—

१ : प्रेमाक्षेप—

पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के।

२.५६.७

अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना॥

२.५७.२

२ : अधीरजा आक्षेप—

बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥

२.५७ ६

३ : धीरजा आक्षेप—

धरि धीरजु सुत बदनु निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥

२.५७.१

तात पितहि तुम प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥

२.५४.५-६

१ : निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः। काव्यप्रकाश १०/१६१

२ : आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्। कुवलयानन्द—७३

४ : मरणाक्षेप –

चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू ॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि कर तबु कछु जाइ न जाना ॥

२.५८.३-४

५ : धर्माक्षेप—

राखौ सुतहि करौ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥

२.५५.४

जौ सुत कहौ संग मोहि लेहू। तुम्हरें हृदयँ होइ संदेहू ॥

२.५६.६

६ : शिक्षाक्षेप—

वेगि प्रजा दुख मेटेब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥

२.६८.६

७ : आशीर्वादाक्षेप—

देब पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहुँ पलक नयन की नाईं ॥

२.५७.१

८ : उक्तिविषयक आक्षेप—

फिरहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहौं नयन मनोहर जोरी ॥
सुदिनु सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोहहि ॥

रसरूप की पद्धति का अनुगमन किया जाय, तो और भी कितने प्रकार के आक्षेपों की कल्पना की जा सकती है।

गोस्वामी जी ने आक्षेप-पद्धति से अपनी कथन-भंगिमा में एक विचित्र विच्छित्ति लायी है। श्रोता-पाठक को चमत्कृत-वशीकृत करने में यह पद्धति कितनी सफल है–इसका अनुमान तो उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणों से ही हो जाता है।

सादृश्य-मूलक अलकारों के विवेचन और उदाहरण से ज्ञात होता है कि इन अलंकारों के विनियोग में इयत्तया भले ही अंतर हो, इदन्तया कोई अंतर नही दीखता।

●●

# ४
# विरोधगर्भ अलंकार

## १. विरोधाभास :

विरोधाभास प्रायः सभी आलंकारिकों के द्वारा मान्य अलंकार है। वस्तुतः विरोध न रहने पर भी विरोध का वर्णन विरोधाभास अलंकार कहलाता है।[1] विरोधाभास सदैव ही विशिष्ट भावात्मक परिस्थितियो में प्रयुक्त होता है, सामान्य परिस्थितियों में इसकी सत्ता सम्भव नही है; क्योंकि इसमें आपाततः दो प्रकार की परिस्थितियों—अनुभूतियो का समान साहचर्य रहता है।[2]

विरोधाभास के भेद-प्रभेद के वारे में आलंकारिको में मतैक्य नही है। दंडी ने विरोधाभास को विरोध से अभिहित करते हुए अनेक उदाहरणों के द्वारा नामकरण के विना ही अनेक प्रकारों की चर्चा की है।[3] रुद्रट भी विरोधाभास न कहकर विरोध ही कहते हैं। उनके विचार से जहाँ एक ही समय में एक ही स्थान पर परस्पर द्रव्यादि का अवस्थान हो, वहाँ विरोध होता है।[4] उन्होने विरोध के तेरह भेदों की चर्चा की है। रुय्यक भी इसका नाम विरोध ही देते हैं, किन्तु उनकी परिभाषा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका विरोध और विरोधाभास एक ही है।[5] उन्होने विरोध के दस भेद किये।[6] मम्मट भी विरोध के दस भेद ही स्वीकारते हैं।[7] विश्वनाथ का भी यही मत है।[8] जयदेव ने विरोध[9] और विरोधाभास[10] को पृथक् अलंकार माना। उनके अनुसार गुण, द्रव्य, क्रिया और जातिवाचक पदार्थों के पारस्परिक असंगति होने पर विरोध अलंकार होता है, किन्तु जहाँ शब्द श्लेष के द्वारा विरोध मालूम पडे, वहाँ विरोधाभास होता है। परन्तु, उन्ही के अनुकर्त्ता अप्पयदीक्षित ने विरोध को छोड़कर केवल विरोधाभास की ही चर्चा की है। वस्तुतः विरोध और विरोधाभास को एक ही अलंकार मानना चाहिए। वास्तविक

---

१ : (क) अविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः। — काव्यप्रकाश १०/११०
(ख) आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते। — कुवलयानन्द, ७६

२ : रीतिकालीन अलकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — डॉ० ओमप्रकाश शर्मा, पृष्ठ १२३

३ : इत्यनेक प्रकारोयमलंकार : प्रतीयते। — काव्यादर्श, पृष्ठ १६६

४ : यस्मिन्द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः॥ — काव्यालंकार, ९/३०

५ : विरुद्धाभासत्वं विरोधः। — अलंकारसर्वस्व, ४०

६ : अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ २२६

७ : जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥ — काव्यप्रकाश १०/११०

८ : साहित्यदर्पण, १४/२८

९ : विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद्गुणद्रव्यक्रियादिषु।
अमन्दचन्दनस्यन्दः स्वच्छन्दं दन्दहीति माम्॥ — चन्द्रालोक, ५/७८

१० : श्लेषादिभिर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता।
[illegible] ॥ — चन्द्रालोक ५/७५

विरोध में चमत्कारत्व के लिए अवकाश है ही नही। अतः, विरोधाभास के ये ही दस भेद अधिकाधिक आलंकारिकों द्वारा मान्य हैं।

१ : जाति का जाति से विरोध मे विरोधाभास
२ : जाति का गुण से " "
३ : जाति का क्रिया से " "
४ : जाति का द्रव्य से " "
५ : गुण का गुण से " "
६ : गुण का क्रिया से " "
७ : गुण का द्रव्य से " "
८ : क्रिया का क्रिया से " "
९ : क्रिया का द्रव्य से " "
१० : द्रव्य का द्रव्य से " "

जैसा मैंने पहले ही निर्दिष्ट किया है कि भावोद्वेग की स्थिति में विरोधाभास अधिक प्राप्त होता है और इसमे किसी को संदेह नही हो सकता कि रामचरितमानस मे भावोद्वेग अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, इसलिए गोस्वामी जी ने लक्षण-लक्ष्य-शास्त्र-सर्जन की ओर भले न ध्यान रखा हो, किन्तु उनके इस लोक-विश्रुत महाकाव्य में विरोधाभास के सभी प्रकार अपनी मोहक सूक्ष्मता के साथ प्राप्त होते हैं। हाथ कंगन को आरसी क्या ?

१: जाति का जाति से विरोध—

तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।
तासु दूत पन कहु किमि टरई॥

६.३५.८

२ : जाति का गुण से—

भरद्वाज सुनु जाहि जब होई विधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम॥

१.१७५

३ : जाति का क्रिया से—

निज दुख गिरि सम रज करि जाना।
मित्र के दुख रज मेरु समाना॥

४.७.२

४ : जाति का द्रव्य से—

गरल सुधा रिपु करै मिताई।
गोपद सिन्धु अनल सितलाई॥

५.५.२

५ : गुण का गुण से—

मूक होहि बाचाल पंगु चढै गिरिबर गहन।
मूक होहि बाचाल द्रवौ सकल कलिमल दहन॥

१.२ सोरठा

६ : गुण का क्रिया से—

पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।

१.२ सोरठा

७ : गुण का द्रव्य से—

सब जगु ताहि अनलहु ते ताता।
जो रघुवीर विमुख सुनु भ्राता॥

८३.२.

८ : क्रिया का क्रिया से—

ऊँच निवासु नीचि करतूती।
देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥

२.१२.६

९ : क्रिया का द्रव्य से—

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी॥

१.२०४.५

राम न सकै नाम गुनि गाई।

१.२६.८

१० : द्रव्य का द्रव्य से—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

१.१९८

पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' मे उपरिकथित दस भेदो को अचमत्कारी मानकर शुद्ध और श्लेषमूलक केवल दो भेदो को माना है। किन्तु, यहाँ इतना ही निवेदन पर्याप्त होगा कि विरोधाभास के उपरिवर्णित सभी उदाहरण चमत्कारशून्य नही है और जब ये सभी उदाहरण चमत्कारशून्य नही हैं, तो इन विवेचनों को न मानना उचित नही है।

रामचरितमानस में शुद्ध और श्लेपमूलक—दोनो प्रकार के विरोधाभास द्रष्टव्य हैं—

१ : शुद्ध रूप—

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥

१-२६-१

२ : श्लेपमूलक—

बंदौं मुनि पद कंजु रामायन जेहिं निरमयेउ।
सखर सुकोमल मंजु दोपरहित दूषनसहित॥

१-१८-१९-२०

यहाँ 'सखर' और 'दूषन सहित' के दो अर्थ हैं—'कठोर' और 'खर सहित' तथा 'दूषन सहित' के दो अर्थ हैं—'दोप सहित' तथा 'खरदूषन सहित'।

श्रीराम और उनके गुण एवं रामचरित की महत्ता को चमत्कारिक व्याकृति के लिए गोस्वामी जी ने विरोधाभास का विनियोग किया है। इन स्थलों में चित्त में एक विशेष प्रकार का समुद्वेलन होता है—मन सहज ही प्रभु की ओर उन्मुख हो जाता है।

२ : विभावना :

'विभावना प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिकों द्वारा मान्य अतिविख्यात विरोधगर्भ अलंकार है। इसकी परिभाषा से दो वर्ग स्पष्ट दीखते हैं। प्रथम वर्ग में क्रिया के अभाव में फलोत्पत्ति विभावना मानी गयी है, किन्तु दूसरे वर्ग में कारणाभाव में विभावना बतलायी गयी

है। प्रथम वर्ग[1] में भामह, वामन, उद्भट तथा मम्मट को परिगणित कर सकते है तथा द्वितीय वर्ग[2] में विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ को रख सकते हैं। हिन्दी के आलंकारिकों ने द्वितीय वर्ग की मान्यता को ही स्वीकृत किया। इस अलंकार में भी आपातत विरोध दिखलाई पडता है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर विरोध का कुहरा फट जाता है। सामान्य स्थिति तो यही है कि बिना कारण के कोई कार्य नही होता, किन्तु विभावना विशेष भावना अर्थात् विशेष कल्पना अर्थात् विशेष स्थिति यही रहती है कि कारण के बिना ही कार्य घटित हो जाय।

विभावना के मुख्यतः दो भेद वतलाये गये हैं—एक में जहाँ कारणाभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त उक्त अर्थात् कथित रहता है, दूसरे में निमित्त अनुक्त अर्थात् अकथित रहता है। इस तरह विभावना के ये दो भेद हैं—१ : उक्त निमित्ता और २ : अनुक्त निमित्ता।

विश्वनाथ ने विभावना के केवल ये ही दोनों भेद किये।[3] पंडितराज जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित-कृत विभावना के छह भेदों का खंडन कर केवल उपरिवर्णित दो भेदों को स्वीकार किया है।

रामचरितमानस में विभावना के ये दोनों भेद सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं।

१ : उक्त-निमित्ता विभावना—

१ : दस दिसि दाह होन अति लागा। भएउ परब बिनु रबि उपरागा॥
६-१०२-६

२ : इहाँ श्रापबस आवत नाही। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥
४-६-१३

२ : अनुक्त-निमित्ता विभावना—

१ : जातें लाग न छुआ पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥
१-२०६-८

२ : कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु चल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं॥
६-८८-१०

अप्पयदीक्षित ने विभावना के छह[4] भेद किये। जैसा कि मैंने पहले ही निर्देश किया है कि पडितराज जगन्नाथ ने इनका खडन किया, फिर भी आधुनिक अलंकारशास्त्रियों ने इन भेदों को विवेच्य माना है। ये छह भेद हैं—

१ : (क) क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥ भामह : काव्यालंकार २/७७
(ख) क्रिया प्रतिषेधे प्रसिद्ध तत्फलव्यक्तिर्विभावना। वामन : काव्यालंकार सूत्र ४/३/१३
(ग) क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना। उद्भट : काव्यालंकार सार-संग्रह २/६
(घ) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्ति। मम्मट . काव्यप्रकाश २०/१६७
२ : (क) विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। विश्वनाथ : साहित्यदर्पण १०/६६
(ख) विभावना विनापि स्यात् कारण कार्यजन्मचेत्। अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द ७७
(ग) कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः। जगन्नाथ : रसगंगाधर, तृतीय खंड, पृष्ठ १४०
३ : उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता, साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३५०
४ : कुवलयानन्द, ७८ से ८२ तक

१ : प्रथम विभावना—जहाँ विना कारण के कार्य हो।
२ : द्वितीय विभावना—जहाँ अपर्याप्त कारण के कार्य हो।
३ : तृतीय विभावना - जहाँ प्रतिबंधक के रहते हुए कार्य हो।
४ : चतुर्थ विभावना—जहाँ अकारण से कार्य हो।
५ : पंचम विभावना—जहाँ विरुद्ध कारण से कार्य हो।
६ : षष्ठ विभावना—जहाँ कार्य से कारण हो।

विभावना के इन सारे भेदो को देखकर मन में आश्चर्य का उदय होना स्वाभाविक ही है। किन्तु, रामचरितमानस में ऐसे वर्णनों के लिए पर्याप्त अवसर है। कारण यह कि गोस्वामी तुलसीदास के कथा-नायक कोई सामान्य व्यक्ति नही, वरन् वे तो अग-जग-नियंता, कोटि-कोटि ब्रह्मा-विष्णु-महेश-रचयिता भगवान श्री रामचंद्र हैं। उनके जन्म-कर्म सभी दिव्य हैं। इसलिए ऐसे अलौकिक पुरुष के जीवन की घटनाओ में सर्वत्र अलौकिकता-असमानता विद्यमान रहेगी। यही कारण है कि मानस में विभावना का जैसा सुंदर निबंधन दीखता है, वैसा हिन्दी-साहित्य में कम है। ऐसी विभावना के मूल में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन स्वयमेव दीखता है और बहुत दूर तक रुय्यक का कथन सार्थक दीख पड़ता है कि विभावना के मूल में अतिशयोक्ति सर्वदा रहती है। यह अतिशयोक्ति उसे बाधित नही करती, अपितु उससे अनुप्राणित होकर उत्थान प्राप्त करती है।[1] मानस में षट्‌विध विभावना के उदाहरण देखें।

१ : प्रथम विभावना—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
१-११८-५-६

यहाँ पैर के अभाव में चलना, कान के अभाव में सुनना, हाथ के अभाव में काम करना, मुख के अभाव में सभी रसों का भोग करना तथा वाणी के अभाव में सुयोग्य वक्ता होना कहा गया है। इसमें कवि ने श्रीराम के ईश्वरत्व का सहज बोध कराया है।

२ : द्वितीय विभावना—

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥
१-२५७-१

सारे संसार को वश में करने के लिए बड़े अस्त्र-शस्त्र जब काम नहीं करते, तो कोमल फूलों के बाण से सारे संसार को जीत लेना अपर्याप्त कारण से कार्य सिद्ध होना नहीं है? इस विभावना के द्वारा कामदेव की दुर्निवार श्रेष्ठता का प्रतिपादन कवि का अभीष्ट है।

३ : तृतीय विभावना—

रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अछ तेहि मारा॥
६-२६-५

रावण-जैसे पराक्रमी के नगर में अक्षय कुमार को हनुमान ने मार डाला। प्रतिबंधक के रहते हुए इस तीसरी विभावना के द्वारा महावीर की महावीरता का स्पष्ट निदर्शन है।

१ : ना [illegible] न [illegible], अपि तु तदनुप्राणितमेव।
अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ ३१?

४ : चतुर्थ विभावना—

बंदौ सब के चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥

१-१८-२

अधम शरीर से राम का पाना अकारण से कार्य होना है। जो राम बड़े पुण्यवानों को उपलब्ध नहीं होते, वही राम पापियों को प्राप्त हो रहे हैं।

५ : पंचम विभावना—

खलपरिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कल कंठ कठोरा॥

१.९.१

परिहास से हित प्रायः होता नही। शल्य के परिहास ने कर्ण को महाभारत-युद्ध में कितना हतोत्साह किया था, हम जानते है। यहाँ गोस्वामी जी बिलकुल नयी बात कहते हैं कि दुष्टों के उपहास से मेरी भलाई ही होगी। विरुद्ध कारण से यहाँ कार्य होना बतलाया गया है।

६ : षष्ठ विभावना[1] – कार्य से कारण की उत्पत्ति—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

१.१४४.६

शंभु, विरंचि, विष्णु आदि जग के कारण हैं, ऐसा सभी जानते है। किन्तु, यहाँ कारण की उत्पत्ति का ही वर्णन किया गया है। जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति लिखी हो, वहाँ छठवी विभावना होती है। इसका उदाहरण गोस्वामीजी-कृत ग्रंथो में मुझे नही मिला।[2]

'तुलसी-साहित्य मे अलंकार योजना' पर शोध कार्य करनेवाले नरेन्द्र कुमार ने ढूँढ़ने की थोड़ी भी चेष्टा न की और उन्होने भी लिख दिया कि तुलसी-साहित्य में मुझे षष्ठ विभावना का उदाहरण नही मिला।

षष्ठ विभावना के और भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

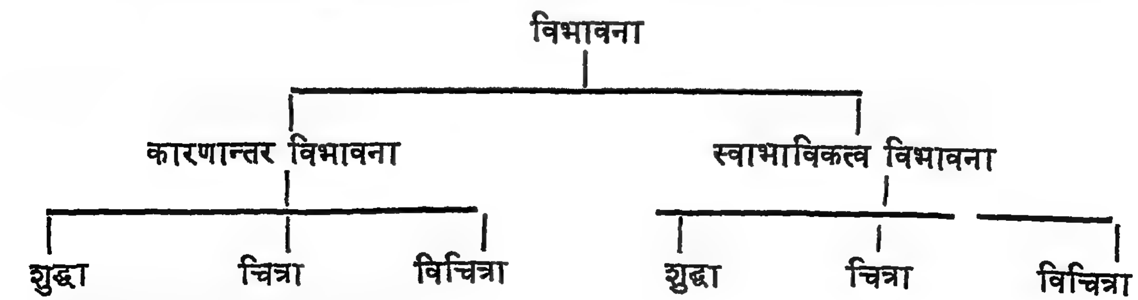
१ः जेहि पद सुर सरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥

१.२११.१३-१४

२ः जगत मातु सर्बग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु बानी॥

१.७२.८

भोजराज ने 'सरस्वती-कंठाभरण' में इन विभाजनों के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार से विभावना का विभाजन किया है।




१ः श्री नरेन्द्र कुमार ने अपने शोध-प्रबन्ध 'तुलसी साहित्य में अलंकार-योजना' में लिखा है कि तुलसी साहित्य में मुझे षष्ठ विभावना का उदाहरण नहीं मिला। तुलसी-साहित्य में अलंकार के प्रायः सभी भेदोपभेद उपलब्ध है। यह निर्भर करता है अनुसंधायक की क्षमता पर।

तुलसी साहित्य-रत्नाकर, श्री रामचंद्र द्विवेदी, पृष्ठ ४८३

इस विभाजन-क्रम को न तो संस्कृत के और न तो हिन्दी के आलंकारिकों ने स्वीकार किया, किन्तु रामचरितमानस तो महासागर है। उसमें गोते लगाते जाइये और तरह-तरह की वस्तुएँ प्राप्त होती चलेंगी।

### ३ : विशेषोक्ति :

विशेषोक्ति का उल्लेख प्रायः सभी आलंकारिको ने किया है। भामह[1] का कथन है—एक गुण की हानि होने पर विशेषता-वृद्धि के लिए दूसरे गुण का वर्णन विशेषोक्ति अलंकार है। दंडी[2] इससे भिन्न कहते हैं कि जब गुण, जाति, क्रिया आदि में वैकल्य प्रदर्शित कर विशेषता दिखलाई जाय, तो विशेषोक्ति अलंकार होता है। किन्तु, आचार्य विश्वनाथ[3] ने इसकी बिलकुल दूसरी परिभाषा की है – कारण के रहते हुए कार्य का न होना विशेषोक्ति अलंकार— है। यही परिभाषा आज विद्वानों के द्वारा मान्य है।

विशेषोक्ति अलंकार के दो भेद हैं—

१ : उक्त-निमित्ता विशेषोक्ति—जहाँ विशेषोक्ति (कारण रहते हुए कार्य का न होना) का कारण उक्त अर्थात् कथित हो।

२ : अनुक्त-निमित्ता —जहाँ कारण अनुक्त हो।

मम्मट ने विशेषोक्ति के एक और भेद 'अचिन्त्य निमित्ता' का विवेचन किया है; क्योंकि इसका समावेश अनुक्त निमित्ता में ही हो जाता है, अतः अलग भेद मानने की आवश्यकता नहीं।

मानस में द्विधा विशेषोक्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। दोनों भेदों के एक-एक उदाहरण देखें—

१ : उक्त निमित्ता—

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम विवस पहिराइ न जाई॥

१.२६४.६

सीता ने श्रीराम की ग्रीवा में माला डालने के लिए दोनों हाथों से माला उठाई, किन्तु पहिराई नही जा सकी; क्योंकि अत्यधिक प्रेम के कारण वे इतनी शिथिल हो गयी थीं कि हाथ उठे-के-उठे रह गये, पुनः गिरे तब तो गले में माला डाली जाय। यहाँ नहीं पहनाने का कारण 'प्रेम की विवशता' कही गयी है। इसलिए उक्त-निमित्ता है।

२ : अनुक्त निमित्ता—

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदय न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम॥

६.१६.११-१२

जल की बात कौन कहे, यदि अमृत-वृष्टि भी हो, तो भी बेंत फूल-फल नहीं लगता। मूर्खों को ज्ञान हो नहीं सकता, भले ही उनके गुरु विरंचि भी क्यों न हों। यहाँ कारण रहने पर भी

---

१ : एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा। — काव्यालंकार ३/२३

२ : गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्,
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते। — काव्यादर्श ३२३

३ : सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा। — साहित्यदर्पण १०/६७

कार्य की अनुपपत्ति मे विशेषोक्ति तो है—किन्तु क्यो ऐसा नहीं होता है, इसका कोई कारण नही दिया गया है. इसलिए अनुक्त-निमित्ता है।

## ४ : सम :

'सम' अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख मम्मट ने किया। उनके पूर्व रुद्रट[1] तथा भोज ने साम्य अलंकार की चर्चा की, किन्तु उनके साम्य और मम्मटोक्त सम मे समानता नही है। मम्मट दो वस्तुओं में योग्य रूप से संबंध-वर्णन को सम अलंकार मानते हैं।[2] परस्पर अनुरूप वस्तुओ के एक साथ वर्णन को ही प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वीकृति प्रदान की।

सम अलकार मे कवि का मानस संगति एवं सतुलन स्थापित करने की स्थिति मे सर्वदा रहता है। विषम के प्रतिलोम होने के कारण ही इसे विरोध-गर्भ अलंकार की बिरादरी में बैठाया गया है, नही तो इसमें विरोध या असंगति है ही नही। मम्मट ने इसके दो भेद किये—

१ : सद्योग में सम[3]।

२ : असद्योग में सम।

१ : तन अनुहरत सुचन्दन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥ १.२१९.४
२ : कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छविधाम मुख विगत भई सबपीर॥ ३ ३०
१ : का आचरजु भरत अस करहीं। नहि विषबेलि अमिय फल फरहीं॥
२१८.८८
२ : भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु॥
१.५

सम सद्सद्योग मे भी हो सकता है, जैसे—

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुबीर।
अस विचार रघुवंश मनि, हरउ विषम भव भीर॥
७.१२९

'दीन' और 'दीनहित' का योग।

अप्पयदीक्षित ने विषम अलंकार के आधार पर सम को तीन स्थलों में माना है[4]—

१ : जहाँ अनुरूप पदार्थों का एक साथ वर्णन हो।

२ : जहाँ कारण के गुणानुकूल कार्य के गुण वर्णित हों।

३ : जहाँ अनिष्ट के बिना आरब्ध कार्य की सिद्धि हो जाय।

१ : जस दुलहु तस बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता॥
'दुलह और 'बारात' अनुरूप वर्णन है। १.६४१

---

१ : अर्थक्रिया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम्। काव्यालंकार ८/१०५
२ : समं योग्यतया योगो यदि सम्भावित' क्वचित। काव्यप्रकाश १०/१२५
३ : काव्यप्रकाश, पृष्ठ ५३५
४ : समस्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो :
सारूप्य कार्यस्य कारणेन समं विदु :
विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिमर्थं कर्तुं मुद्यतः। कुवलयानन्द ( ९१-९३ )

२ : सकल भाँति सम साजु समाजू। सम समधी देखे हम आजू॥

१.३२०.६

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥

२.१८३.५

भरत अपने गुणानुरूप कार्य कर रहे हैं।

३ : छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

१.२८३.८

किसी वाधा के विना धनुप टूट गया है।

इस प्रकार 'सम' अलंकार के सभी भेद मानस में विद्यमान हैं।

## ५ : विचित्र

विचित्र के उद्भावन का श्रेय राजानक रुय्यक को प्राप्त है। वारहवी शताब्दी के पूर्व तो कोई आलंकारिक उसके नाम से भी परिचित नही था। रुय्यक के अनुसार अपने कारण से विपरीत फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न 'विचित्र' अलंकार है।[1] रुय्यक के अनन्तर विश्वनाथ, जयदेव और अप्पयदीक्षित आदि ने इसका एवंविध विवेचन किया।

विचित्र वास्तव में विचित्र है। मरने के लिए चन्द्रमा की ओर दौडना, सुखी वनने के लिए काँटों की राह पर चलना, उत्तम भोजन खाने के लिए उपवास करना आदि सारे कार्य अभीष्ट फललाभ हेतु विपरीत क्रियाएँ हैं।

मानस में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ विचित्र अलंकार की विच्छित्ति पर विस्मित रह जाना पडता है। वंदना-प्रसंग की एक अर्द्धाली देखें—

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

१.१९.५

महाभाष्यकार के उस कथन को हम भली-भाँति जानते हैं कि स्वरतोपराध से मंत्र ने अभीप्सित फल देने के वदले वाग्वज्र होकर यजमान का हनन किया था। किन्तु, वाल्मीकि ने तो राम-नाम मंत्र का उलटा जाप,—अशुद्ध जाप किया, फिर भी परम शुद्ध हो गये, महाकवि हुए, परम यश के भागी हुए।

एक दूसरा उदाहरण नारद-मोह-प्रसंग से देखें—

मुनिहित कारन कृपा निधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥

१.१३३.७

भगवान् ने नारद की भलाई के लिए उन्हें इतना कुरूप वना दिया कि उसका वर्णन करते नहीं वनता। भगवान की विचित्र गति को समझाने के लिए विचित्र अलंकार ने मानस ने वड़ी सहायता प्रदान की है।

---

१ : स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्। —अलंकारसर्वस्व, सूत्र ४५

६ : अधिक :

अधिक अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया, किन्तु उनकी परिभाषा ऐसी है कि आगे चलकर गृहीत नही हो सकी ।[1] आधार और आधेय में किसी एक का आधिक्य-वर्णन अधिक अलंकार कहलाता है ।[2] अधिक अलकार का यही लक्षण जयदेव, अप्पयदीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ द्वारा मान्य हुआ ।

अधिक अलकार में कही तो आधेय की अपेक्षा आधार का विस्तृत वर्णन होता है और कही आधार की अपेक्षा आधेय का । यह वर्णन वास्तविक नही होना चाहिए । चमत्कार तो कवि-प्रतिभोत्थित वर्णन मे सिमटा रहता है । अधिक मे दो स्थितियाँ होती हैं--

१ : जहाँ आधार का आधिक्य वर्णित हो और

२ : जहाँ आधेय का आधिक्य वर्णित हो ।

मानस मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ आधिक्य की मनोहारिणी छटा देखी जा सकती है । ब्रह्म की विराटता, राम की लोकोत्तरोत्कर्षिणी महिमा एवं अनुकूल अवसरो पर आनन्दातिरेक के अकृत्रिम अनायास आप्लावन मे अधिक अपना आधिक्य प्रदर्शित कर देता है । उदाहरणतः रामचरितमानस मे द्विविध अधिक का सम्यक् विनियोग देखें—

१: आधेय का आधिक्य—

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै ।
मम उर सो वासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ।।

१ १९२ ९-१०

अथवा

देखावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मांड ।।

१.२०१

जिस राम के रोम-रोम मे ब्रह्मांड-समूह छिपे है, वही राम कौशल्या के हृदय में वास कर रहे हैं । अपने अद्भुत रूप-दर्शन में तो उन्होने अपने रोम-रोम मे कोटि-कोटि ब्रह्मांडों को दिखला ही दिया है । इन दोनो स्थलों में आधार बिलकुल लघु और आधेय अत्यंत बडा है ।

२: आधार का आधिक्य—

भुवन चारि दस भरा उछाहू । जनक सुता रघुबीर बिआहू ।।

१ २९६ ३

भुवन—आधार बडा । उछाह—अपेक्षाकृत छोटा आधेय ।

मानस में वैसे स्थल अत्यधिक प्राप्त होते हैं, जहाँ आधेय बडा है और आधार छोटा है । सामान्यतः बडे आधार पर हम छोटे आधेय को रखते है कारण स्पष्ट है कि रखी जानेवाली

---

१ : यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रिया प्रसिद्धं वा
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् । काव्यालंकार ९/२५

२ : आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

विश्वनाथ : साहित्यदर्पण १०/७२

वस्तु की सुरक्षा। चमत्कार इसी में है कि अत्यधिक छोटे आधार पर अत्यंत वृहत् पदार्थ को समासीन या समायत्त करने का प्रयास किया जाय। गोस्वामी जी के रामचरितमानस में अनायास इसका निर्वाह हुआ है और इसलिए आधेय के आधिक्य वाले स्थल प्राप्त होते हैं, जो अपनी अनायास मोहकता एवं अद्भुतता से हमें अभिभूत करते हैं।

### ७ : अन्योन्य :

इस अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है। उनके अनुसार जहाँ दो पदार्थों में परस्पर क्रिया के द्वारा विशिष्टता को परिपुष्ट करनेवाला एक कारक भाव हो, इसे अन्योन्य कहते हैं।[1] विश्वनाथ ने इस परिभाषा को सरलीकृत किया और लिखा कि दो पदार्थ यदि एक ही क्रिया परस्पर करें, तो अन्योन्य अलंकार होता है।[2] मानस में अन्योन्य के एक-से-एक अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं। यथा—

राम तुम्हहि प्रिय तुम प्रिय रामहि। यह निरजोसु दास विधि बामहि॥

२ २०० ८

अवला विलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अवलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्माण्ड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥

१.८५ ११-१२

प्रथम मे राम और भरत के पारस्परिक प्रेम तथा द्वितीय में काम की दुर्निवारता का गोस्वामी जी ने अन्योन्य पद्धति से जैसी अभिव्यंजना करायी है कि अलंकार की अलंकारता नष्ट हो जाती है और उसकी अनिवार्यता के हम कायल हो जाते हैं।

### ८ : विशेष :

विशेष का सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले रुद्रट हैं। उनके अनुसार निश्चित आधारवाली कोई वस्तु यदि आधार के विना वर्णित की जाती है और उसकी यह निराधारता उपलभ्यमान होती है, तो विशेष अलंकार होता है।[3] रुय्यक एक ही सूत्र में इसकी परिभाषा तथा इसके भेदों का उल्लेख कर देते हैं। उनके शब्दों में आधेय का आधारहीन होना, एक का अनेकगोचर होना तथा असम्भाव्य वस्त्वन्तर का निष्पादन विशेष है।[4] इसी बात को विश्वनाथ, जयदेव, अप्पय-दीक्षित तथा जगन्नाथ ने ईषत् शब्दभेद से व्यक्त किया है।

१ः आधार के विना आधेय का वर्णन।

२ः एक वस्तु का एक ही समय में अनेकत्र वर्णन।

३ः एक कार्य करते हुए दूसरे अशक्य कार्य की सिद्धि।

विशेष अलंकार के सारे भेद मानस में प्राप्त होते हैं।

---

१ः यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम्। काव्यालंकार/७/९१

२ः अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः। साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३१४

३. किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति। काव्यालंकार ९/५

४ अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः। अलंकारसर्वस्व, पृ० १०

१ : प्रथम विशेष :

क: नख आयुध गिरि पादप धारी। चले गगन महि इच्छाचारी ॥

५.३५ ६

ख: सर निवारि रिपु के सिर काटे। ते दिसि बिदिसि गगन महँ पाटे ॥

६ ६३.६

नखों के हथियारवाले तथा वृक्षो और पहाडो को धारण करनेवाले बंदर-भालु आसमान मे चले या रिपुओं के सिर से आकाश पट गया—यहाँ आधार के बिना ही आधेय का वर्णन किया गया है।

२ : द्वितीय विशेष :

सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें राम सहित श्री भ्राता ॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बंधु सिय सुन्दर बेषा ॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रबीना ॥

१ ५४ ४-६

एक ही समय में श्रीराम का विभिन्न स्थानो में दीख पडना द्वितीय विशेष है। पर्याय अलंकार में एक ही वस्तु क्रमशः भिन्न स्थानो में दिखलाई पडती है।

३ : तृतीय विशेष :

मूंदहु नयन बिबर तजि जाहूँ। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू।
नयन मूंदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥

४.२५.५-६

इसमें सिंधु-तीर पर आगमन अशक्य कार्य-सपादन है।

तुलसी-साहित्य मे विशेष के भेदोपभेद दिखलाने वाले कई लेखको ने थोड़ा परिवर्त्तन दिखलाया है। एक के विचार से विशेष के ये तीन भेद है—

१ : जहाँ आधेय बिना आधार के हो, वहाँ प्रथम विशेष होता है।

२ : जब अल्प आरम्भ की बहुत फलसिद्धि हो, वहाँ द्वितीय विशेष होता है।

३ : जहाँ एक ही वस्तु का कई स्थानो पर होना कथित हो, वहाँ तृतीय विशेष होता है।[1]

श्री रघुनाथ दास ने भी विशेष-प्रकार बताये है।[2]

वे आधार आधेय

१ : थोडे करे तें सिद्ध बहु

२ : एक को अनेक ठौर बरनै

श्री रामचंद्र द्विवेदी ने मानदीपिकाकार श्री रघुनाथ दास का ही अनुगमन किया है किन्तु हमने पहले ही दिखलाया है कि इस प्रकार का वर्गीकरण संस्कृत के किसी भी काव्यशास्त्री को मान्य नही है।

श्री राम-प्रभुता-वर्णन के प्रसंग में गोस्वामी जी ने यदाकदा विशेष अलंकार की सहायता ली है और उनमें उन्हें पूरी सफलता मिली है।

---

१: तुलसी-साहित्य-रत्नाकर, पृष्ठ ४८८-४८६

२: मानस-मयूख, वर्ष ७, प्रकाश ४, पृष्ठ २१८

## ९ : व्याघात :

व्याघात का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है। अन्य किसी के कारण के विरोधी न होने पर भी जहाँ कारण कार्य का उत्पादन नही करता, वहाँ व्याघात होता है—ऐसी रुद्रट[1] की मान्यता है। रुय्यक इसे दूसरे प्रकार से परिभाषित करते है—एक प्रकार से निष्पन्न कार्य को उसी प्रकार से अन्यथा निष्पादन किया जाय, तो व्याघात अलंकार होता है।[2] रुय्यक इसका दूसरा प्रकार तब मानते हैं, जब कोई सुकरता के साथ किसी कार्य को उलट दे।[3] इन्हीं दो भेदों को विश्वनाथ भी स्वीकारते हैं।[4]

व्याघात में कवि एक विशेष आघात प्रदान करता है, झटका देता है और इस झटके में ही चमत्कार निहित रहता है। कालकूट मारने का काम करता है, जिलाने का नहीं, किन्तु यहाँ अमर कर रहा है। यहाँ कालकूट के फल का अन्यथा निष्पादन किया जा रहा है, इसलिए यहाँ व्याघात है—

नाम प्रभावु जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

१.१९.८

व्याघात के दूसरे भेद का उदाहरण देखें—

जनि रघुपति लीला उरगारी। दनुज विमोहनि जन सुखकारी॥

७.७३.१

तुलसी-साहित्य-रत्नाकर मे व्याघात के दूसरे भेद के बारे मे श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने लिखा है—"जहाँ कई विरुद्ध क्रियाओं के हाथ एक ही प्रकार के फल की प्राप्ति हो, वहाँ द्वितीय व्याघात होता है।"[5] यह लक्षण रुय्यक के पूर्व लक्षित लक्षण से मेल नहीं खाता।

रामचरितमानस मे व्याघात का अत्यधिक आकर्षक-विस्मयकर प्रयोग हुआ है। लेकिन, मेरा भी निश्चित मत है कि गोस्वामी जी काव्यशास्त्रियों के बने हुए फरमे मे उदाहरण ढालने के अभ्यासी या कृतप्रतिज्ञ नहीं हैं। मानस मे प्रयुक्त व्याघात को देखकर उसकी परिभाषा यदि स्वीकृत की जाय, तो इन स्थलों को परखने मे विशेष कठिनाई नहीं होगी।

## १० : अल्प

'अल्प' अलंकार की स्वतन्त्र रूप से चर्चा अप्पयदीक्षित को छोड़ कर किसी आलंकारिक ने नहीं की है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आलंकारिकों ने अधिक की जो परिभाषा दी है, उससे सर्वथा विपरीत अल्प अलंकार है। अधिक में आधार की अपेक्षा आधेय बड़ा या छोटा वर्णित किया जाता है, किन्तु अल्प अलंकार में छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बृहत् आधार रहने पर भी

---

१ : अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य
यस्मिन्नभिधीयते व्याघातः स इति विज्ञेयः। — [illegible]

२ : यथा साधितस्य तथैवान्यथाकरणं व्याघातः। — [illegible]

३ : [illegible] — [illegible]

४ : [illegible]

५ : [illegible]

उसे छोटा बतलाया जाता है[1] बहुत सारे अलंकारो मे तलवार की पतली धार की तरह ही पार्थक्य है। अतः, मेरे विचार से अल्प को स्वतंत्र अलंकार मानने मे किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति दृष्टिगत नही होती। उदाहरणार्थ लंकाकाड की एक अर्धाली देखें—

**गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असका॥**

६· ३४·३

लंका आधार वस्तुतः बहुत बडा है, किन्तु उसे बहुत छोटा गूलर-फल बतलाया जा रहा है। रावण स्वयं बहुत विशाल है उसे भी कीडे की तरह छोटा बतलाया गया है।

तुलसी-साहित्य-रत्नाकर में 'अल्पालंकार' का उदाहरण है—

**बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥**

२ ११५·१

आपाततः यह तो अधिक अलकार का उदाहरण मालूम पडता है। बुद्धि आधार है, आधेय शोभा। यहाँ आधार से आधेय बडा माना गया है, अतः अधिक अलकार है। यदि ऐसा कहे कि बुद्धि बहुत बडी है, शोभा की अपेक्षा किन्तु यहाँ छोटी बतलायी गयी है, तो कहना निर्भ्रान्त नही होगा कि कवि की बुद्धि बडी है या प्रभु का रूप। मेरे विचार से तुलसी-साहित्य-रत्नाकर में प्रदत्त उदाहरण को अधिक अलकार का उदाहरण ही मानना चाहिए।

## ११ : असंगति :

असंगति विरोधमूलक अलंकारो में प्रमुख स्थान रखती है। रुद्रट[2] ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया। पीछे चलकर प्रायः सभी आलंकारिको ने इसे मान्यता प्रदान की। परिभाषा को सरलीकृत करते हुए विश्वनाथ ने लिखा कि कारण और कार्य का भिन्न स्थान मे वर्णन करना असंगति अलंकार है।[3] यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कारण और कार्य का एक में विरोध होना चाहिए। अप्पयदीक्षित[4] ने असंगति के तीन भेदो का विवेचन किया और वही तीनों भेद अन्य आलकारिको को भी मान्य रहे—

१· प्रथम असंगति—जहाँ कारण कही और कार्य कही वर्णित हो।
२ः द्वितीय असगति—अन्यत्र करणीय कार्य को अन्यत्र वर्णित किया जाय।
३ः तृतीय असंगति—यदि किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति हो और उसके विरुद्ध कार्य किया जाय।

रीतिकालीन कवियो ने सयोग शृंगार में असंगति का भरपूर उपयोग किया है। तुलसीदास के रामचरितमानस मे असंगति का यत्र-तत्र संुदर विनियोग दीख पडता है। यथा—

---

१ : अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता
मणिमालोर्मिकातेऽद्य करे जपवटीयते। — कुवलयानन्द ९७

२ ' विस्पष्टे सकाल कारणमन्यत्र कार्यमत्यत्र।
यस्यामुपलभ्यते विज्ञेयासगतिः सेयम्। — काव्यालकार ९/४८

३ कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायाममगति'। — साहित्यदर्पण, १०/६९

४ : विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसगति'।
अन्यत्र करणीस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा
अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्ध कितिस्तथा। — कुवलयानन्द, ८५,८६

प्रथम असंगति—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहि सुकबि कबित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ॥

२.११.१३

मणि, माणिक, मुक्ता और कविता की उत्पत्ति कही और शोभा प्रदान कही में प्रथम असंगति है। द्वितीय असंगति—

सुख सरुप रघुवंश मनि मंगल मोद निधान।
ते सोवत कुस डासि महि बिधि गति अति बलवान ॥

२.१६६

शयन-क्रिया सुंदर कोमल बिछावन पर होनी चाहिए थी, किन्तु पृथ्वी पर बिछे कुश पर हो रही है—अतः द्वितीय असंगति है।

तृतीय असंगति—

राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥

२.५४.७

राज्य देने के लिए सुंदर दिन निश्चित किया किन्तु इसके विपरीत वनवास दिया गया ईप्सित से विरुद्ध कार्य मे तृतीय असंगति स्पष्ट ही है।

## १२: विषम :

विषम का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। यह सम का बिलकुल विलोम है। रुद्रट के विचार से जहाँ कार्य और कारण से सम्बद्ध गुणों अथवा क्रियाओं का परस्पर विरोध उत्पन्न हो, वहाँ विषम अलंकार होता है।[1] रुय्यक[2] का कथन है कि प्रतिकूल कार्य, अनर्थ की उत्पत्ति तथा विरुद्ध संघटना जहाँ वर्णित हो, वहाँ विषम अलंकार होता है। मम्मट ने इसी शब्दावली में ईषत् परिवर्त्तन करते हुए विषम के चार भेदों की चर्चा की है।[3] विश्वनाथ ने[4] विषम के तीन भेद ही माने और पीछे चलकर उन्ही तीन भेदो को मान्यता प्राप्त हुई। इस प्रकार विषम के तीन भेद हैं—

१: प्रथम विषम—कार्य और कारण के गुण या क्रियाएँ परस्पर भिन्न हों।

२: द्वितीय विषम—आरब्ध कार्य विफल हो तथा कुछ अनिष्ट घटित हो।

३: तृतीय विषम—जहाँ विरूप (बेमेल) वस्तुओं का वर्णन हो।

१: प्रथम विषम—

कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहि तुम्हहि सुंदरता दई।
जो फलु चहिअ सुरतरुहि सो बरबस बबूरहि लागई ॥

१.९६

---

१: कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः तद्वत्क्रिययोरथवा संजायेतेति तद्विषमम्
काव्यालंकार [illegible]

२: विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्। अलंकारसर्वस्व [illegible]

३: काव्यप्रकाश १०/१२६–१२७

४: गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम्। साहित्यदर्पण [illegible]

**कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा॥**

१.२५६.७

कुंभ से उत्पन्न व्यक्ति सागर को सोख ले। कारण और कार्य की क्रिया भिन्न है।

२: द्वितीय विषम—

**फोरइ जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रौरेहि लागा॥**

२ १६.२

यहाँ कार्यानुकूल फल की प्राप्ति न होकर अनिष्ट घटित हो रहा है।

३: तृतीय विषम[1]—

**कोउ कह संकर चाप कठोरा। ए स्यामल मृदु गात किसोरा॥**

१.२२३.२

कठोर शंकर धनुष और श्यामल मृदुगात किशोर—दो विरूप पदार्थों का एकत्र वर्णन है।

इस अध्याय में हमने तनिक विस्तार से देखा कि गोस्वामी तुलसीदास ने द्वादश विरोधमूलक अलंकारों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रयोग किया है। ये अलंकार रूप-वर्णन या वस्तु-निरूपण में प्रायः नहीं आते। इनका उपयोग विशेषतः प्रभुचरित्र की लोकोत्तरता, विलक्षणता एवं विचित्रता वर्णित करने के लिए हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार वे अलंकार के स्थान एवं समय के सदुपयोग से सुपरिचित थे।

---

१: हिन्दी के अलंकार-ग्रंथों में विषम के भेदों के क्रम में थोड़ा परिवर्त्तन किया गया है, किन्तु मैंने विश्वनाथ की शब्दावली के अनुसार ही विषम के तीनों भेदों की चर्चा की है।

●●

# न्यायमूलक अलंकार

## (क) तर्कन्याय-मूल :

### १ : काव्यलिंग

काव्यलिंग तर्कन्यायमूल अलंकार है और इसका सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने किया।[1] परवर्ती लेखकों में वामन और रुद्रट भी इसका विवेचन नही करते। विश्वनाथ इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं – "जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ किसी कथन का कारण स्वरूप प्रयुक्त हो, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है।"[2] काव्यलिंग का साधारण अर्थ है-काव्य का कारण। वैसे तो कारण-कार्य सम्बन्ध का विवेचन तर्कशास्त्र का विषय है, किन्तु चमत्कारोपादक कारण-कार्य-सम्बन्ध-विवेचन काव्य की सीमा के भी बहिर्भूत नही है। काव्यलिंग मे ऐसे चमत्कारयुक्त कारण का कथन किया जाता है, जिसके द्वारा काव्य कथित किसी बात को भली-भाँति सिद्ध किया जाय।

इस तरह काव्यलिंग के मुख्यतः दो भेद होते हैं—

१ : वाक्यार्थगत काव्यलिंग और

२ : पदार्थगत काव्यलिंग।

मानस मे वाक्यार्थगत काव्यलिंग का बहुशः प्रयोग हुआ है कि पाठक चकित रह जाता है। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

स्याम गौर किमि कहउं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥
१.२२९.२

राम और लक्ष्मण में एक श्यामल और दूसरे गौर वर्ण के हैं। उनके मनमोहक रूप का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है? पाठक या श्रोता उत्कंठित हो उठता है। तुलसीदास जैसा श्रेष्ठ कवि और श्यामल गौर किशोर के सौन्दर्य का वर्णन नही कर सकता। आश्चर्य और आश्चर्य है। कवि कोमलमति पाठक की बुद्धि को भँवर मे छोड़ देना नही चाहता। वह ऐसा हृदयग्राही तर्क देता है कि किसी को भी कवि की अक्षमता पर अफसोस नही होता। कह सकते हैं कि कवि की अक्षमता उसकी हीनता सिद्ध नहीं होती, वरन यह अक्षमता उसकी महत्ता उद्घोषित करने लग जाती है। कवि कहता है कि श्याम गौर किशोर की सुन्दरता का वर्णन नहीं कर पाने का कारण यह है कि देखने का काम आँखें करती हैं और बोलने का काम जिह्वा करती है। जो देखे, वही बोले और जो बोले, वही देखे—तभी तो वस्तुस्थिति का यथार्थ वर्णन हो सकता है, किन्तु ऐसा तो होता नहीं। देखने वाली आँखों को बोलने की शक्ति नहीं है—वाणी नहीं है और बोलनेवाली जिह्वा को देखने की शक्ति अर्थात आँखें नहीं हैं। यह विरोधाभास नहीं, वरन्

१ : श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते। — [illegible]

२ : हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते। — [illegible]

पूर्ण विरोध की स्थिति है। अतः इस विरोध-स्थिति में श्यामल-गौर किशोर की रूप-छटा का वर्णन कैसे हो सकता है ? यहाँ गोस्वामीजी ने जो हेतु दिया है, वह तर्कशास्त्र का शुष्क हेतु नही है। यह हेतु सीधे मन-प्राणों पर असर डालता है।

इस तरह मानस मे ऐसे अनगिन स्थल हैं, जहाँ गोस्वामीजी ने काव्यलिंग का बड़ा ही मोहक निबंधन किया है। उर्दू या रीतिकाल के कवि मजमून छीन लेने के लिए चाहे जितने भी तरीके ढूँढ़ते हों, किन्तु तुलसीदास ने मानस मे जो कार्य काव्यलिंग द्वारा किया है,वह अन्य पद्धतियों द्वारा भी संभव नहीं हो पाया।

काव्यलिंग का एक और चुभता प्रयोग देखें—

प्रभु ताते उर हतै न तेही। एहि कें हृदय बसति बैदेही।।

६ ९९ १३

रावण का अंत अभी तक श्रीराम नहीं कर सके है, यह सोचकर सीता अत्यंत दुःखी हैं। उन्ही को सात्वना देने के उद्देश्य से त्रिजटा कहती है कि यदि प्रभु श्रीरामचन्द्र रावण के हृदय में बाण मार दें, तो उसका निधन शीघ्र हो जाय, किन्तु ऐसा वे कर नहीं पा रहे हैं। अर्द्धाली के प्रथम चरण 'प्रभु ताते उर हतै न तेही' मे उत्सुकता की एक प्रबल लहर आती है। इसका समाधान त्रिजटा ने जिस रीति से किया है कि उस पर मन मुग्ध हो जाता है। रावण के हृदय मे उनकी प्राणप्रिया श्रीजानकी का निवास है—रावण अभी उन्हे हृदय से विलग नहीं कर रहा है—उन्हीं के ध्यान में तल्लीन है— अत. यदि श्रीराम रावण के हृदय मे बाण मारते हैं. तो रावण की हृदयस्थ सीता-मूर्त्ति को भी घायल होना पडेगा। किन्तु, जो प्रभु सीता से इतना प्रेम करते हैं—वे ऐसा कैसे कर सकते हैं ? वे तभी रावण के हृदय मे शर-संधान करेंगे, जब रावण बाण-वृष्टि से विचलित होकर सीता की याद भूल जाय। अपने अन्तःकरण से सीता की प्रतिमा को हटा दे। इस काव्यलिंग-पद्धति से गोस्वामीजी ने श्रीराम के सीता-प्रति जिस प्रेम का प्रकटीकरण कराया है, वह तो सचमुच अनिर्वचनीय है।

## २ : पदार्थगत काव्यलिंग :

मानस मे पदार्थगत काव्यलिंग का भी यत्र-तत्र विनियोग हुआ है। अर्द्धाली देखें—

सिय सोभा नहि जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी।।

१ २४७ १

गोस्वामी जी कहते हैं— सीता की शोभा बखानते नही बनती। पाठक सोचता है कि आखिर कारण क्या हो सकता है ? गोस्वामी जी कहते हैं, वे तो संसार की माता है—अर्थात् मेरी भी माँ हैं और माँ का रूप-वर्णन किसी पुत्र के लिए अनुचित तथा निर्मर्याद है। जब कोई पुत्र अपनी माँ की सुंदरता का बखान नही करता, तो फिर गोस्वामी जी का भक्त एव योग्य पुत्र ऐसा क्यों करेगा ? यहाँ 'जगदंबिका' पद ही 'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी' का समाधान कर देता है।

## २ : अनुमान :

अनुमान तर्क-न्यायमूल अलंकार है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। रुद्रट के अनुसार जहाँ कवि पहले परोक्ष साध्य वस्तु (कार्य) को बताकर फिर उसका साधक (कारण)

बतलाए, अथवा इसके विपरीत करे, वहाँ अनुमान अलंकार होता है।[1] विश्वनाथ ने रुद्रट के कथन का सरलीकरण किया। उनकी परिभाषा है—हेतु के द्वारा साध्य के चमत्कारपूर्ण ज्ञान को अनुमान अलंकार कहते हैं।[2] विश्वनाथ के विचार से हेतु तीन प्रकार का होता है। एक ज्ञापक, दूसरा निष्पादक तथा तीसरा समर्थक। इनमें जहाँ ज्ञापक हेतु हो, वहाँ अनुमान, जहाँ निष्पादक हेतु हो वहाँ काव्यलिंग तथा जहाँ समर्थक हेतु हो, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार समझना चाहिए।[3]

अनुमान तो तर्कशास्त्र का विषय है, जहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर अप्रत्यक्ष की कल्पना की जाती है। धूम अर्थात् हेतु या साधन को देखकर वह्नि का अनुमान किया जाता है। तर्कशास्त्र में साधन-साध्य-संबंध का कथन नीरस और अरमणीय मालूम पड़ता है, किन्तु जब वही संबंध सरस और रमणीय बन जाता है, तो अलंकारत्व की कोटि में आ जाता है।

मानस में अनेक स्थलों पर अनुमान अलंकार आया है। एक-दो स्थल देखें—

**चलत मार अस हृदय विचारा। सिव विरोध ध्रुव मरनु हमारा॥** १८४

शिवविरोध रूपी साधन से 'ध्रुवमरण' साध्य का अनुमान होता है। इस अर्द्धाली में दुर्निवार कामदेव द्वारा शिव की अजेय शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है। एक और उदाहरण 'केवट-प्रसंग' से देखें—

**छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥**
**तरनिउ मुनि घरनी होइ जाई। बाट परै मोरि नाव उड़ाई॥** २.१००५-६

जब श्रीराम के पादस्पर्श से कठोर शिला नारी बन गयी, तो काठ के बारे में क्या कहना! काष्ठ तो शिला से निश्चित रूप से कोमल होता है। इसलिए केवट अनुमान करता है कि उसकी नाव भी मुनिपत्नी हो जायगी। एक पत्नी का भरण-पोषण तो वह घटवारी का धंधा करके करता है। इधर तरणी का गृहिणी बनने से रोजगार भी समाप्त हो जायगा और ऊपर से दो पत्नियों के पालन का भार भी आ पड़ेगा।

इस प्रकार केवट के इस अनुमान में उसके हृदय की सहजता एवं श्रीराम के प्रति निगूढ़ भक्तिभावना किस प्रकार व्यक्त हुई है, इसका अनुमान तो सहृदय रसज्ञ ही कर सकते हैं।

## (ख) वाक्य-न्यायमूल :

### १ : यथासंख्य :

यथासंख्य वाक्य-न्यायमूल अलंकार है। इसका उल्लेख प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिकों ने किया है। इसे कोई संख्यान[4] तथा कोई क्रम[5] के नाम से पुकारते हैं। भिन्न धर्मवाले अनेक

---

१ : वस्तु परोक्षं यस्मिन्साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य
पुनरन्यदुपन्यस्येद्विपरीतं चैतदनुमानम्। — काव्यालंकार, [illegible]

२ : अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्। — साहित्यदर्पण, [illegible]

३ : हेतुस्त्रिधा भवति —ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति— — साहित्यदर्पण, पृष्ठ [illegible]

४ : कोई-कोई इसे संख्यान कहते हैं।
यथासंख्यमथोद्दिष्टानां क्रमेण यत्।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्। — भामह—काव्यालंकार [illegible]

५ : वामन ने इसे क्रम कहा है—
उपमेयोपमानानां क्रमसंबंधः क्रमः। — काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति, [illegible]

निर्दिष्ट अर्थो का अनुनिर्देश यथासंख्य कहलाता है— ऐसा भामह कहते हैं।[1] दंडी की शब्दावली मे पूर्वकथित पदार्थों की उसी क्रम से आवृत्ति यथासंख्य अलंकार है।[2] रुय्यक[3] तथा विश्वनाथ[4] भी इन्ही शब्दो से यथासख्य की सूत्रवद्ध परिभाषा निर्मित करते हैं। क्रमशः उद्दिष्ट अर्थों का उसी क्रम से कथन यथासख्य कहलाता है।

यथासंख्य में जिस क्रम से कुछ पदार्थ वर्णित होते हैं, उनका पीछे उसी क्रम से दूसरे पदार्थों के साथ सबध-निर्वाह किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो अर्थबोध में कठिनाई ह'ने लगती है और काव्यानन्द में विघ्न उपस्थित होता है। अतः, क्रमशः उद्दिष्ट पदार्थों के अनुनिर्देश में एक प्रकार की चारुता एवं सरलता आ जाती है और यही कारण है कि यथासंख्य को अलंकार के आसन पर प्रतिष्ठित किया गया है।

उदाहरणार्थ दो-एक स्थल देखे—

**मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गजसिर सोह न तैसी॥**

१ ११ १

इसमे मनि, मानिक और मुकुता का क्रमशः अहि, गिरि तथा गजसिर के साथ अन्वय हो जाता है, इसलिए यहाँ यथासंख्य अलंकार है।

इसी तरह—

**बंदौ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥**

१.१९.१

'राम' नाम के तीन वर्ण र, अ तथा म क्रमशः कृसानु, भानु तथा हिमकर के हेतु माने गये है। रकार अनलबीज, अकार भानुबीज तथा मकार चन्द्रबीज सुज्ञात है। इसी तरह यथासंख्य के द्वारा कवि ने राम नाम का महत्त्व तो बतलाया ही है, साथ-ही साथ शास्त्रोक्त वचन का भी निर्वाह किया है।

जहाँ क्रम का निर्वाह नही किया जाता, वहाँ अलंकारत्व तो दूर रहे, काव्य मे दोष आ जाता है। यह क्रमदोष दो प्रकार का होता है—१ : भग्नक्रम २ : विपरीतक्रम।

१ : भग्नक्रम में क्रम में हेर-फेर हो जाता है। मानस में ऐसे दो-चार स्थल हैं, जहाँ गोस्वामी-जैसे कवि से भी च्युति हो गयी है।

**जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥**

५.२१ ५

यहाँ विरंचि, हरि, ईसा के साथ सृजत, हरत और पालत का क्रम होने से काम चल सकता था, हालाँकि विरंचि ईस और हरि का क्रम रखकर सृजत, पालत और हरत होता, तो यह क्रम सर्वोत्तम माना जाता। अतः यहाँ गोस्वामीजी ने क्रमभंग किया है और यह दोष है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

---

१ : भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो यो ऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते। — काव्यालंकार २/८०

२. उद्दिष्टाना पदार्थानामनुद्देशो यथाक्रमः
यथासख्यमिति प्रोक्त संख्यानक्रम इत्यपि। — काव्यादर्श, २७३

३ : उद्दिष्टानामर्थाना क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम्। — अलंकारसर्वस्व, ५६

४ : यथासख्यमनूद्देश उद्दिष्टाना क्रमेणयत् — साहित्यदर्पण १०/८६

सचिव वैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगहीं नास॥

५.३७

सचिव, वैद्य तथा गुरु के साथ राज, तन और धर्म रखने से भग्नक्रम दोष नही होता।

२ : विपरीतक्रम—विपरीतक्रम में क्रम बिलकुल उलटा हो जाता है—

राजु नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाएँ। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥

३.२१.८-१०

कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम तें पावहिं लोग॥

७.१०२

## २ : पर्याय :

पर्याय वाक्यन्यायमूल अलंकार है और इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट[1] ने किया है रुद्रट की परिभाषा बहुत मान्य नही रही। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक वस्तु अनेकों में या अनेक वस्तु एक में क्रम से वर्णित हो, वहाँ पर्याय अलंकार होता है।[2] पर्याय का अर्थ है अनुक्रम अर्थात् एक के बाद दूसरा। यह अनुक्रम कालभेद का सूचक है। पर्याय अलंकार में एक ही आधेय में अनेक आधारों की स्थिति स्वतः भी होती है और दूसरों के द्वारा वर्णित भी की जाती है। मम्मट ने इसे ही 'भवति' और 'क्रियते' के द्वारा व्यक्त किया है।[3] इस तरह पर्याय के चार भेद हो जा सकते हैं, किन्तु मुख्य भेद दो ही हैं—

१ : एक वस्तु की अनेक वस्तुओं में क्रमशः स्थिति और

२ : अनेक वस्तुओं की एक वस्तु में क्रमशः स्थिति।

१ : प्रथम पर्याय और द्वितीय विशेष—दोनों अलंकारों में एक वस्तु की अनेक वस्तुओं मे स्थिति बतलायी जाती है, किन्तु दोनों मे पार्थक्य यही है कि प्रथम पर्याय में यह अवस्थिति क्रमशः अर्थात् कालभेद से बतलायी जाती है, वहाँ विशेष मे अवस्थिति एक साथ अर्थात् कालव्यवधान रहित यौगपद्य बतलायी जाती है।

मानस में प्रथम पर्याय का उदाहरण देखें—

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई॥
कहिहौं सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी॥

१.३०.१-२

१ : वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत्स पर्यायः। — काव्यालंकार, ७।४४

२ : क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते॥ — साहित्यदर्पण १०।८१

३ : [illegible] भवति क्रियते वा स पर्यायः। — काव्यप्रकाश, सूत्र [illegible]

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥
सोइ सिव कागभुसुंडि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा ॥
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥

१.३० ३-५

एक ही रामकथा को क्रमशः शंभु ने उमा को, फिर उन्होने भुसुंडी को सुनाया। कागभुसुंडी ने उसी शिव प्राप्त रामकथा को याज्ञवल्क्य को सुनाया। याज्ञवल्क्य ने कागभुसुंडी से प्राप्त उसी रामकथा को भरद्वाज को सुनाया। इस तरह एक ही रामकथा—अर्थात् आश्रय अनेक आधारों में वर्णित की गई है—अतः प्रथम पर्याय है। रामकथा के व्यापक प्रचार-प्रसार के ग्रहण के लिए पर्याय अलंकार बडा उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह स्वतःसिद्ध पर्याय की कोटि में नही, वरन् परतः वर्णित पर्याय की कोटि में आता है।

द्वितीय पर्याय—अनेक वस्तुओं की एक वस्तु मे स्थिति का वर्णन द्वितीय समुच्चय अलंकार में भी होता है किन्तु पर्याय में यह स्थिति क्रमशः अर्थात् कालभेद के साथ रहती है। समुच्चय में क्रमशः नही, वरन् एक साथ कालभेद के विना ही रहती है। मानस से एक उदाहरण देखें—

देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका ॥
बंदत चरन करत प्रभुसेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा ॥
सती बिधात्री इंदिरा देखी अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर तेहि तेहि तन अनुरुप ॥

१ ५४.७-१०

सती ने श्री राम माया के कारण देवी-देवताओं को क्रमशः एक स्थान मे देखा। इसलिए यहाँ द्वितीय पर्याय हुआ।

इस द्वितीय पर्याय के साथ उदात्त की संसृष्टि से विशेष विलक्षणता आ गयी है। यहाँ गोस्वामी जी ने राम के मानवत्व का तिरोधान कर उनके अग-जग-नियंता परब्रह्मत्व का स्थापन किया है।

अप्पयदीक्षित के अनुसार अब तक हमने शुद्ध पर्याय की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त वे पर्याय[१] के और दो भेद मानते हैं—

१ : संकोच पर्याय—आधार का उत्तरोत्तर संकोच।
२ : विकास पर्याय—आधार का उत्तरोत्तर विकार।

पंडितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में इसका खंडन किया है।[२] पर्याय वही माना जाना चाहिये, जहाँ प्रथम आश्रय का संबंध नष्ट होता चले और अपर आश्रय का संबंध स्थापित। किन्तु अप्पयदीक्षित ने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें प्रथम आश्रय नष्ट नही होता, अतः पर्याय है ही नही। अप्पयदीक्षित के संकोच-पर्याय और विकास-पर्याय का विवेचन आचार्य भिखारीदास ने किया है।[३]

मानस से एक संकोच-पर्याय का उदाहरण द्रष्टव्य है—

गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥

१.७.६

१ : कुवलयानंद, पृष्ठ १८२
२ : रसगंगाधर, तृतीय भाग, पृष्ठ २६०
३ : काव्यनिर्णय, १८

रज का गगनरूपी विस्तृत आधार से कोच-जैसे लघु आधार के वर्णन में आधार का उत्तरोत्तर सकोच हो गया है और इसलिए इसे संकोच पर्याय के उदाहरण के रूप में रख सकते हैं।

विकास-पर्याय का भी एक उत्तम उदाहरण द्रष्टव्य है—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर॥
कहौ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥

१.३५.११-१२

शिव मानस के लघु आधार वाली रामकथा पार्वती के पास और फिर सारे सुजन समाज के बीच फैलकर वृहत् आधार पा गयी है। इसमें आधार का उत्तरोत्तर विकास वर्णित है, इसलिए इसे विकास-पर्याय का उदाहरण निस्संकोच मान सकते हैं।

गोस्वामी जी ने रामकथा एवं श्रीराम के प्रभुत्व की व्यापकता को मानस पर पूर्णतः अंकित करने के लिए पर्याय का आश्रय लिया है या पर्याय स्वयं उनके सेवार्थ आ पहुँचा है। यही कारण है कि शृंगारी कविताओं में जो पर्याय-लावण्य प्रस्फुटित होता है, उनसे किंचित् न्यून लावण्य रामचरितमानस में नहीं है।

### ३ : परिवृत्ति :

परिवृत्ति वाक्यन्यायमूल अलंकार है। इसका उल्लेख भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक, प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिकों ने किया है। भामह अन्य (अविशिष्ट) वस्तु के परित्याग से विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा यदि उसमें अर्थान्तरन्यास मिला हो, तो परिवृत्ति मानते हैं।[1] उत्तरवर्त्ती आलंकारिकों ने अर्थान्तरन्यास को तो बिलकुल अनावश्यक माना तथा वस्तुओं के विनिमय में भी भेद कर दिया। उत्तरवर्त्ती आलंकारिक उत्कृष्ट का त्याग कर उत्कृष्ट के ग्रहण तथा अपकृष्ट का त्याग कर अपकृष्ट के ग्रहण में भी परिवृत्ति मानते हैं, किन्तु भामह तो उत्कृष्ट का त्याग कर अपकृष्ट के ग्रहण तथा अपकृष्ट का त्याग कर उत्कृष्ट के ग्रहण में ही परिवृत्ति मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने परिवृत्ति की सूत्रबद्ध परिभाषा देते हुए लिखा है समान न्यून अथवा अधिक के साथ विनिमय करने से परिवृत्ति अलंकार होता है।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने परिवृत्ति के दो भेद किये[3] —१ : समपरिवृत्ति और २ : विषमपरिवृत्ति।

१ : समपरिवृत्ति के भी दो भेद होते हैं—

क : उत्तम विनिमय—उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु लेना।

ख : न्यून विनिमय—निकृष्ट वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना।

२ : विषम परिवृत्ति के भी दो भेद होते हैं—

क : उत्तम-न्यून विनिमय—उत्तम वस्तु देकर निकृष्ट वस्तु लेना।

ख : न्यून-उत्तम विनिमय—निकृष्ट वस्तु देकर उत्कृष्ट वस्तु लेना।

---

१ : विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥ काव्यालंकार ३/४१

२ : परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्। साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३.७

३ : सा च तावद्द्विविधा—समपरिवृत्तिर्विषमपरिवृत्तिश्चेति।
समपरिवृत्तिरपि द्विविधा उत्तमैरुत्तमानां, न्यूनैर्न्यूनानां चेति।
विषमपरिवृत्तिरपि तथा उत्तमैर्न्यूनानां न्यूनैरुत्तमानां चेति। रसगंगाधर, पृष्ठ ६८

मानस से परिवृत्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते है।

१ : क : समपरिवृत्ति उत्तम विनिमय—

**मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसें रघुनायक मोहि दीन्हा।।**
**चूड़ामनि उतारि तब दएऊ। हरष समेत पवनसुत लएऊ।।**

५.२७.१-२

परिचय-चिह्न स्वर्ण मुद्रिका के बदले सीता के परिचय-चिह्न चूड़ामणि का प्राप्त करना उत्तम का उत्तम से विनिमय है।

२ : विषम परिवृत्ति—

(क) विषम परिवृत्ति उत्तम-न्यून विनिमय—

**तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया।**

४ ११.३

यहाँ प्रभु श्रीराम ने बालिनिधन के पश्चात् तारा को अत्यंत विकल देखकर उसे ज्ञान दिया और उसके बदले में माया हर ली। उत्कृष्ट वस्तु से निकृष्ट वस्तु का विनिमय है।

**नरतनु पाई विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेही।।**

७.४४ २

गोस्वामी जी मानव की मूर्खता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि वह अमृत के बदले विष ग्रहण करता है। उत्कृष्ट से अपकृष्ट विनिमय में कवि की मानव के प्रति सहज सहानुभूति एवं वेदना उमड चली है।

(ख) विषमपरिवृत्ति न्यून-उत्तम विनिमय—

**ताहि कबहुँ भल कहै न कोई। गुंजा ग्रहै परसमनि खोई।।**

७.४४.३

ऐसे मनुष्य को कौन भला कह सकता है जो तुच्छ घुंघुंची पकडता है और दुर्लभ पारसमणि खो देता है। यहाँ निकृष्ट वस्तु गुंजा के साथ उत्कृष्ट-वस्तु पारसमणि का विनिमय कहा गया है।

मानस में समपरिवृत्ति के अत्यल्प उदाहरण मिलते हैं और उनमे विशेष चमत्कार भी नहीं है। किन्तु, जहाँ गोस्वामी जी ने विषम परिवृत्ति का प्रयोग किया है, उसमें चमत्कारिता पूर्णतः विद्यमान है। चरित्रो की महत्ता एवं मनुष्य की दयनीयता वतलाने के लिए जहाँ-तहाँ कवि ने परिवृत्ति का नियोजन किया है। कहना न होगा कि ऐसा साधारण अलकार भी गोस्वामी जी की प्रतिभा का पारस परस पाकर कितना मूल्यवान् हो गया है।

## ४ : परिसंख्या :

परिसंख्या वाक्य-न्यायमूल अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट[1] ने किया है। परिवर्जनार्थ अव्यय है तथा संख्या का अर्थ बुद्धि। इस तरह परिसंख्या का अर्थ हुआ वर्जन बुद्धि अर्थात् किसी वस्तु का निषेध। परिसंख्या में अन्यत्र संभव वस्तु का निषेध कर एकत्र स्थापन किया जाता है। रुय्यक के अनुसार जब एक वस्तु अनेकत्र संभावित हो, तो उसका अन्यत्र

१ : पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या। काव्यालंकार,७/७९

निषेध कर एक स्थान में नियमन परिसंख्या अलंकार कहलाता है।[1] कही परिसंख्या प्रश्नपूर्वक हो सकती है और कहीं बिना प्रश्नपूर्वक। वर्जनीय या निषेध कही तो शब्दतः अर्थात् वाक्य हो सकता है और कही वर्जनीय या निषेध अर्थात् प्रतीयमान हो सकता है। इस प्रकार रुय्यक के ही अनुसार परिसंख्या के चार भेद होते हैं[2] —

१ : प्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या,
२ : प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या,
३ : शुद्धा आर्थी परिसंख्या,
४ : शुद्धा शाब्दी परिसंख्या ।

परिसंख्या यदि श्लेष-संयुक्ता हो, तो इसमें अत्यंत चारुत्व आ जाता है— ऐसा रुय्यक कहते है।[3] विश्वनाथ का भी कथन है कि यदि यह अलंकार श्लेषमूलक हो, तो विचित्रता अधिक होती है।[4] शायद यही कारण है कि श्लेष के आधार पर चिंतामणि ने परिसंख्या के चार भेद और माने।[5]

१ : शब्दगत वर्जनीया प्रश्न-पूर्विका श्लेषमूलापरिसंख्या,
२ : अर्थगत वर्जनीया ,, ,, ,,
३ : शब्दगत वर्जनीया अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूला परिसंख्या
४ : अर्थगत वर्जनीया ,, ,, ,, ,, ।

श्लिष्ट परिसंख्या का संस्कृत में सुबन्धु, बाण तथा त्रिविक्रम भट्ट तथा हिंदी में केशवदास ने जैसा बहुल प्रयोग किया है वैसा गोस्वामी तुलसीदास ने नहीं किया है। सच पूछा जाय, तो गोस्वामीजी ने परिसंख्या का मानस में अत्यल्प प्रयोग किया है। रामराज्य-वर्णन के प्रसंग में उन्होने अप्रश्नपूर्विका अर्थगत वर्जनीया परिसंख्या का बड़ा ही श्रेष्ठ प्रयोग किया है—

**दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज।**
**जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र कें राज ॥**

७.२२

दंड, भेद तथा जीत का अन्य स्थान से व्यवच्छेद कर संन्यासियों के हाथ, नर्त्तकों के नृत्य-प्रसंग तथा कामदेव के ऊपर नियमन करने में परिसंख्या है। यहाँ अन्य व्यवच्छेद शब्दोपत्ति नहीं वरन आर्थ है। दंड और भेद ये दोनों शब्द श्लिष्ट हैं। दंड के दो अर्थ हैं— डंडा और सजा तथा भेद के भी दो अर्थ हैं—फूट तथा गति-भेद। इस प्रकार इस अप्रश्नपूर्विका-श्लिष्ट परिसंख्या के द्वारा गोस्वामी जी ने रामराज्य की श्रेष्ठता को प्रश्नवाचक-चिह्न से रहित कर दिया है। परिसंख्या विशेषतः श्लेष परिसंख्या में कवि को बुद्धि-कौशल अधिक दिखाना पड़ता है। गोस्वामी जी

---

१ : एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या। अलंकारसर्वस्व, पृ १२

२ : सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति प्रथमं द्विविधा प्रत्येकं च वर्जनीयस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुःप्रभेदा परिसंख्या। अलंकारसर्वस्व, १९१

३ : श्लेषसंकीर्णत्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम्। अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १९३

४ : इयञ्च श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषिणी। साहित्यदर्पण, पृष्ठ ७१८

५ : कविकुलकल्पतरु, .....

प्रायः बुद्धि-कौशल से युक्त अलंकारो को नही अपनाते। यही कारण है कि उन्होंने परिसंख्या के क्लिष्ट उदाहरणो से मानस के सहज प्रवाह को अवरुद्ध नही करना चाहा है। हाँ, इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि यदि वे चाहते, तो परिसंख्या के जटिल किंतु सुन्दर उदाहरणों से मानस को गूँथ देते।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने परिसंख्या को कृत्रिमता लानेवाला अलंकार कहा है। उनका कहना है—" इस प्रसिद्ध उदाहरण को छोड, हम समझते है, परिसंख्या का शायद ही कोई और उदाहरण इनकी रचनाओं भर में मिले—

दंड जतिन कर भेद जहँ नर्तक नृत्य-समाज।
जीतहु मनहिं सुनिय अस रामचन्द्र के राज।[1]

गोस्वामी जी के अन्य प्रामाणिक एकादश ग्रन्थो में अलंकारो का अन्वेषण मेरा प्रकृत विषय नही है[2], किन्तु जहाँ तक मानस की बात है, इसमें परिसंख्या के अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। अप्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या का उत्तम उदाहरण देखें :

भागेउ विवेकु सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे।
सद्ग्रन्थ पर्वत कंदरन्हि महु जाइ तेहि अवसर दुरे॥

१.८४. छंद

विवेक अपने ज्ञान-वैराग्यादि सहायो सहित भागकर सद्ग्रन्थ रूपी पर्वत की कन्दराओं में छिप गये। विवेक, ज्ञान, वैराग्यादि का अन्य स्थानों से निषेध कर केवल ग्रन्थों मे नियमन करना स्पष्टतः परिसख्या अलंकार है। इस तरह परिसख्या के दो-चार अन्य उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। गोस्वामी जी परिसंख्या के प्रति विलकुल उदासीन हों, ऐसी बात नही। परिसख्या अलकार में भी विशेष प्रकार का सौंदर्य है और जहाँ वह सौंदर्य केवल परिसंख्या के माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकता है, वहाँ उन्होंने अवसर हाथ से जाने नही दिया है।

५ : अर्थापत्ति :

अर्थापत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भोजराज ने सरस्वती-कंठाभरण में किया। उनके अनन्तर प्रायः सभी प्रमुख आलंकारिकों ने इसे मान्यता प्रदान की। विश्वनाथ का कथन है—दडापूपिकान्याय से अन्यार्थ का वोध अर्थापत्ति अलंकार कहलाता है।[3] अर्थापत्ति का सरलार्थ है अर्थ की आपत्ति अर्थात् आपतन—अर्थ का गिर पडना – दूसरे अर्थ का आ जाना। इसे दंड-पूपिका न्याय से व्यक्त किया जाता रहा है। जो चूहा लोहे के कठोर डडे को खा जा सकता है, वह भला आपूपिका-पूए-जैसे कोमल पदार्थ को क्यों न खायगा? इस तरह अर्थापत्ति मे एक अर्थ की सिद्धि का वर्णन किया जाता है। रुय्यक की भी यही परिभाषा है।[4] अप्पय दीक्षित की परिभाषा इन परिभाषाओ से ईषत् भिन्न है। उनके अनुसार जहाँ कैमुत्यन्याय के द्वारा किसी

१ : गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ १६४

२ : परिसंख्या के उदाहरण तुलसी की गीतावली, कवितावली और विनयपत्रिका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते है।

३ : दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते। साहित्यदर्पण, १०/८३

४ : दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः। अलंकार-सर्वस्व, सू० ६४

अर्थ की संसिद्धि हो, वहाँ काव्यार्थापत्ति अलंकार होता है।[1] इस परिभाषा का खंडन पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में किया[2] तथा इसका मंडन कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ ने अलंकारचंद्रिका में किया।[3]

विश्वनाथ ने अर्थापत्ति के दो भेद किये हैं।[4]—

१ : प्रकृत अर्थ से अप्रकृत अर्थ की प्रतीति।

२ : अप्रकृत अर्थ से प्रकृत अर्थ की प्रतीति।

पंडितराज जगन्नाथ ने तो अर्थापत्ति के चौबीस भेद किये हैं। प्रकृत से प्रकृत की, अप्रकृत से अप्रकृत की, प्रकृत से अप्रकृत की तथा अप्रकृत से प्रकृत की प्रतीति। इनमें से प्रत्येक के अर्थान्तर के साथ समानता, न्यूनता, अधिकता—इन तीन भेदों के कारण अर्थापत्ति के भेद हो जाते हैं बारह। उक्त बारह भेद भावत्व और अभावत्व के कारण दो-दो प्रकार के होते हैं—इस प्रकार अर्थापत्ति के चौबीस भेद हो जाते हैं।[5]

मानस में हम अर्थापत्ति के प्रमुख चार भेदों के विनियोग पर विचार करेंगे।

१ : प्रकृत से प्रकृतार्थ-प्रतीति—

राम विरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह विधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

२.१६२

२ : अप्रकृत से अप्रकृतार्थ-प्रतीति—

जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

१.१२.११

३ : प्रकृत से अप्रकृतार्थ-प्रतीति—

सब के हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा।
नदी उमगि अंबुधि कहुँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई॥
जहँ असि दसा जड़न्ह के बरनी। को कहि सकै सचेतन करनी॥

१.८५.१—३

४ : अप्रकृत से प्रकृतार्थ-प्रतीति—

जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥

२.३२.८

जितहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं॥

५.३७.६

---

१ : कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते। कुवलयानन्द, १२०

२. रसगंगाधर, तीसरा भाग, पृष्ठ २८०

३ : कुवलयानन्द, पृष्ठ १८३

४ : अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापादनं। क्वचिदप्राकरणिकात्प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ। साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३५१

५ : रसगंगाधर, तृतीय भाग, पृष्ठ २८५

गोस्वामी जी ने अर्थापत्ति के द्वारा अतिरिक्त अर्थ का आपतन वडी ही कुशलता से कराया है। पात्रों के माहात्म्य-स्थापन एवं उनके अंतर्भाव के उद्घाटन मे अर्थापत्ति ने वडा ही योग दिया है। भरत की ग्लानि इस एक दोहे में जिस अर्थापत्ति-पद्धति से व्यक्त हुई है, वह अन्य रीति से शताधिक पंक्तियों में भी व्यक्त नही हो पाती—

राम बिरोधी हृदय ते प्रगट कीन्ह विधि मोहि ॥
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि ॥

२ १६१

लक्ष्मण की स्वशक्ति पर सहज विश्वास का विज्ञापन इस एक अर्द्धाली में अर्थापत्ति द्वारा देखें—

तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना ॥

१.२५३.६

इस प्रकार मानस से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें पात्रों की आस्था का उच्छल उद्रेक हुआ है।

६ : विकल्प :

विकल्प का सर्वप्रथम उल्लेख रुय्यक ने किया और तव से यह प्रायः सभी प्रमुख आलकारिको द्वारा मान्य रहा।[1] उनकी परिभाषा है—दो समान बलवालों का विरोध विकल्प है।[2] यदि यह औपम्य-निष्ठ हो, तो इनमे चारुत्व होता है।[3] विश्वनाथ भी इसी परिभाषा में 'चातुरीयुतः' जोडकर नयी परिभाषा गढ़ लेते है।[4] विकल्प का साधारण अर्थ है—दो में एक। इस अलकार में था, की, के, कितो आदि रहते है। विकल्प में केवल विकल्प रहने से अलकारत्व नही रहता—जैसे कोई कहे "गाय लो या बैल।" विकल्प के लिए पाँच अनुवंध हैं—

१ : तुल्यबल की वस्तुएँ।
२ : दोनों का ग्रहण एक व्यक्ति द्वारा न हो सके।
३ : व्यक्ति अपनी इच्छानुसार एक का ग्रहण कर सके।
४ : दोनों वस्तुओं में कल्पित सादृश्य हो।
५ : वर्णन में चारुता रहे।

मानस में विकल्प के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण हैं—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न ते रहौं कुंआरी ॥

१.८१ ५

शभु के साथ विवाह और आजीवन कुँआरापन यहाँ तुल्यवल विरोध है। पार्वती के इस विकल्प मे शभु के प्रति उनकी एकनिष्ठा का निर्वाह हुआ है। यही कारण है कि पार्वती कुमारिकाओं की एकमात्र आराध्या वन चुकी हैं।

---

१ : तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलकारः पूर्वैरकृत विवेकोऽत्र दर्शित इत्यवधातव्यम्।
अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ २९२

२ : तुल्यबलविरोधो विकल्पः। — अलकारसर्वस्व, सू० ६५

३ : औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्। — अलंकारसर्वस्व, २पृष्ठ ८९

४ : विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः। — साहित्यदर्पण १०/८४

लक्ष्मण-पत्रिका से एक उदाहरण लें—

की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग ॥

५.५६.१३-१४

लक्ष्मण दूत द्वारा रावण को मौखिक सन्देश भेज रहे हैं। विभीषण की तरह अभिमान छोड़कर श्रीराम के चरण-कमलों में भौंरे की तरह प्रेम करो या उनके बाणों की अग्नि में परिवार-सहित पतंगे की तरह भस्म हो जाओ। इन पंक्तियों में लक्ष्मण का ओज एवं श्रीराम के प्रति उनके अटूट विश्वास का बड़ा ही सुंदर मिश्रण हुआ है। रावण अपने को महाबली मानता है, यह उसकी निरी मूर्खता है। श्रीराम यदि कोप करेंगे, तो वह उनके कोपानल में तुच्छ पतंगे की भाँति जल जायगा।

मानस में विकल्प का विनियोग व्यक्तित्व-संदीपन के लिए हुआ है। विकल्प-पद्धति से दशरथ, परशुराम, लक्ष्मण, सीता तथा पार्वती-जैसे चरित्रों की महनीयता एवं दृढ़ता इस प्रकार व्यक्त की गयी है कि विस्मय-विमुग्ध रह जाना पड़ता है। सीता की चारित्रिक दृढ़ता एवं पतिभक्ति के निरूपण के लिए विकल्प अलंकार आया है—

सो भुज कंठ तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा ॥

५.१६.४

यह भाव केवल इसी पद्धति में व्यक्त किया जा सकता है—अन्य कोई महत्त्वपूर्ण अलंकार यहाँ अपनी सार्थकता खो डालेगा।

### ७ : समुच्चय :

समुच्चय अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है।[1] उनकी परिभाषा उत्तर-कालीन आलंकारिकों को मान्य न हुई। रुय्यक गुण और क्रिया के यौगपद्य तथा कार्य-सिद्धि के लिए एक साधक के रहते हुए साधकान्तर के कथन में समुच्चय मानते हैं।[2] विश्वनाथ इन्हीं शब्दों में थोड़ा परिवर्त्तन कर तथा क्रम उलट कर समुच्चय की परिभाषा देते हुए लिखते हैं जहाँ कार्य के साधक किसी एक के होने पर भी "खलेकपोत" न्याय से दूसरा भी उसी कार्य का साधक हो जाय तथा दो गुणों अथवा दो क्रियाओं अथवा गुण और क्रियाएँ एक साथ वर्णित हों, तो समुच्चय अलंकार होता है[3]।

इस तरह समुच्चय के मुख्यतः दो भाग हुए—

१ : प्रथम समुच्चय—जहाँ खलेकपोत न्याय से एक साधक के रहते हुए दूसरा साधक या अन्य साधकों का कथन किया जाय।

---

१ : सोऽयं समुच्चयः स्याद्यत्रानेकोऽर्थ एकसामान्यः
अनिवादिद्रव्यादिः सत्युपमानोपमेयत्वे। — काव्यालंकार ८/१०३

२ : (क) गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः — अलंकारसर्वस्व, सूत्र ६६
(ख) एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च। — ,, ,, ,, ६७

३ : समुच्चयोऽयमेकस्मिन्सति कार्यस्य साधके
खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये। — साहित्यदर्पण, १०/८४-८५

२ : द्वितीय समुच्चय-जहाँ गुणों, क्रियाओ का एक साथ वर्णन हो।

प्रथम समुच्चय भी तीन प्रकार से संभव हैं[1] :—

१ : सद्योग—कही साधक केवल सद् अर्थात् उत्तम ही होते हैं।

२ : असद्योग—कही साधक केवल असद् अर्थात् अनुत्तम ही होते है।

३ : सदसद्योग—कही साधक सद् और असद् अर्थात् उत्तम और अनुत्तम दोनो होते है।

द्वितीय समुच्चय भी तीन प्रकार से संभव है—

१ : गुण-समुच्चय : अनेक गुणो का एक साथ वर्णन।

२ : क्रिया-समुच्चय : अनेक क्रियाओं का एक साथ वर्णन।

३ : गुण-क्रिया-समुच्चय : अनेक गुणों और क्रियाओं का एक साथ वर्णन।

मानस मे समुच्चय के प्रायः सभी प्रकार प्राप्त हो जाते हैं। प्रत्येक भेद का एक-एक उदाहरण अपने कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा।

प्रथम समुच्चय सद्योग मे—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुं दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥

२.१२४

पिता की आज्ञा, माता की भलाई, भरत की राज्य-प्राप्ति तथा स्वय मुनियो की दर्शन-प्राप्ति इनमें एक-एक राम-वन-गमन के लिए पर्याप्त कारण था, किन्तु यहाँ चारो कारणों या साधको का कथन एक साथ किया गया है। चारों साधक उत्तम हैं। अतः, यहाँ सद्योग में समुच्चय है।

प्रथम समुच्चय असद्योग में—

ग्रह गृहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइय बारुनी कहहु कौन उपचार॥

२.१८०

ग्रह से पकडा जाना, वात-बीमारी में जकड जाना तथा बीछी से काटा जाना—इनमें प्रत्येक दुश्चिकित्स्य है— जहाँ तीनो मिल जाएँ, वहाँ क्या कहना! यहाँ अशोभन पदार्थों का समुच्चय है।

प्रथम समुच्चय सदसद्योग में—

चकित चितव मुंदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥

५.१३.२

यहाँ राम की मुद्रिका पहचानने में हर्ष है जो शोभन है, किन्तु यहाँ यह कैसे आ गयी—ऐसा सोचकर हृदय का आकुलन अशोभन है। अतः यहाँ सदसद्योग में समुच्चय है।

द्वितीय समुच्चय—

गुण-समुच्चय :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कह भरत मातु मुसुकानि॥

२.१४

---

१ : साहित्यदर्पण, पृष्ठ ३६०

काने, खोरे, कुबरे, कुटिल, कुचाली आदि गुण-समुच्चय है।

क्रिया-समुच्चय :

खेद खिन्न छुधित, तृषित, राजा बाजि समेत।
खोजत व्याकुल सरित सर, जल बिनु भयउ अचेत॥

१.१५७

क्षुधित, तृषित, खोजत, अचेत होना आदि क्रियाओं का समुच्चय है।

गुण-क्रिया-समुच्चय :

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि भरत मातु मुसुकानि॥

२.१४४

पूरे दोहे में काना, खोरा, कूबरा—अनेक गुणों तथा जानना और मुसकुराना—अनेक क्रियाओं का समुच्चय वर्णित है।

ऊपर के विवेचन से सुस्पष्ट है कि मानस में समुच्चय के सभी प्रकार सुन्दर ढंग से आ गये हैं। गोस्वामी जी ने लक्षण-शास्त्र की कभी भी सेवा नहीं की, शास्त्र स्वयं ही उनके सेवार्थ आ पहुँचा है।

८ : समाधि।

समाधि वाक्यन्यायमूलक अलंकार है। समाधि का समाहित के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख दंडी ने किया। दंडी के विचार से किसी आरम्भ किए हुए कार्य के सम्पादन के लिए दैवयोग से साधन जुट जायँ, तो समाहित अलंकार होता है।[1] समाधि नाम से सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले भोजराज हैं, किंतु उनकी परिभाषा उत्तरकालीन आलंकारिकों की परिभाषाओं से मेल नहीं खाती।[2] रुय्यक के अनुसार किसी कारण द्वारा आरब्ध कार्य का दूसरे कारणों से सुकर हो जाना समाधि है।[3]

समाधि का अर्थ है—अच्छी तरह से सम्पादन। इसमें कोई कार्य स्वाभाविक रूप से अपने नियत कारण से होता रहता है, किन्तु अकस्मात् अन्य कारण के उपस्थित हो जाने पर कार्य और भी सम्पादित हो जाता है। प्रथम कारण ही कार्य-सिद्धि के लिए पर्याप्त था, किन्तु दूसरा कारण भी गौण रूप से कार्य-सिद्धि को सुगम कर देता है। समुच्चय में अनेक कारण "खले-कपोतन्याय" में जुटते हैं किन्तु समाधि में दूसरा कारण "काकतालीय न्याय" से आ जाता है। समुच्चय में दैवयोग नहीं होता। समुच्चय में सभी कारण मुख्य रहते हैं, किन्तु समाधि में एक कारण मुख्य और दूसरा आकस्मिक कारण गौण रहता है।

राम-वनगमन-प्रसंग से समाधि का एक उदाहरण लें—

सहित समाज साज सब सादें। चले राम बन अटन पयादें॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥

२.३१०.३-४

---

1 : किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्। — काव्यादर्श २।२९८

2 : समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः। — सरस्वती-कंठाभरण, ४।[illegible]

3 : कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः। — अलंकारसर्वस्व, सू० [illegible]

अपने समाज के साथ राम पदत्राण-रहित वन में पर्यटन कर रहे है। उन्हे अपने लोगों के साथ वन-भ्रमण का पर्याप्त उत्साह है, किन्तु जब पथरीली भूमि कोमल हो गयी— साधनान्तर का योग हो गया, तो उनके लिए भ्रमण-कार्य और सुकर हो गया। पृथ्वी चाहे कितनी भी कठोर क्यों न होती, किन्तु राम जब पित्राज्ञा से वन स्वेच्छया आये हैं तो अवश्य चलते। किन्तु, जब पृथ्वी कोमल हो गयी, तो फिर यह कार्य और भी सुकर हो गया। इस आकस्मिक साधनान्तर में जड पदार्थ में उमडी हुई सहानुभूति का भी गोस्वामी जी ने प्रकारान्तर से दिग्दर्शन कराया है।

लंका-दहन-प्रसंग से एक और उदाहरण ले लें—

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघुरूप तुरंता॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भई सभीत निसाचर नारी॥
हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास॥

५.२५.८-११

हनुमान की पूँछ में इतना वस्त्र लपेटा गया है और घी डाला गया है कि कवि ने लिखा— 'रहा न नगर वसन घृत तेला'। और उसमें आग लगा दी गयी। कपि किसी बंधन में नही रहे। जब वे बंधन तोडकर धधकती पूँछ लेकर अटारियों पर चढ़ गये, तो संपूर्ण लंका को जला डालने के लिए वही साधन पर्याप्त था। किन्तु जब दैवी प्रेरणा से उनचासों पवन चलने लगे, तो सोने की लंका का छार-खार हो जाना तो और भी सुगम हो गया। इस तरह लंकादाह में उन्होंने 'समाधि' अलंकार का बडा ही उत्तम प्रयोग किया है।

## (ग) लोकन्यायमूलक अलंकार

### १: प्रत्यनीक :

प्रत्यनीक लोकन्यायमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। रुद्रट की परिभाषा उत्तरकालीन आलंकारिकों को मान्य न रही।[1] रुय्यक के अनुसार प्रतिकार करने में समर्थ न होने पर उसके संबंधी का तिरस्कार प्रत्यनीक अलंकार है।[2] इस अलंकार मे दुर्बल प्रतिपक्ष को जीत लेना चाहता है, किन्तु ऐसा करने मे अपने को असमर्थ पाकर सबल प्रतिपक्ष के किसी सबंधी का तिरस्कार करता है। इस तिरस्कार में द्वितीय पक्ष का उत्कर्ष-वर्द्धन ही होता है। भिखारीदास ने मित्रपक्ष वालो से मित्रता-संपादन मे भी प्रत्यनीक अलंकार माना है।[3] जिस प्रकार प्रत्यनीक के प्रथम भेद मे शत्रुपक्षीय व्यक्ति का अनादर कर शत्रुपक्ष का महत्त्व बढ़ता है, उसी तरह इसके द्वितीय भेद में मित्रपक्षीय व्यक्ति के साथ प्रेम-प्रदर्शन करने मे मित्रपक्ष का महत्त्व बढ़ता है।

---

१: वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्। काव्यालंकार ८।९२

२: प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीय तिरस्कार' प्रत्यनीकम्। अलंकारसर्वस्व, सू० ६६

३ सत्रु मित्र के पच्छ तें किये वैर औ हेत।
प्रत्यनीक भूषन कहैं जे हैं सुमति सचेत॥ काव्यनिर्णय–१६वाँ उल्लास, ३७ वाँ दोहा।

प्रथम प्रत्यनीक का उदाहरण मानस से देखें—

नहि चितव जब करि कोप कपि गहि दसन लातन्ह मारहीं ॥
धरि केस नारि निकारि बाहर ते अतिदीन पुकारहीं ॥

६.८५.६-१०

जब वानर-भालु रावण का प्रतिकार करने में असमर्थ हो जाते हैं, तो वे उनकी नारियों का केशकर्षण कर घर से बाहर निकालते हैं। यहाँ शत्रु का तिरस्कार करने में असमर्थ बंदर-भालु रावण के संबंधी का तिरस्कार कर रहे हैं। इस वर्णन में रावण की ब्रतनिष्ठा का पता चलता है। इस प्रकार—

रावन दूत हमहि सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हेउ दुख नाना ॥

५.५४.३

इसमें प्रथम प्रत्यनीक है।

द्वितीय प्रत्यनीक—प्रधान मित्र या काम्य व्यक्ति को न पाकर उसके पक्षवालों के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में भी प्रत्यनीक होता है, ऐसी चर्चा पूर्वतः हो चुकी है।

हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी ॥

५.१४.१

श्रीराम को साक्षात् न पाकर उनके सेवक से उनकी मुलाकात हुई। श्रीराम का सेवक जानकर हनुमान के प्रति प्रीति अत्यंत गाढ़ी हो गयी। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये तथा उनके रोम-रोम पुलकित हो गये। इस प्रकार दासोक्त मित्रपक्षीय प्रत्यनीक का यह सुंदर उदाहरण है।

करि प्रनामु तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आपु उठि लीन्ही ॥

१.२९०.३

राजा दशरथ के यहाँ उनके मित्र जनक का दूत आया हुआ है। अपने मित्र का दूत जान कर राजा दशरथ ने प्रसन्न होकर स्वयं अपने हाथों से दूत का पत्र लिया। इस तरह यहाँ भी मित्रपक्षीय प्रत्यनीक स्पष्ट है।

२ : प्रतीप :

प्रतीप लोकन्यायमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। रुद्रट के अनुसार उपमेय की अतिस्तुति करने के लिए उसकी तुलना उपमान से करते हुए उसकी दुरवस्था की स्तुति अथवा निन्दा किये जाने में प्रतीप अलंकार है।[1] रुद्रट की परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं। कदाचित् यही कारण है कि उनकी परिभाषा उत्तरकालीन आलंकारिकों को मान्य नहीं। अप्पय दीक्षित की परिभाषा है—'जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाय, वहाँ प्रतीप अलंकार होता है।[2] अप्पय दीक्षित के अनुसार ही प्रतीप के पाँच भेद हैं—

१ : यत्रानुकम्पवते समधुरमानं निन्दितं वापि
उपमेयमतिस्तोतुं दुरवस्थमिति प्रतीपं स्यात् । काव्यालंकार, ८।७६

२ : प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । कुवलयानन्द, १२

३ : कुवलयानन्द, १० से १६ तक

१ : जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया जाय।

२ : जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाकर वास्तविक उपमेय का अनादर किया जाय।

३ : जहाँ प्रसिद्ध उपमेय को उपमान बनाकर प्रसिद्ध उपमान का अनादर किया जाय।

४ । जहाँ उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कहा जाय।

५ । जहाँ उपमान का कैमर्थ्य अर्थात् वैयर्थ्य बताया जाय।

मानस में प्रतीप के पाँचों भेदो के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं :

प्रथम प्रतीप :—

बिदा किये विनय करि फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाये जमुन जल जो सरीर सम स्याम।

२.१०६

जमुन जल (उपमान) का शरीर (उपमेय) के सदृश कहने में प्रथम प्रतीप है। यहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना दिया गया है। राम के शरीर में ऐसी मोहक श्यामता है कि उसने अपना उपमेत्वय त्याग कर उपमानत्व ग्रहण कर लिया है। एक दूसरा उदाहरण लें—

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुखु पावा॥

१.२३७.७

सीता के मुख में इतनी अधिक सुन्दरता है कि उसके समक्ष चाँद-जैसे रूढ उपमान को उपमेय बनाना पडा। चाँद यदि सीता के मुख की समता नही करता, तो शायद चन्द्रदर्शन के पश्चात् राम को सुख भी नहीं मिलता। सीता के अपरूप रूप की सहज व्यंजना के लिए कवि ने प्रतीप-पद्धति अपनायी है।

द्वितीय प्रतीप :—

नाघहिं खग अनेक बारीसा। सुर न होहिं सुनु सब कीसा॥

६.२८.२

प्रथमत : उपमेय 'कीस' का 'खग' से तुलना की जाती है। पुन: 'सूर न होहिं' द्वारा 'कीस' का अनादर किया जाता है। इसलिए यहाँ द्वितीय प्रतीप है। इस कथन में रावण की वाक्पटुता प्रदर्शित होती है।

तृतीय प्रतीप :—

भूपति भवनु सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥

२.६० ७

यहाँ प्रसिद्ध उपमान 'सुरपति-भवन' का अनादर किया जा रहा है। इसलिए तृतीय प्रतीप हैं। इसके द्वारा गोस्वामी जी राजा दशरथ के राजभवन के सर्वाधिक सौदर्य का परिज्ञान कराना चाहते है।

चतुर्थ प्रतीप :—

सीता और राम के सौदर्य-वर्णन में चतुर्थ प्रतीप का सर्वाधिक उपयोग किया गया है। यथा—सीता-सौदर्य-वर्णन मे—

बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाही॥

१.२३७.८

सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥

१.२३०.८

राम रूप-वर्णन—

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥

१.२२० ६-८

पंचम प्रतीप :—

पंचम प्रतीप का भी उपयोग रूप-वर्णन के प्रसंग में अधिकतर हुआ है। यथा—

तड़ित बिनिंदक पीत पट उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेत जनु जमुन भँवर छबि छीनि॥

१.१४७

अथवा

जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥

१.२३७

गोस्वामी जी के पात्रों में परंपरित उपमानों से कुछ अधिक वैशिष्ट्य एवं वैलक्षण्य है, इसलिए उनके काव्य में प्रतीप-प्रयोग का पर्याप्त अवसर मिला है। इन वर्णनों में प्रतीप-पद्धति से जहाँ सीता और राम का रूप-वर्णन हुआ है, वे स्थल तो सचमुच गोस्वामी जी की नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा के अमर स्फटिक-स्मारक बन गये हैं।

## ३ : मीलित :

मीलित लोकन्यायमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया।[1] रुद्रट की परिभाषा से ही प्रभाव ग्रहण कर मम्मट ने लिखा कि जिसमें किसी वस्तु का दूसरी वस्तु के द्वारा स्वाभाविक अथवा आगन्तुक चिह्न के द्वारा निगूहन वर्णित हो, वहाँ मीलित अलंकार होता है।[2] विश्वनाथ के अनुसार किसी अनुरूप वस्तु के द्वारा किसी दूसरी वस्तु का छिप जाना मीलित अलंकार कहलाता है।[3]

मीलित का साधारण अर्थ है मिल जाना। मीलित में एक वस्तु दूसरी वस्तु से इस भाँति मिल जाती है कि दोनों का पृथक् स्वरूप दृष्टिगत ही नहीं होता। मानस में मीलित का प्रयोग कम हुआ है।

बेनु हरित मनि मय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहि चीन्हे॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई। लखि नहि परै सपरन सुहाई॥

१.२८८ १-२

---

१ : तन्मीलितमिति यस्मिन्समानचिह्नेन हर्षकोपादि
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि। काव्यालंकार, ७/१०६

२ : समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम्। काव्यप्रकाश, १०/१३०

३ : मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित् तुल्यलक्ष्मणा। साहित्यदर्पण, १०/९१

यहाँ मीलित अलंकार द्वारा राजा जनक के कलाकारों की अद्‌भुत कलाकारिता को व्यंजित करना कवि का लक्ष्य दीखता है।

### ४ : सामान्य :

सामान्य लोकन्याय-मूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख मम्मट ने किया। मम्मट के अनुसार गुणों की समता प्रदर्शित करने की इच्छा से प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अभेद वर्णन सामान्य अलंकार कहलाता है।[1] रुय्यक किंचित् और सरलीकृत परिभाषा प्रस्तुत करते हैं— 'प्रस्तुत की अप्रस्तुत के साथ गुणसाम्य के कारण एकात्मता सामान्य अलंकार कहलाता है।[2]

समान गुणों के कारण एकात्मकता का वर्णन होने से इस अलंकार की सामान्य संज्ञा है। इस अलंकार में हीरे और स्फटिक की तरह अभेद दर्शित होता है। निषेध नहीं रहने के कारण यह अपह्नुति से भिन्न है। मीलित अलंकार में अनुरूप वस्तु के द्वारा किसी दूसरी वस्तु का निगूहन होता है तथा तद्‌गुण में निकृष्ट गुणवाली वस्तु उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु का गुण ग्रहण कर लेती है। अतः, इन सभी अलंकारों के क्षेत्र स्पष्ट रूप से पृथक् हैं।

मानस में सामान्य अलंकार के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। यहाँ पर एक-दो उदाहरण पर्याप्त होंगे -

भरतु रामहीं की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥
लखनु सत्रुसूदन एक रूपा। नख-सिख ते सब अंग अनूपा॥
१.३११.६—७

भरत-राम तथा लक्ष्मण-शत्रुघ्न समान रंग-रूप के कारण सहसा पहचान में नहीं आते। इसी अन्यूनानतिरिक्त वर्णित रूप-रंग का यह प्रभाव है कि भरत-शत्रुघ्न के चित्रकूट-गमन-काल में सखियाँ उन्हें राम-लखन से भिन्न मानने मे कठिनाई का अनुभव कर रही हैं। वे कहती हैं—

कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। रामु लखनु सखि होंहि कि नाहीं॥
बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली॥
२.२२१.१—२

### ५ : तद्‌गुण :

तद्‌गुण लोकन्यायमूलक अलंकार है जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है[3], किन्तु उनकी परिभाषा बहुत स्पष्ट नहीं है। विश्वनाथ का कथन है, "अपने गुणों को छोड़कर अत्यंत उत्कृष्ट गुणवाली दूसरी वस्तु के गुण का ग्रहण तद्‌गुण अलंकार है।[4] तद्‌गुण का शाब्दिक अर्थ दूसरे का गुण तद् (उसका) गुण। मीलित में प्रकृत वस्तु का दूसरी वस्तु से आच्छादन होता है, किन्तु तद्‌गुण में दूसरी वस्तु के गुणों से प्रकृत वस्तु आक्रान्त प्रतीत होती है, वस्तु से नहीं।[5]

---

१ : प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया
ऐकात्म्य बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम्। काव्यप्रकाश, १०/१३४
२ : प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्। अलंकारसर्वस्व, सू० ७२
३ : यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम्।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्‌गुणः स इति। काव्यालंकार, ९/२२
४ तद्‌गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रह :। साहित्यदर्पण, १०/ ०
५ : मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्।
इह नु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदाः। साहित्यदर्पण, पृष्ठ ६३

मानस में तद्गुण के कुछ बड़े अच्छे उदाहरण प्राप्त होते हैं—

सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥

१.३.६

अर्थात् निकृष्ट गुणवाली वस्तु पारस अर्थात् उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु का गुण-ग्रहण कर लेती है—सठ सतों के साथ रहकर बुराई छोड़कर भलाई ग्रहण कर लेता है। इस तरह पूरी अर्द्धाली में तद्गुण अलंकार है।

भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। राम कथा जगमंगल करनी॥

१.१०.१०

रामचरित्र के संस्पर्श से निकृष्ट कविता भी मंगलविधायिनी बन जाती है, अतः तद्गुण है।

गोस्वामी जी ने मानस में जहाँ कहीं भी तद्गुण का प्रयोग किया है, वहाँ उनका अभीष्ट सगति-माहात्म्य दिग्दर्शित करना है।

### ६ : अतद्गुण :

अतद्गुण लोकन्यायमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख मम्मट ने किया है। उनके अनुसार अत्यंत उत्कृष्ट गुणवाली समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी न्यून गुणवाली वस्तु का गुणाननुसरण अतद्गुण अलंकार है।[1] रुय्यक के अनुसार कारण रहने पर भी उत्कृष्ट गुण का अनुहरण न करना अतद्गुण है।[2]

मानस से अतद्गुण के एक-दो उत्कृष्ट उदाहरण लें—

बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

१.३.१०

सुजन कुसंगति में पड़कर भी कुसंगति का अवगुण नहीं ग्रहण करता, जैसे विषैले साँप के मस्तक पर रहकर मणि भी विषाक्त नहीं होती।

तुलसी चन्दन विटप बसि विष नहिं तजत भुजंग।

भुजंग चन्दन-विटप पर रहकर भी अपना विष नहीं त्यागता। इस प्रकार यहाँ अतद्गुण स्पष्ट है।

### ७ : उत्तर :

उत्तर लोकन्यायमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम निर्देश रुद्रट ने किया।[3] मतिराम और पद्माकर आदि ने इसका नाम गूढ़ोत्तर तथा भूषण और दास आदि ने इसका नाम प्रश्नोत्तर दिया है। मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—उत्तर के श्रवण-मात्र से ही जहाँ प्रश्न की कल्पना की जाती है अथवा अनेक प्रश्नों के अनेक असंभाव्य उत्तर दिये जाने को उत्तर अलंकार कहते हैं।[4] मम्मट की परिभाषा से ही उत्तरालंकार के दो भेद हो जाते हैं। अप्पय दीक्षित

१ : तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः। — काव्यप्रकाश १०/१३८

२ : सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः। — अलंकारसर्वस्व, सू० ७४

३ : उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्
क्रियते तदुत्तरं स्यात्प्रश्नादप्युत्तरं यत्र। — काव्यालंकार, ७/९३

४ : उत्तरश्रुतिमात्रतः
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति
असकृदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम्। — काव्यप्रकाश १०/१२१

ने उत्तरालकार का एक प्रकार चित्रोत्तर माना।[1] यदि प्रश्नवाक्य से ही उत्तर निकल जाय अथवा अनेक प्रश्नों का एक हो उत्तर दिया जाय, तो उसे भी उत्तर अलकार कहते हैं।

इस प्रकार उत्तर अलंकार के तीन भेद हुए—

१ : जहाँ उत्तर से ही प्रश्न की कल्पना की जाय,

२ : जहाँ अनेक प्रश्नों के अनेक असंभाव्य उत्तर दिये जायँ और

३ : जहाँ प्रश्न-वाक्य से ही उत्तर निकले अथवा अनेक प्रश्नो का एक ही उत्तर हो।

प्रथम उत्तर :—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महु जीभि विचारी ॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा ॥
तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं ॥

६.७.१ ३

यहाँ विभीषण के उत्तर से ही उनकी वास्तविक दशा के बारे मे प्रश्न प्रस्तुत हो जाता है।

द्वितीय उत्तर :—

अनेक प्रश्नो के अनेक अप्रसिद्ध उत्तर देने में बुद्धि-प्रखरता की आवश्यकता पड़ती है। इसका सुन्दर विनियोग रावण-अंगद-प्रसग मे हुआ है।

अंगद के प्रश्न हैं—

कहु रावन रावन जग केते। मैं निज श्रवण सुने सुनु जेते ॥
बलिहि जितन एक गएउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला ॥
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई ॥
एकु बहोरि सहसभुज देखा। धाई धरा जिमि जंतु बिसेषा ॥
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोडावा ॥
एक कहत मोहि सकुच अति रहा बालि की काँख।
इन्ह महुँ रावन तैं कवन सत्य बदहि तजि माख ॥

६.२४ १२-१८

रावण के उत्तर है—

सुनु सठ सोइ रावनु बलसीला। हिमगिरि जान जासु भुजलीला ॥
जान उमापति जासु सुराई। पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई ॥
सिर सरोज निज करन्हि उतारी। पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी ॥
भुज विक्रम जानहिं दिगपाला। सठ अजहूँ जिन्ह के उर साला ॥
जानहिं दिग्गज उर कठिनाई। जब जब भिरौं जाइ बरिआई ॥
जिन्ह के दसन कराल न फूटे। उर लागत मूलक इव टूटे ॥
जासु चलत डोलति इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिम लघु तरनी ॥
सोइ रावनु जग विदित प्रतापी। सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी ॥

---

१ : प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते। कुवलयानन्द, १५०

तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर कहसि बखान ।
रे कपि बर्बर खर्ब खल अब जाना तव ग्यान ।।

६.२५.१-१०

अंगद के प्रश्न की धारा रावण के उत्तर में मोड़ दी गयी है ।

तृतीय उत्तर :—

पूछत अति सनेह सकुचाई । तात कहाँ तें पाती आई ।।

१.२९०.८

भरत ने दशरथ से प्रश्न किया है कि यह पाती कहाँ से आई है । इन्हीं शब्दों में दशरथ का उत्तर भी मिल जाता है —'तात' अर्थात् श्रीराम के यहाँ से पाती आयी है ।

गूढ़ोत्तर को भी उत्तरालकार के अतर्गत ही मानना चाहिए । सुमति[1] ने इसका उल्लेख स्वतंत्र रूप से किया है, किन्तु अप्पय दीक्षित ने उत्तर अलंकार के क्रम में ही गूढ़' शब्द का प्रयोग किया है ।[2] जहाँ गूढ़ अभिप्राय से किसी से कुछ कहा जाय, वहाँ गूढ़ोत्तर अलंकार होता है । यह दो प्रकार से संभव है — १ : अप्रश्नानन्तर गूढ़ोत्तर और २ : प्रश्नानन्तर गूढ़ोत्तर ।

रामचरितमानस में द्विविध गूढ़ोत्तर के रमणीय उदाहरण प्राप्त होते हैं—

तात जनकतनया यह सोई । धनुषजग्य जेहि कारन होई ।।
पूजन गौरि सखीं लै आई । करत प्रकासु फिरइ फुलवाई ।।
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।।
सो सबु कारन जान बिधाता । फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता ।।

१.२३१.१-४

यहाँ लक्ष्मण के विना पूछे ही राम ने यह बतला दिया है कि सीता के साथ मेरा विवाह होनेवाला है । प्रश्न पूछने के पश्चात् गूढ़ोत्तर का उदाहरण राम-वन-गमन प्रसंग से देखें । ग्राम-वधूटियों के पूछने पर सीता का गूढ़ उत्तर देखें—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नामु लखनु लघु देवर मोरे ।।
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि । निज पति कहेउ तिन्हहिं सियँ सयननि ।।

२.११७.५-७

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर अलंकार का उपयोग गोस्वामी जी ने पहेली बुझाने के लिए नहीं, वरन् सुन्दर काव्य-निर्माण के लिए किया है ।

●●

---

१ : देखें—सुमति ग्रन्थावली

२ : किंचिदाकूतसहितं स्याद् गूढोत्तरमुत्तरम् । कुवलयानन्द, पृ० [illegible]

# ६

# शृङ्खलामूलक अलंकार एवं गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकार

## (क) शृंखलामूलक अलंकार :

### १ : कारणमाला :

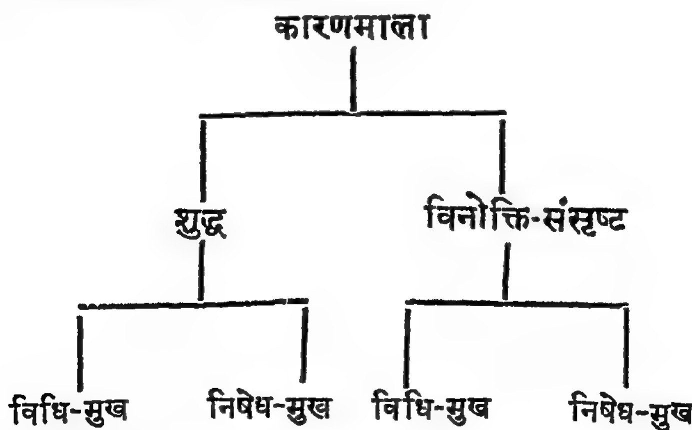
कारणमाला शृंखलामूलक अलंकार है। इस अलंकार में शृंखला-अनुगुणता के कार्य-कारण भाव पर ध्यान दिया जाता है। इसे गुम्फ भी कहा गया है। ईसा की नवी शताब्दी के पूर्व इस अलंकार का उल्लेख नही मिलता। इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने काव्यालकार में किया। उनके अनुसार जहाँ अर्थों के बीच पूर्ववर्त्ती अर्थ परवर्त्ती अर्थ का कारण बन जाता है। और यह पद्धति आगे भी निभती जाती है, तो कारणमाला अलंकार होता है।[1] मम्मट[2] ने इसे इस प्रकार कहा—'जहाँ अगले-अगले अर्थ के प्रति पहले-पहले अर्थ हेतु-रूप में वर्णित हो, वहाँ कारणमाला अलकार होता है। आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि यदि पूर्व-पूर्व वर्णित पदार्थों के कारण रूप में आवे, तो कारणमाला अलंकार होता है।[3] रुद्रट, मम्मट तथा विश्वनाथ ने एक ही प्रकार की कारणमाला का निर्देश किया है, किन्तु जगन्नाथ ने एक दूसरे प्रकार की कारणमाला बतलायी है। वह है—जहाँ पूर्व-पूर्व कार्य और पर-पर कारण हो।[4]

इस प्रकार दो प्रकार की कारणमाला होती है—

१ : जहाँ पूर्व-पूर्व कारण हो और पर-पर कार्य हों और

२ : जहाँ पूर्व-पूर्व कार्य हो और पर-पर कारण हों।

कारणमाला कहीं तो शुद्ध होती है और कही विनोक्ति-संसृष्ट। ये दोनो भी कही विधि-मुख से कही जाती है और कही निषेध-मुख से।




---

१ कारणमाला सेय यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्
अर्थानां पूर्वार्थाद्भवतीद सर्वमेवेति। — काव्यालंकार, ८४

२· यथोतरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्। — काव्यप्रकाश, १०।१८६

३· पर पर प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता तदा कारणमाला स्यात्। — साहित्यदर्पण, १०/७६

४. रसगंगाधर, तृतीय मार्ग, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ २१२,

धर्म से विरति होती है। विरति से ज्ञान होता है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है। धर्म कारण है, विरति कार्य। अब यही कार्य विरति कारण हो गया है। इस तरह इस उदाहण मे पूर्व-पूर्व वर्णित पदार्थ कारण और पर-पर वर्णित पदार्थ कार्य। अतः यहाँ पूर्व-पूर्व कारण और पर-पर कार्य वाली शुद्ध विधिमुख से वर्णित कारणमाला हुई।

विनोक्ति-संसृष्ट कारणमाला का एक उदाहरण देखें।—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥

७.९०

यह कारणमाला विधिमुख से नहीं, वरन् निषेध रूप से आयी है।

ऐसी कारणमाला जहाँ पूर्व-पूर्व कार्य हो और पर-पर कारण, रामचतिमानस में देखने को नहीं मिलती।

२ : एकावली :

'एकावली' शृंखलामूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया। उनके अनुसार जिस अलंकार में अर्थों की परम्परा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रखी जाती है, उसे एकावली अलंकार कहते हैं। इसमें आगे आनेवाला अर्थ अपने से पूर्ववर्त्ती अर्थ का विशेषण होता है। इस अलंकार में कही विधि-रूप से और कही निषेध-रूप से वर्णन होता है।[1] विश्वनाथ ने इसे ही स्पष्ट करते हुए लिखा है—पूर्व-पूर्व के प्रति पर-पर वस्तु का विशेष रूप में स्थापन या निषेध करें, तो एकावली अलंकार होता है।[2] अप्पय दीक्षित की परिभाषा है—

"जहाँ अनेक पदार्थों की श्रेणी इस तरह निबद्धकी जाय कि पूर्व-पूर्व पद का उत्तरोत्तर पद के विशेषण या विशेष्य के रूप मे ग्रहण या त्याग किया जाय।"[3] इस बात में रुद्रट और विश्वनाथ से अप्पय दीक्षित भिन्न मालूम होते हैं कि वे पूर्व-पूर्व के प्रति पर-पर वस्तु के विशेषण भाव में ही एकावली नहीं मानते, वरन विशेष्य भाव में भी एकावली मानते हैं। इसका समर्थन जगन्नाथ ने भी किया है।[4] एकावली के प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इसमें केवल विशेष्य-विशेषण का ही संबंध नहीं, अन्य प्रकार के संबंध भी हो सकते हैं। कारणमाला में कारण-कार्य की शृंखला रहती है, एकावली में कारण-कार्य-सम्बन्ध-रहित पदों की शृंखला रहती है।[5]

एकावली का एक उदाहरण मानस से देखें—

गृहि कें हृदय बस जानकी-जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सबकर नास है॥

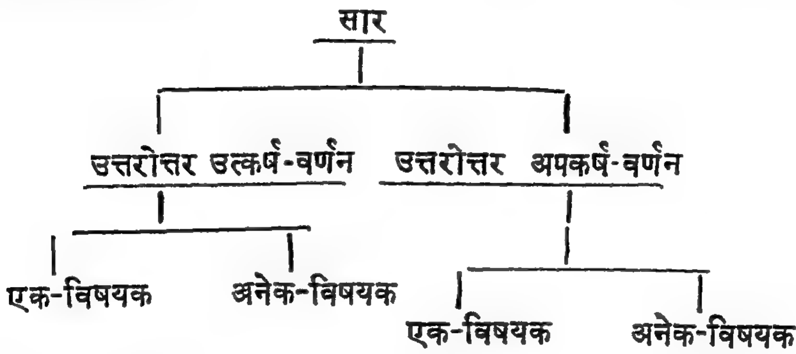
६.६६ के पूर्व छन्द

## ३ : सार :

**परिभाषा और विवेचन**

सार शृंखलामूलक अर्थालंकार है जिसके उद्‌भावन का श्रेय रुद्रट को प्राप्त है। रुद्रट के अनुसार जहाँ समुदाय में से एक देश को क्रम से पृथक् करके गुण सम्पन्न होने से उसकी उत्कृष्टता की चरम सीमा निर्धारित की जाती है, वहाँ सार अलंकार होता है।[1] पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन सार है—ऐसा रुय्यक स्वीकारते है।[2] मम्मट[3] और विश्वनाथ[4] उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्णन में ही सार मानते है, किन्तु जगन्नाथ[5] उत्तरोत्तर अपकर्ष-वर्णन में भी सार की अवस्थिति मानते हैं। इसका भी वे पुनः दो भेद करते हैं—१ : एक-विषयक और २ : अनेक-विषयक।[6]

इस तरह सार[7] के चार भेद हैं—




रामचरितमानस से इनके उदाहरण देखें—

१ : एकविषयक-उत्कर्ष-वर्णन—

**क : पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान-प्रान के जीवन जी के॥**

२.५६.७

यहाँ एक राम का प्रियत्व रूप धर्मोत्कर्ष वर्णित है।

**ख : एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।**
**संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥**

१.१४४

**बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥**

१.१४५.१

इसमे पार्वती की ही कठिन साधना मे बिताये गये वर्षों का उत्कर्ष वर्णित है।

---

१ : यत्र यथासमुदायाद्‌यथैकदेश क्रमेण गुणवदिति
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद्भवेत्सारम्। काव्यालकार ७/९६

२ : उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः। सू० ५९

३ : उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः काव्यप्रकाश १०/१२३

४ : उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। साहित्यदर्पण १०/७९

५ : रसगंगाधर, खंड ३, पृ० २२२-२२३

६ : „ „ „

७ : सार को अलंकार-सर्वस्व के एक संस्करण में 'उदार' भी लिखा मिलता है। किसी-किसी आलंकारिक ने इसे 'उत्तरोत्तर' भी कहा है।

२ : अनेक-विषयक-उत्कर्ष-वर्णन—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय विमुख बिराग रत होई॥
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥
ज्ञानवंत कोटिक महुं कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी॥
धर्मसील विरक्त अरु ज्ञानी। जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

७.५४.१-७

हजार मनुष्यों में कोई एक धार्मिक मनुष्य, करोड़ो धर्मशीलों में विषयो से विरागी, विषयों से विरागी करोड़ों मनुष्यों में सम्यक् ज्ञानी...आदि अनेक विषयो का उत्कर्ष वर्णित है।

३ : एक-विषयक अपकर्ष-वर्णन—

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारण मुनि मैं येह जिय जानि॥

३.४४

यहाँ एक ही नारी को अवगुण का मूल, कष्ट देने वाली तथा सभी दुखों की खान बताया गया है।

४ : अनेक-विषयक अपकर्ष-वर्णन—

अधम तें अधम अधम अति नारी। तिन्ह मैं मतिमन्द अघारी॥

३.३५ ३

यहाँ नारियों तथा उसमें एक शबरी—अनेक विषयो को लेकर अपकर्ष वर्णित है।

गोस्वामी जी के अनेक पात्र अवसर-अवसर पर अपनी आत्यंतिक दीनता प्रकट करना चाहते हैं। कही उनके पात्र एक दूसरे की अतिशय उत्कृष्टता व्यक्त करना चाहते है तथा कहीं वे अपना भक्ति-संवलित-सिद्धान्त निरूपित करना चाहते हैं। ऐसे अवसर पर सामान्य कथन मनोनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। अलंकारों में भी सादृश्यमूलक तथा विरोधमूलक अलंकार बहुत उपयुक्त नहीं होते। ऐसे स्थलों मे शृंखलामूलक अतिशय-गर्भ सार उपस्थित होता है। सार चरित्रों के सार या गोस्वामी जी के सिद्धान्तों का सार जिस उत्तम रीति से अभिव्यक्त कर पाता है, उस रीति से अन्य अलंकार नहीं। शबरी के प्रपन्न भाव को व्यक्त करने के लिए अधम शब्द का तीन बार प्रयोग[1] तथा राम की सर्वजन-प्रियता को हृदयंगम कराने के लिये माता कौशल्या द्वारा 'प्रान प्रान के' तथा 'जीवन जी के' कहलाना सार रीति के सिवा संभव नहीं था। इन दोनों स्थलों पर इस अलंकार ने चरित्र के आत्मदर्शन एवं परदर्शन को भली-भाँति उजागर किया है।

गोस्वामी जी प्रथम श्रेणी के भक्त हैं। भक्त सर्वोपरि है—इसे वे किसी पात्र से कहला सकते हैं, एक सरल अर्द्धाली या चरण द्वारा कह सकते थे, किन्तु वे इसे स्वयं भक्तवत्सल भगवान के श्रीमुख से कहलाते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब तें अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥

१ : ३.३५.३
२ : ७.८६.७

तिन्ह मह प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहुतें अति प्रिय बिज्ञानी ।।
तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसर आसा ।।

७.८६.४-७

अपने द्वारा निर्मित चराचर सृष्टि मे मनुष्य, चतुर्वर्ण मनुष्यो मे ब्राह्मण, ब्राह्मणो मे वेदज्ञ, वेदज्ञ ब्राह्मणो में आचरणनिष्ठ, आचरणनिष्ठ वेदज्ञ ब्राह्मणो मे विरागी, वेदज्ञ आचरणनिष्ठ विरागी ब्राह्मणो में तत्त्वदर्शी, वेदज्ञ आचरणनिष्ठ विरागी तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों मे अपरोक्ष तत्त्वदर्शी तथा वेदज्ञ आचरणनिष्ठ विरागी ज्ञानी विज्ञानी ब्राह्मणो में मेरा अनन्य सेवक ही मुझे प्रिय है। इस अनुक्रम के द्वारा गोस्वामी जी ने भगवान् के द्वारा भक्त को उस शिखर पर पहुँचा दिया है, जिससे ऊँचा शिखर कोई है नही। इस शृंखला पर गभीरतारहित दृष्टि से भी विचार करने पर मनुष्य के मन मे यह आस्था बद्धमूल हो जाती है कि भगवान् को वेदज्ञो, विरागियो, ज्ञानियो और विज्ञानियो मे सर्वाधिक प्रिय सर्वतोभावेन समर्पण करने वाला भक्त है। ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए जब वेद, वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान तथा भक्ति मार्ग हैं, तो क्यो नहीं भक्ति-मार्ग का ही अवलबन किया जाय, जिसे प्रभु स्वयं अपने श्रीमुख से सर्वोत्कृष्ट बतलाते है। इस तरह सार ने भक्तिभाव को दृढ़ करने मे अपनी उपयुक्तता ही नही, वरन् अनिवार्यता सिद्ध की है। इस स्थल पर प्रतियोगिता के लिए चाहे जो अलंकार आ जाय, बाजी तो सार की ही रहेगी, इसमे कोई सदेह नहीं।

## (ख) गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार :

### १ : सूक्ष्म :

सूक्ष्म गूढार्थ प्रतीतिमूलक अर्थालंकार है। यह बहुत प्राचीन काल से आता हुआ अलंकार है, किन्तु इसके उद्भावक अज्ञात हैं—ऐसा भामह ने लिखा है। भामह इसे अलंकार नही मानते; क्योकि इसमे वक्रोक्ति का अभाव है।[1] किन्तु उनके परवर्ती दंडी तो सूक्ष्म को वाणी का उत्तम भूषण मानते हैं।[2] इस प्रकार जितने भी प्रख्यात आलकारिक हैं, सभी ने अपने ग्रंथो में सूक्ष्म का सोदाहरण विवेचन किया है। विश्वनाथ का कथन है—"आकार अथवा चेष्टा से पहचाना हुआ सूक्ष्म अर्थ जहाँ किसी युक्ति से सूचित किया जाय, वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है।"[3]

सूक्ष्म अपनी संज्ञा की सार्थकता इस प्रकार रखता है कि यह स्थूलमतियो से असंलक्ष्य रहता है। वस्तुतः सूक्ष्म से संकेत द्वारा ही प्रश्नोत्तर या ज्ञान-पुनर्ज्ञान की प्रक्रिया चलती रहती है—उदाहरण के लिए मानस की एक अर्द्धाली देखें –

विनय प्रेमबस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसकानी ।।

१ २३६.५

सीता भवानी को माला पहिनाना चाहती हैं किन्तु श्रीराम के प्रति आकर्षण के कारण उनमें कम्प सात्त्विक भाव का उदय होता है जिससे हाथ कॉपने लगते हैं और माला गले में न

---

१ : हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालकारतया मतः
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः। — काव्यालकार २/८६

२ : हेतुश्च सूक्ष्मलेशौच वाचामुत्तमभूषणम्। — काव्यादर्श २/२३५

३ : सलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्गया यत्र सूक्ष्मं यदुच्यते। — साहित्यदर्पण १०/९१

पड़कर नीचे गिर जाती है। माला गिरने का अभिप्राय पार्वती समझ जाती हैं और इसे अपनी मुस्कुराहट द्वारा व्यक्त कर देती है।

यह मुस्कुराहट ही सीता के नवोदित प्रेम एवं तज्जनित आकुलता के रहस्य के सारे गवाक्ष खोल देती है। जिस जगज्जनी सीता के एक-एक अंश से अनगिनत लक्ष्मी, पार्वती और ब्रह्माणी जन्म लेती हैं, उसी सीता की प्रेम में यह दशा हो रही है—मुस्कुराहट यह रहस्य खोलती है। जिनके अंश से पार्वती-जैसी अनगिनत पार्वतियों की सृष्टि होती है, वही प्रेम-विह्लता मे हों, पूजन कर रही हैं, मुझे माला पहनाने को आतुर हों—इससे और क्या विडम्बना हो सकती है? इस तरह माला के गिरने का भाव जानकर पार्वती अपनी मुस्कान के द्वारा अगनित भावों को विवृत्त कर देती है।

मानस में गोस्वामी जी ने पात्रों के अंतर्प्रदेश की मनोरम झाँकी दिखलाने के लिए सूक्ष्म अलंकार का आश्रय लिया है और उन्हे पूर्ण सफलता भी मिली है। सारे स्थलों का विवेचन-विश्लेषण न कर, केवल एक स्थल कथन-समर्थन के लिए पर्याप्त होगा—

**गौतम तिय गति सुरति करि नहि परसति पग पानि।**
**मन बिहँसे रघुबंस मनि प्रीति अलौकिक जानि॥**

१.२६५

धनुष-भंग के पश्चात् सखियाँ सीता को श्रीराम के चरण-स्पर्श करने को कहती हैं, किन्तु वे अति भयभीत हो गयी हैं,इसलिए चरण-स्पर्श नही करती। भयभीत होने का कारण गौतम-पत्नी अहल्या का स्मरण है। अहल्या को ज्योंही श्रीराम का पाद-स्पर्श मिला, वह दिव्यलोक चली गयी। इतनी प्रतीक्षा, इतने पूजन-मनावन के बाद तो श्रीचरणों के दर्शन मिले और कहीं इनसे शीघ्र वियोग न हो जाय—यह सोचकर सीता चरण-स्पर्श नही करती। अथवा अँगूठी में इतनी मणियाँ पिरोयी हैं कि यदि वे सभी नारी बन जायँ तो इतनी सौतों के बीच रहकर प्रभु के एक मात्र प्रेम की अधिकारिणी वे नही बन सकेंगी। केवट को कभी शंका हुई थी, हो सकता है कि वही शंका सीता के मन में भी घर कर गयी हो, इस प्रकार सीता के एकांगी अनन्य प्रेम को लखकर रघुवंश-मणि मन-ही-मन विहँसते हैं। इस 'विहँसने' में, होठों के दलों के हल्के-हल्के खुलने में भाव की न मालूम कितनी पंखुरियाँ खुलने लग जाती हैं। इन सारे अनंत भावों को, जिनको प्रभु ने लखा था, बतानेवाला शायद ही कोई हो। अब तो अपनी क्षमता पर निर्भर है कि हम उस मुस्कान से कितना अर्थ निचोड़ पाते हैं। गोस्वामी जी ने पात्रों के अन्तस्तल के जिन निगूढ़ भावों की व्यंजना जिस सूक्ष्म पद्धति द्वारा की है, वह तो सचमुच "तीक्ष्णमतिसंवेद्य" है। ऐसे स्थलों पर इतना अर्थगौरव आ गया है कि गोस्वामी जी की अलंकरण-कला पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। जैसे कोई सुयोग्य शासक अपने पार्षदों को उनके योग्यतानुसार कार्य सौंपता है, वही कार्य अलंकार-शास्त्रज्ञ गोस्वामी जी ने किया है।

मानस में सूक्ष्म अलंकार के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यह कहना बहुत उचित नहीं है कि सूक्ष्म और परिसंख्या-जैसे जटिल अलंकार एक-एक बार ही प्रयुक्त हुए हैं।[1]

---

१ : तुलसी-शब्द-मीमांसा—डॉ० उदयभानु सिंह, पृष्ठ ३५४

२ : व्याजोक्ति :

व्याजोक्ति गूढार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकार है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख वामन ने अपनी काव्यालकार-सूत्र-वृत्ति में किया। भामह, दंडी, उद्भट तथा रुद्रट ने व्याजोक्ति का उल्लेख नही किया है। वामन के अनुसार व्याज का सत्य के साथ सारुप्य व्याजोक्ति है।[1] इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि असत्य के बहाने सत्य का प्रतिपादन करना व्याजोक्ति अलंकार कहलाता है, जिसको अन्य लोग "मायोक्ति" कहते है।[2] फिर भी वामन की परिभाषा बिलकुल स्पष्ट न हो सकी। इसे स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने लिखा—"प्रकट की हुई वस्तु का किसी बहाने से छिपाना व्याजोक्ति अलकार है।[3]

व्याजोक्ति मे खुलते हुए भेद को बडी चतुरता से छिपाया जाता है। छेकापह्नुति और-कैतवापह्नुति—दोनो में छिपाया जाता है किन्तु छेकापह्नुति मे निषेधपूर्वक छिपाया जाता है तथा कैतवाह्नुति मे बहाने के द्वारा छिपाया जाता है।

सूक्ष्म और पिहित मे प्रकट हुए भाव को क्रिया या भाव से व्यक्त किया है, किन्तु व्याजोक्ति मे शब्दशः छिपाया जाता है।

मानस से एक उदाहरण लें—

धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥
बहुरि गौरी कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू॥

१.२३४.१—२

यहाँ सीता की सखियाँ जान गयी है कि सीता राम के ध्यान में तल्लीन है। इस रहस्य को वे छिपाती हुई कहती हैं कि फिर गौरी का ध्यान कर लेना, अभी तो राजपुत्र को देख लो। सयानी सखियाँ सोचती है कि सीता के प्रेम-रहस्य को प्रकट कर देने पर वे झेंप जाएँगी, इसलिए व्याजोक्ति का सहारा ले रही है।

मानस मे ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ व्याजोक्ति की विच्छित्ति देखते बनती है।

१ : व्याजस्य सत्य सारूप्यं व्याजोक्ति। काव्यालकार-सूत्रवृत्ति ४/३/२५
२ : व्याजस्य छद्मना सत्येन सारूप्यं व्याजोक्तिः। यो मायोक्तिरित्याहु॰।
३ : व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुभिन्नस्यापि वस्तुनः। साहित्यदर्पण १०/९२

# ७
# वर्गीकरण वहिर्गत अलंकार

## १ : स्वभावोक्ति :

स्वभावोक्ति अत्यंत प्राचीन काल से सुज्ञात अर्थालंकार है। वाणभट्ट इसे ही 'जाति' नाम से स्वीकार करते हैं तथा सुन्दर रचना के लिए अग्राम्य जाति का विनिवेश ही श्रेयस्कर मानते हैं।[1] अलंकार यदि कथन की वक्र-प्रणाली का अभिधान है तो वस्तु के स्वाभाविक अवक्रिम वर्णन को अलंकार कोटि में क्यों परिगणित किया जाये इसलिए भामह ने हेतु, सूक्ष्म और लेश का उल्लेख करते हुए वक्रोक्ति-शून्यता के कारण उन्हें अलंकार क्षेत्र से वहिष्कृत रखना ही उचित समझा।[2] स्वभावोक्ति को कुछ लोग शुष्क, तथ्यात्मक, अभिव्यक्ति की कृपणता एवं शब्दों की ऐन्द्रजालिक शक्तिहीनता से युक्त मानते हैं, किन्तु ऐसा मानना सत्य से दूर भागना होगा। स्वभावोक्ति तो यथावत् वस्तु-वर्णन है, किन्तु वह अत्यंत चारु और सूक्ष्म होता है।[3] शायद यही कारण है कि दंडी इसे "आद्या अलंकृति" मानते हैं और जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के स्वभाव-वर्णन को स्वभावोक्ति मानते हैं।[4] भट्टि स्वभावोक्ति को ही वार्ता के नाम से पुकारते हैं।[5] स्वभावोक्ति की अलंकारता को कुंतक नहीं मानते। कुंतक तो स्वभावोक्ति को अलंकार्य अथवा काव्य-शरीर मानते हैं। यदि इसे अलंकार मानकर अलंकृत करनेवाला स्वीकार करें तो यह अपने कंधे पर ही चढ़ने की भाँति असम्भव ज्ञात होता है।[6] इतना ही नहीं, स्वभावोक्ति में अवाच्य वाचन[7] या अपुष्टार्थ दोष[8] के आ जाने की संभावना है। इस विषय पर आलंकारिकों में अत्यधिक शास्त्रार्थ हुआ है और उनमें न उलझ कर इतना कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति "अप्रतिभोद्भव स्वरूपानुवाद" या "वस्तुमात्रानुवाद" नहीं है, वरन वह वस्तुओं, क्रियाओं, चेष्टाओं आदि के मोहक सूक्ष्मेक्षण द्वारा शब्दचित्र उतार देता है कि हम इस ओर आपाततः आकृष्ट हो जाते हैं।

---

१ : नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्। — हर्षचरित

२ : हेतुः सूक्ष्मोऽथ लेशश्च नालंकारतया मतः
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः। — विद्यानाथ

३ : स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्।

४ : स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा।
जातिक्रियागुणद्रव्य — स्वभावाख्यानमीदृशम्। — काव्यादर्श २/८

५ : Some concepts of Alankar Shastra—Raghvan P. 98

६ : वक्रोक्तिजीवितम् - १/१८

७ : व्यक्तिविवेक : महिम भट्ट

८ : काव्यालंकार : रुद्रट

स्वभावोक्ति किसी भी पदार्थ के नैसर्गिक सूक्ष्म वर्णन में हो सकती है। इसके लिए ऐसा प्रतिबंध लगाना विलकुल उचित नही मालूम पड़ता है कि केवल वालको[1] या पशुओ की ही प्रकृति-सिद्ध क्रियाओ और रूपो का वर्णन हो।

विश्लेषण-सौकर्य के लिए हम गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में मानव-चेष्टाओ, मानवेतर प्राणियों की चेष्टाओं एवं प्राकृतिक दृश्यों के चमत्कारिक वर्णन में स्वभावोक्ति की छटा देखना चाहेंगे।

१ : मानव-स्वभाव वर्णन—

भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

१.२०३

२ : मानवेतर स्वभाव वर्णन—

नहि तृनु चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचनबारि।
व्याकुल भये निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥

२.१४१

३ : प्राकृत दृश्य-वर्णन—

तहाँ जाइ देखी बनशोभा। गुंजत चंचरीक मधुलोभा॥
नाना तरु फल फूल सुहाए। खग मृग वृन्द देखि मन भाए॥

५.३ ६-७

४ : सेना-प्रयाण एवं युद्ध-वर्णन—

जहाँ गोस्वामी जी ने बानर-सेना के प्रयाण एवं राम-रावण-युद्ध का लोमहर्षक वर्णन किया है, वहाॅ भी उन्होने स्वाभाविकता से सम्बन्ध-विच्छेद नही किया है। सुंदर काड का एक प्रसंग द्रष्टव्य है—

चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किंनर दुख टरे।
कटकटहिं मर्कट विकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावही।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ गुनगन गावही॥

५.३५.११-१४

सहज स्वभावोक्ति के अतिरिक्त मानस में ऐसे भी स्थल हैं, जिन्हे हम सप्रतिश स्वभावोक्ति की संज्ञा प्रदान कर सकते है। लक्ष्मण की निम्नोद्धृत उक्तियो मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही है। उनके वीरोचित उद्रेक का सहज उच्छलन प्रतिज्ञावद्ध स्वभावोक्ति के रूप में दर्शनीय है—

---

१ (क) क्रियाया संप्रवृत्तस्य हेवाकाना निवन्धनम्।
कस्य चिन्मृगडिम्भादे स्वभावोक्तिरुदाहृता। — काव्यालकार-सार-संग्रह ३/८

(ख) स्वभावतिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूपवर्णनम् - १०/१११
स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् — साहित्यदर्पण, १०/९३
सूक्ष्म वस्तुस्वभावस्य यथावद् वर्णनं स्वभावोक्तिः। — अलंकार सर्वस्व, सू० ७९

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जो तुम्हार अनुशासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना ॥
नाथ जानि अस आयेसु होऊ। कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ॥
जो न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥

१.२५३.३-१०

गोस्वामी जी ने स्वभावोक्ति का उपयोग कहीं तो चरित्र-चित्रण एवं कहीं तो स्वरूप-निरूपण के लिए किया है। अशोकवाटिका में वंदिनी सीता की वस्तुस्थिति का वर्णन उपमा-उत्प्रेक्षा के द्वारा भी किया जा सकता था, फारसी-उर्दू के कवियों को तो मौका मिलने की देर थी, वे तो ऐसी-ऐसी अत्युक्तियों का व्यायाम दिखलाते कि क्या कहना ! किन्तु, तुलसीदास स्थित्यनुकूल अलंकारों की नियोजना में ऐसे निष्णात हैं कि स्वभावोक्ति के सिवा अन्य अलंकार की आवश्यकता ही नहीं अनुभूत करते। पंक्तियाँ देखें—

देखि मनहिं महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहिं बीति जात निसि जामा ॥
कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी ॥
निज पद नयन दिएँ मन राम कमल पद लीन।
परम दुखी भा पवन सुत देखि जानकी दीन ॥

५.८.७-१०

सीता के रात्रिपर्यन्त जागरण, कृशकाया एवं कालिदास की विरहिणी यक्षपत्नी की भाँति बालों की एक वेणी धारण करने से वियोग की बड़ी संघननता व्यक्त हुई है। शायद सीता की इसी अकृत्रिम दीन दशा का विक्रम बजरंगी पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे परम दुःखी हो गये। स्वभावोक्ति द्वारा वातावरण-निर्माण गोस्वामी के स्वाभाविक अलंकार-प्रयोग का स्पष्ट संकेत है।

## २ : भाविक :

भाविक आचार्य भामह से पंडितराज जगन्नाथ तक उल्लिखित होता रहा है। भामह तथा दंडी ने इसे प्रबंध-गुण माना तथा इसके लिए अर्थ की चित्रता, उदात्तता, अद्भुतता एवं शब्दों की स्वच्छता को आवश्यक बतलाया।[1] दंडी ने भाविक के लिए सभी प्रकरणों के पारस्परिक संबंध, व्यर्थ विशेषणों के अप्रयोग आदि को निष्पादक माना।[2] किन्तु पीछे चमत्कार आलंकारिकों ने इसे अर्थालंकार स्वीकार किया तथा सबने एक ही भाव को शब्दों के ईषत् परिवर्तन द्वारा व्यक्त किया। उनके विचार से अतीत अथवा अनागत का प्रत्यक्षवत् वर्णन भाविक

१. भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते। — काव्यालंकार ३/५३-५४

२ : परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना। — काव्यादर्श २/३६५

अलंकार है।[1] वैसे तो सर्वत्र रचना मे कवि की आर्ष दृष्टि देखी जा सकती है, किन्तु भाविक अलंकार मे तो विशेषकर वह अपनी आर्ष दृष्टि से देखे गये भूत-भविष्य को वर्त्तमान मे उपस्थित कर देता है।[2] कवि-प्रयुक्त शब्दो मे इतनी विलक्षण क्षमता होनी चाहिए कि वह भूत और भविष्य की घटनाओ को वर्त्तमान के दर्पण मे पूर्णत प्रतिच्छायित कर दे। मानस के कवि मे ऐसी विलक्षण क्षमता पूर्णत. विद्यमान है और मानस मे अनेक अतीव सुन्दर भाविक-प्रयोग प्राप्त होते है।

१ : भूतार्थ-वर्णन :

सिय वेषु सतीं जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरीं।
हर बिरह जाइ बहोरि पितु कें जाय जोगानल जरीं।
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तपु किया।
जस जानि संसय तजहु गिरजा सर्बदा संकर प्रिया॥

१.९८.९–१२

"अब" के द्वारा भूतार्थ-वर्णन की वर्त्तमानता स्पष्ट है।

२ : भविष्यार्थ-वर्णन :

भृगुपति केरि गरब-गरुआई। सुर मुनि बराह केरि कदराई॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥
सम्भु चाप बड बोहितु पाई। चढ़े जाई सब संगु बनाई॥

१.२६०.५–७

भृगुपति से अभी श्रीराम की भेंट हुई नही, इसलिए उनकी गर्व-गुरुता का प्रश्न ही नही उठता, गर्व-गुरुता भविष्य मे प्रकट होनेवाली है, उसका वर्त्तमानवत् वर्णन किया गया है।

गोस्वामी जी ने भूत और भविष्य की घटनाओ का एक साथ वर्णन कर भाविक अलकार का अभूतपूर्व विनियोग किया है। जैसे—

भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूपु भरत जस पिता तुम्हारा॥

२.१७२.६

इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहि कतहू होनेउ नाहीं॥

१.३१०.३

३ : उदात्त :

जहाँ लोकातिशायी सम्पत्ति का वर्णन हो अथवा किसी महापुरुष का चरित्र वर्णनीय वस्तु का अंग हो, वहाँ उदात्त अलंकार होता है।[3] यह अलंकार बहुत प्राचीन है। इसका उल्लेख भामह, दण्डी, भट्टी, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ने किया है।

---

१ : (क) अतीतानागतयो प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम।— रुय्यक, अलंकारसर्वस्व, सू० ८०
(ख) प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविन तद्भाविकम।— मम्मट, काव्यप्रकाश, १०/१७३
(ग) अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यत
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, १०/९३

२ : अविद्याबीजविध्वंसाद्यमार्षेण चक्षुषा
कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्त्तमानमवीविशत्।— अनर्घराघव, २/३४

३ : अलंकारमुक्तावली— पृ० २४८
लोकातिशय सम्पत्ति वर्णनोदात्तमुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्यांगं महतां चरितं भवेत्।।— साहित्यदर्पण, १० . ९४

रामचरितमानस मे इस अलंकार के अनेकानेक भेद प्राप्त होते है। प्रथम प्रकार के उदात्त के लिए श्रीराम के विवाह-मंडप का दर्शन करे—

विधिहि बन्दि तिन्ह कीन्ह अरम्भा। बिरचे कनक कदलि के खम्भा॥
हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल॥
बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरव परहिं नहि चीन्हे॥
कनक कलित अहि बेलि बनाई। लखि नहिं परै सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बन्ध बनाए। बिच-बिच मुकुतादाम सुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किए भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा॥
सुर प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर मनिमय सहज सुहाई॥
सौरभ पल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि।
हेम बौरि मरकत घवरि लसति पाटमय डोरि॥

१.२८७.८ से १.२८८ तक

लोकोत्तर राम के विवाह-मण्डप के निर्माण मे गोस्वामी जी ने लोकातिशयायी सम्पत्ति का उपयोग कर उदात्त की सफल अभिव्यक्ति की है।

रामचरितमानस के उत्तर काण्ड से दूसरे प्रकार के उदात्त का सौन्दर्य देखे—

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ॥

७.२९

यहाँ अवध के प्रस्तुत वर्णन मे राम को अगभूत बनाकर अवध का अत्यधिक महत्त्व दर्शित किया गया है।

भारतीय अलंकारशास्त्र मे उदात्त को केवल अलंकार ही नही माना गया है, वरन् नायकों के विभाजन-क्रम मे भी "धीरोदात्त" के रूप मे इसकी चर्चा हुई है।[1] उदात्त के विषय में पाश्चात्य साहित्य मे लोंगिनुस ने "पेरि हुप्सुस" नामक पूरी पुस्तक ही लिखी है और उसमे उन्होंने उदात्त को बड़े ही व्यापक आधार-फलक पर उपस्थित किया है। औदात्त्य को वे अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का पर्याय मानते हैं। इस ग्रन्थ मे उन्होने उदात्त के उद्गम-स्रोतों एवं उसके सहयोगी तत्त्वो का विवेचन किया है। उदात्त से हमारे चित्त का प्रसार, उत्कर्ष एवं उन्नयन होता है। इस प्रकार उदात्त का और भी वर्गीकरण विवेचन हुआ है।[2] इसके अनेक प्रकार— सूक्ष्मोदात्त, धर्मोदात्त, चिन्तनोदात्त, शुद्धोदात्त, शीलोदात्त, कालोदात्त, व्यासोदात्त, नवोदात्त, आत्मोदात्त, सर्वोदात्त आदि किये जा सकते हैं।

रामचरितमानस का नायक उदात्त, नायिका उदात्त, विषय उदात्त, उपस्थापन उदात्त, दृश्य-चित्रण उदात्त, शील-सम्पदा उदात्त अभिव्यञ्जन-कौशल उदात्त—इस प्रकार इस जिस दृष्टि से

१ : काव्य में उदात्त तत्त्व — डॉ० नगेन्द्र
२ : उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन — [illegible]

से देखें, मानस आवर्त्तक उदात्त का उत्तमोत्तम उदाहरण है। उदात्त का स्वरूप और मानस मे विनियोग पर स्वतन्त्र रूप से स्फीत ग्रन्थ-लेखन सम्भव है, यहाँ प्रकृत विषय से बहिर्गत होने के कारण मैंने केवल सकेत भर किया है।

४ : मुद्रा :

"मुद्रा" का सर्वप्रथम उल्लेख करनेवाले भोजराज है। भोजराज ने चौवीस शब्दालंकारो मे मुद्रा को परिगणित किया है। भोजराज के अनुसार जहाँ किसी वाक्य मे साभिप्राय वचन का विनिवेश किया जाय, वहाँ मुद्रा अलकार होता है। इसके "मुद्रा" कहने का कारण यह है कि मुद्रा सहृदयो को "मुद्" अर्थात् प्रसन्नता देती है।[1] अप्पय दीक्षित ने "मुद्रा" को अर्थालंकार के रूप मे प्रतिष्ठित किया और इस शब्द मे नयी प्राण-प्रतिष्ठा की। इनके विचार से जहाँ प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध पदो के द्वारा सूचनीय अर्थ सूचित किया जाय वहाँ मुद्रा अलंकार होता है।[2] अप्पय दीक्षित का ही मार्गानुसरण करनेवाले अनेक रीतिकालीन आचार्य है।[3] यह अलकार सम्भवत मुद्रान्याय पर आश्रित है। जिस प्रकार नामाकित मुद्रा से किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सूचित किया जाता है, उसी प्रकार मुद्रा अलकार मे प्रासंगिक वर्णन के द्वारा एक विशेष सूचनीय अर्थ सूचित किया जाता है।

इस अलकार मे कवि को शब्द-योजना मे आयास करना पडता है ओर गोस्वामी जी सायास अलंकार के तो पक्षधर है नहीं। मानस मे मुद्रा के अधिक उदाहरण नही मिलते। एक-दो उदाहरणो मे गोस्वामी जी ने बडी ही चतुरता से अपने गुरु या माता के नाम की सूचना दी है—ऐसा विद्वानो का विचार है—

१. बंदौं गुरपद कज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥

१.५ सोरठा

२. रामहि प्रिय पावनि तुलसी-सी।
तुलसिदास हित हिय हुलसी-सी॥

१.३१.१२

३ : पूँछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।
भरतु भुआल होंहि एहु साँची॥

२.२१.७

"नररूप हरि", "हुलसी" तथा "भुआल" के सूचनीय अर्थ क्रमश गोस्वामी जी के गुरु बाबा नरहरि दास, गोस्वामी जी की माता तथा भूमि मे घर बनाकर रहनेवाला है।

५ गूढोक्ति :

गूढोक्ति अलकार भी गोण अलकारो की कोटि मे ही आता है। काव्यप्रदीपकार ने तो इसे अलकार मानना भी उचित नही समझा है। अप्पय दीक्षित का कथन है—"जहाँ किसी एक को

---

१ : साभिप्रायस्य वाक्ये यद्वचसो विनिवेशनम्।
मुद्रा तां मुत्प्रदायित्वात्काव्यमुद्राविदोविदु.॥—सरस्वतीकंठाभरण, २/८२

२ : सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः—कुवलयानंद, १३९

३ : (क) प्रकृत अर्थ पर पदनि सों सुद्ध प्रकासित अर्थ—मतिराम, ललितललाम, ३२७
(ख) प्रकृत अरथ पर पद जहाँ, सूच्य अर्थ के ताहिं।—पद्माकर. पद्माभरण, २३४

लक्षित कर किसी दूसरे ही से कोई बात कही जाय, उसे गूढोक्ति अलंकार कहते है।[१] गूढ़ोक्ति का अर्थ है गुप्त उक्ति। वक्ता का उद्देश्य रहता है कि जिसको उद्दिष्ट कर वह कह रहा है, उसे वह तो समझ ले किन्तु, अन्य कोई व्यक्ति कतई न समझे। अनेको के बीच में दो व्यक्ति की इस गुप्त वार्ता मे चमत्कार तो है ही और यही गूढ़ोक्ति अलंकार का क्षेत्र है। पुष्पवाटिका-प्रसंग से एक उदाहरण ले—

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये गहरु कब कहहि सभीता॥
पुनि आउब येहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहँसी इक आली॥

१.२३४.५-६

यहाँ सखी तो श्रीराम को बतलाना चाहती है कि कल इसी समय आपकी मुलाकात सीता से होगी, किन्तु वह राम से स्पष्टतः न कहकर सखियो से कहती है। सखी का उद्देश्य है कि उसकी इस बात को अन्य सखियाँ न समझें। हो सकता है कि वे सीता की माँ से शिकायत कर दे कि अमुक सखी परपुरुष को वाटिका में आमन्त्रित करती है।

### ६ : विवृतोक्ति :

विवृतोक्ति अप्पय दीक्षित द्वारा आविष्कृत अलंकार है। उनके अनुसार श्लिष्ट शब्दो या उक्ति-चातुर्य के द्वारा छिपाया गया रहस्य को कवि द्वारा प्रकट करने मे विवृतोक्ति अलंकार होता है। विवृतोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—खुली हुई उक्ति (विवृत=खुली हुई) मानस मे विवृतोक्ति का भी बहुल प्रयोग नही मिलता। उदाहरणार्थ दो-एक स्थल द्रष्टव्य है—

दीन बचन कह बहुबिधि रानी। सुनि कुबरीं तिय माया ठानी॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सुहागु तुम्ह कहँ दिन दूना॥

२.२१.३-४

कुबरी कहती है कि तुम मन मे हीनता क्यो मानती हो। तुम्हारा तो सोहाग दिन-दूना होगा अर्थात् तुम्हारे पति दीर्घायु होगे। किन्तु इस दूना (दू+ना) अर्थात् दो दिन भी नहीं के द्वारा कवि दशरथ की आसन्न मृत्यु का रहस्य खोल देना चाहता है।

बेगि बिलम्बु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिनु सुमंगलु तबहि जब राम होहिं जुवराजु॥

२.४

वशिष्ठ का कथन कि सुदिन सुमंगल तभी समझिये जब राम का राज्याभिषेक हो। इसके द्वारा वह यह बता देना चाहते हैं कि अभी सुदिन सुमंगल नहीं है—जब कभी भविष्य में राम राजा होंगे, तभी सुन्दर और मंगल-दिवस माना जायगा। सामान सजाने का काम आपका है, वह करें, किन्तु इससे इस समय के राम-राज्याभिषेक का कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ भी कवि ने राम-वन-गमन के रहस्य को खोलना चाहा है, किन्तु वह रहस्य इस चातुरी से विवृत किया गया है कि पीछे से पाठक ही समझ पाते हैं।

---

१ : गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद्यदन्यं प्रति कथ्यते।—कुवलयानन्द, १५४

### ७ : प्रतिषेध :

प्रतिषेध विधि का प्रतिलोम हैं। इसका भी सर्वप्रथम उल्लेख अप्पय दीक्षित ने ही किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रसिद्ध निषेध का अनुकीर्त्तन किया जाय, वहाँ प्रतिषेध अलंकार होता है।[1]

मानस मे प्रतिषेध यत्रतत्र प्रयुक्त हुआ है। एक उदाहरण लें—

राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा।

६.२६.५

राम केवल मनुष्य नही है, कामदेव केवल धनुर्धारी नही है, गगा केवल साधारण नदी नही है—इस वस्तु का सभी लोग जानते है। इन तीनों का निषेध पूर्णतः प्रसिद्ध है फिर भी काकु द्वारा इन तीनो की पुनश्चर्चा हो रही है, इसलिए यहाँ प्रतिषेध अलंकार हैं।

### ८ : विधि :

विधि का सर्वप्रथम उल्लेख अप्पय दीक्षित ने किया है। उनके अनुसार पूर्वत सिद्ध वस्तु का पुन विधान विधि अलंकार कहलाता है।[2] सिद्ध वस्तु का पुनः विधान आपाततः असंगत मालूम पडता है, आवृत्ति-दोष की संभावना भी हो सकती है, किन्तु विधि अलंकार मे ऐसा होता नही। प्रसिद्ध पूर्वसिद्ध वस्तु के पुनः कथन से अन्य अर्थ की व्यंजना होती है और उसमे एक विशेष सौंदर्य की झलक दिखलाई पडती है।

मानस मे ऐसे अनेक स्थल है जहाँ इस गौण अलंकार का प्रयोग भी कुशलतापूर्वक हुआ हैं।

जैसे—पुत्रवती युवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुत होई॥

२.७५.१

सोइ गुनज्ञ सोई बड़ भागी। जे रघुबीर चरन अनुरागी॥

४.२३.७

सोइ कबि कोबिद सोइ रणधीरा। जो छल छोड़ि भये रघुबीरा॥

७.१२७.४

इनमे सर्वत्र सिद्ध वस्तु का विधान किया है। कोई भी पुत्रवाली स्त्री पुत्रवती कहलाती हैं, किन्तु उसे गोस्वामी जी तबतक पुत्रवती नही मानते जबतक वह पुत्र राम का भक्त न हो। मातृत्व की सार्थकता तभी है कि जब पुत्र राम का उपासक हो। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में कोई भी गुण धारण करनेवाला गुणज्ञ कहलाने का अधिकारी तभी होगा जब वह श्रीराम के चरणो मे अनुराग रखता हो। तीसरे उदाहरण मे गोस्वामी जी किसी कविता लिखनेवाले को कवि, किसी प्रकार के ज्ञान रखनेवाले को कोविद तथा किसी लडाई मे धैर्य रखनेवाले को रणधीर नही मानते जबतक वह निष्कपट भाव से श्रीराम का भजन न करे। इन तीनो उदाहरणो मे श्रीराम के प्रति मनुष्य के प्रगाढ भक्ति करने का भाव व्यग्य है।

मानस मे ऐसे और भी स्थल आये है जब राम-भक्ति के दृढीकरण के लिए विधि का उपयोग गोस्वामी जी ने किया हैं।

---

१ : प्रतिषेध प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्त्तनम् —कवलयानन्द, १६५

२ : सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् —कुवलयानन्द, १६६

## ९ : प्रस्तुतांकुर :

प्रस्तुतांकुर का सर्वप्रथम उल्लेख अप्पय दीक्षित ने किया है। उनके अनुसार जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अन्य प्रस्तुत वृत्तान्त की व्यंजना हो, वहाँ प्रस्तुतांकुर[1] अलंकार होता है। अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होती है, समासोक्ति में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की। प्रस्तुत-प्रस्तुत का क्षेत्र अवशिष्ट रह गया था, इसलिए अप्पय दीक्षित ने प्रस्तुत-प्रस्तुत-प्रतीति को लेकर एक नये अलंकार प्रस्तुतांकुर की उद्भावना कर डाली। एक प्रस्तुत से दूसरे प्रस्तुत के अंकुरण को ध्यान में रखकर इसका प्रस्तुतांकुर नामकरण उन्होंने किया। यद्यपि इस अलंकार को बहुत प्रसिद्धि नहीं मिली, फिर भी अनेक रीतिकालीन आचार्यों ने इसका विवेचन अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में किया है।[2]

मानस में भी प्रस्तुतांकुर के कुछेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं। यथा—

भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

६.६३.१-२

यहाँ रावण से कुंभकरण की प्रत्यक्षतः बातचीत हो रही है। वह रावण को उपदेश देता है, किन्तु अन्य राक्षसों के कल्याण का भार उसकी शिक्षा से आभासित है। अतः यहाँ प्रस्तुतांकुर है। इस प्रस्तुतांकुर के द्वारा गोस्वामी जी ने रावण और कुम्भकरण के चरित्रगत अन्तर को भी बड़ी ही चातुरी से स्पष्ट किया है।

एक और उदाहरण लें—

सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥

१.२७१.४-५

परशुराम के इस कथन में एक प्रस्तुत बोध्य है—श्रीराम तथा दूसरा प्रस्तुत बोध्य है—उसी मंडली में विराजमान धनुर्भंग करनेवाले नृपगण। ऐसे उदाहरणों को हम शास्त्रीयता की कसौटी पर पूर्णतः कस नहीं सकते; क्योंकि गोस्वामी जी का उद्देश्य लक्षण-लक्ष्य-निरूपण या-सर्जन नहीं है।

## १० : असंभव :

असंभव का सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया है। उनके अनुसार कार्य-सिद्धि को किसी प्रकार संभव न बतलाना असंभव अलंकार है।[3] जयदेव के आधार पर ही संस्कृत में अप्पय दीक्षित[4] तथा रीतिकालीन आलंकारिकों[5] ने इसका उल्लेख किया है।

१ : 'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः'। —कुवलयानन्द, ६७
२ : (क) प्रस्तुत [illegible] प्रस्तुत जहँ प्रकट होत [illegible] —ललितललाम, १७५
(ख) प्रस्तुत करि प्रस्तुत कहूँ —पद्माभरण, १२०
३ : असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्। —चन्द्रालोक ५/७६
४ : कुवलयानंद—८४
५ : (क) जहँ कारज की सिद्धि को असंभव बरनत होइ —ललितललाम [illegible]
(ख) [illegible] —भूषण : शिवराजभूषण, १६०

रामचरितमानस मे हम इसका उदाहरण देखें—

१ : नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन हम चहौं उड़ाना ॥
१.७८.७

२ : द्रवहिं वचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ वखाना ॥
२.२१६.७

प्रथम उदाहरण मे विना पंख के उडने तथा दूसरे उदाहरण मे कठोर कुलिश के पिघलने की वात कही गयी है। यहाँ कार्य-सिद्धि की असभवता के कारण असभवालंकार है। गोस्वामी जी ने अपने कथन को वज्ररेख की तरह अमिट वनाने तथा व्यक्तित्व का मोहक प्रभाव दिखलाने के लिए असंभव अलंकार का प्रयोग किया है। असंभव के द्वारा अभीष्ट-सिद्धि की सभवता के लिए मानस मे ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं।

११ : विकस्वर :

विकस्वर का सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया। उनके अनुसार जहाँ विशेष अर्थ की पुष्टि के लिए सामान्य अर्थ और पुन उससे भी दृढतर पुष्टि के लिए विशेप अर्थ का उपन्यसन हो, वहाँ विकस्वर अलकार होता है।[1] जयदेव का ही अनुगमन अप्पय दीक्षित[2] ने किया और इन दोनो के पदाचिह्नो पर हिन्दी के अनेक आलकारिक[3] चल पड़े। पंडितराज जगन्नाथ विकस्वर को स्वतंत्र अलकार नही मानते। उनके विचार से विकस्वर मे कही अर्थान्तरन्यास और उपमा तथा कही दो अर्थान्तरन्यासो की ससृष्टि होती है, अतः संसृष्टि को नवीन अलकार मानना अनुचित है। ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उपमादि अनेक अलकारो मे अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव परिलक्षित होता है, उदाहरणार्थ जहाँ "वीक्ष्य रामं घनश्याम ननृतु शिखिनो वने" में भ्रान्ति अलंकार उपमा से पुष्ट है, तो क्या यहाँ कोई दूसरा नामकरण वाछनीय होगा ?[4] जैसा मैंने पहले ही निवेदित किया है कि इसे पृथक् रूप मे अलकार की मान्यता मिल चुकी है। अत. यहाँ इसका उल्लेख किया जा रहा है।

मानस से विकस्वर का उदाहरण लें—

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥
१.२६.७–८

प्रथम अर्द्धाली मे अजामिल, गज, गनिका आदि का हरिनाम के कारण मुक्ति प्राप्त करने मे विशेप वात कही जा रही है। चौपाई के तीसरे चरण मे उसकी पुष्टि सामान्य वात के द्वारा की जा रही है कि नाम की प्रशसा ही इतनी अधिक है—अकथ्य है। इस सामान्य-कथन की पुनः परिपुष्टि कवि विशेप वचन—"राम न सकहि नाम गुन गाई" के द्वारा करता है। जव राम स्वयं अपने नाम का गुणानुवाद नही करते तो दूसरे जीव या देव को इतनी क्षमता कहाँ कि राम-नाम के अपरिमित माहात्म्य का कथन करे। यहाँ विकस्वर के द्वारा गोस्वामी जी ने

१ : यस्मिन्विशेष-सामान्य-विशेषाः स विकस्वरः। – चन्द्रालोक, ५/६६
२ : कुवलयानन्द, – १२५
३ : कहि विसेष सामान्य पुनि कहिये वहुरि विसेष। – मतिराम, ललितललाम, ३९२
४ : हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग, पृ० २४८

राम-नाम की महत्ता का ऐसा दृढीकरण किया है कि उसे किसी तर्क से उच्छिन्न करना संभव नही। यह विकस्वर अर्थान्तरन्यास-प्रणाली वाला है—जहाँ विशेष का सामान्य तथा सामान्य का विशेष से समर्थन-संपुट किया गया है।

उपमा-प्रणाली के विकस्वर का भी एक उदाहरण मानस में देखे—

भरतहि दोसु देइ को जाएँ। जग बौराइ राज पदु पाएँ ॥
ससि गुरतिय-गामी नहुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान ।
लोक वेद तें विमुख भा अधम न वेन समान ॥

२.२२७.८–१०

लक्ष्मण भरत के अधिकार-मद की संपुष्टि करते हुए कहते है कि केवल भरत को ही दोष देना अनुचित है—यह विशेष है। इसका समर्थन "राज्यपद पाकर सारा संसार ही उन्मत्त हो उठता है" सामान्य वाक्य करता है। इस सामान्य वाक्य की पुष्टि के लिए चन्द्रमा, नहुष एवं वेन राजा के विशेष दृष्टान्तो को उपस्थित किया जा रहा है। भरत की साधुता मे जिसको शंका न हो, ऐसे अनेक व्यक्ति लक्ष्मण की उक्तियो की सबलता के कारण शंकालु हो सकते हैं। लक्ष्मण के इस कथन मे नाटकीय संवादो की दृढता आ गयी है। विकस्वर ने सचमुच इस संवाद को "विकस्वर" (विकसनशील) बना दिया है, तभी श्रीराम को भी कहना पडा है "सब तें कठिन राजमदु भाई"।

गोस्वामी जी ने कई स्थानों मे विकस्वर की ऐसी विनियोजना की है जिसे हम उपमा-प्रणाली वाला विकस्वर न कहकर, उपमा-गर्भ विकस्वर की आख्या प्रदान कर सकते है। एक उदाहरण दे देने से मेरा कथन स्पष्ट हो जायगा—

सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यहि बाना ॥
सबके प्रिय सेवक यहि नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती ॥

७.१६.७–८

यहाँ प्रथम अर्द्धाली के विशेष कथन मे ही "प्रिय नही तुम्हहि समाना" कहकर उपमा अलंकार का प्रयोग कर दिया गया है—अंतिम विशेष के कथन मे नही। अतः ऐसे स्थलो को मुझे उपमागर्भ विकस्वर कहना उचित मालूम पडता है। ऐसे विकस्वर की चर्चा अप्पय दीक्षित ने नहीं की। रीतिकालीन अलंकार-ग्रन्थो मे भी कहीं देखने को नही मिली।

## १२ : प्रौढोक्ति

प्रौढोक्ति का सर्वप्रथम विवेचन जयदेव ने किया है। उनके अनुसार जो जिस कार्य के लिए असमर्थ है, उसे उस कार्य के लिए सशक्त बतलाना प्रौढोक्ति अलंकार कहलाता है।[1] अप्पय दीक्षित किसी कार्य के अतिशय को न करने वाले पदार्थ को उसका कारण मान लेने को प्रौढोक्ति कहते है।[2] इसे पंडितराज जगन्नाथ तथा हिंदी के अनेक रीतिकालीन आचार्यों[3] ने मान्यता प्रदान की।

---

१ : प्रौढोक्तिरशक्तस्य तद्शक्तत्वकल्पनम् । — चन्द्रालोक, ५७

२ : प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् । — कुवलयानन्द, १२५

३ : (क) हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग — पृ० ३०८

(ख) [illegible]

मानस मे प्रौढोक्ति के एक-दो उदाहरण ले—

उर मनि माल कबु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज बल सीवा ॥

१.२३३.७

हाथो की सु दरता का उत्कर्ष वर्णित करने के लिए कामदेव के हाथी के बच्चे की सूँड कहा गया है। हालाँकि राम की भुजाओ मे अपना ही सहज सौंदर्य है—उसे काम-कलभ से क्या लेना है ?

इसी प्रकार—

करुन किंकिनि नूपुर वाजहि। चलि विलोकि काम गज लाजहि ॥

१.३१८.४

चाल देखकर कामदेव के हाथी के लज्जित होने मे अकारण को ही कारण वतलाया है और यहाँ कवि का लक्ष्य सीता की चाल का उत्कर्ष-वर्णन है।

## १३ : सभावना :

संभावना का सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया। उनके अनुसार किसी दूसरे कार्य की सिद्धि के लिए यदि ऐसा हो तो ऐसा हो—वर्णन हो तो संभावना अलंकार होता है।[1] अप्पय दीक्षित ने इसे मान्यता प्रदान की,[2] किन्तु पडितराज जगन्नाथ ने इसके अलकारत्व का खंडन करते हुए इसका समावेश अतिशयोक्ति के तृतीय भेद के अतर्गत किया है।[3] हिन्दी के रीतिकालिन आचार्यों[4] ने इसका विवेचन अपने ग्रथो मे किया है।

मानस मे सभावना का ऐसा सुन्दर निरूपण हुआ है कि इन्ही स्थलो के आधार पर इसके अलंकारत्व मे किसी को सन्देह नही रह जाता। अपने कथन की पुष्टि के लिए केवल एक उदाहरण अलम् समझता हूँ—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई ॥
सोभा रजु मन्दरु सिगारू। मथै पानि पंकज निज मारू ॥

येहि विधि उपजे लछि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहि सीय समतूल।

१.२४७.७—१०

जिस लवणसागरोद्भवा लक्ष्मी के भाई विष हो और बहन वारुणी हो, उसके साथ सर्वगुण-सम्पन्ना अयोनिजा सीता की समता करके तुलसीदास अयशभाजन होना नही चाहते। किन्तु सीता के रूप के वारे मे मौन साध ले, कोई वर्णन न करे, तो कवि कहलाने के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ? कवि "कवलृ" धातु से उत्पन्न है जिसका अर्थ है कल्पना करना। कवि अपनी व्युत्पत्त्यर्थ-सार्थकता सिद्ध करने के लिए ही मानो सीता की सुन्दरता का वर्णन करता है।

---

१ : सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोन्यप्रसिद्धये। – चन्द्रालोक, ५/४८

२ : कुवलयानन्द,—१२६

३ ; रसगंगाधर,

४ : (क) जो यों होय तु होय यों, जहँ संभावन होय।
सभावना तासो कहत विमल ज्ञान मति धोय ॥—मतिराम, ललितललाम, २६६

(ख) जो यों होय तो होय यों, सभावना सुजानि—भिखारीदास, काव्यनिर्णय, १५/२६

खारे समुद्र के वदले यदि छविसंपन्न सुधासागर हो, कठोर पीठवाला कच्छप नही, वरन् परम रूपमय कच्छप हो, रुखरी रस्सी नही, वरन् शोभा की ही रस्मी हो, पत्थर, कंकड झाड़-झंखाड़ वाला पहाड़ नही, वरन् श्रृंगार ही मंदराचल हो, विकराल दानव नहो, वरन् रूप के प्रतिमान कामदेव ही स्वयं अपने कर-कमलो से मंथन करे, तो सुन्दरता और सुख की मूलस्वरूपा जो लक्ष्मी उत्पन्न होगी तव वही सीता के रूप की समता मे वह समुपस्थित की जा सकती है। लक्ष्मी तो सुन्दर हैं ही, किन्तु सदा सुखमूल नही होतीं—विपद्-मूल भी हो जाती है—नारद-प्रसंग या हम अपने दैनंदिन जीवन मे लक्ष्मी की दु.खमूलता का अनुभव कर सकते हैं। इसलिए गोस्वामी जी ने केवल सौदर्यमूला लक्ष्मी नही वरन् सुखमूला लक्ष्मी के सीता को उपमित करना चाहा है। सीता कभी भी, किसी भी परिस्थिति मे दु.ख दे ही नही सकती।

गोस्वामी जी ने उन सारी चीजो की चर्चा की, किन्तु उनमे कामदेव तो त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही विकार है। अत. विकारी पदार्थ के मथने का भी तो प्रभाव पड सकता है। दूसरी वात ऐसी लक्ष्मी उत्पन्न की जा रही है, सीता तो स्वयं उत्पन्न हुई थी। अतः स्वयमुत्पन्ना सीता से उत्पादिता लक्ष्मी के समता-प्रदर्शन मे संकोच तो करना ही पड़ेगा।

यहाँ सम्भावना अपने पूरे सौन्दर्य के साथ विद्यमान है।

## १४ मिथ्याध्यवसित

मिथ्याध्यवसित का मिथ्याध्यवसाय के रूप मे सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया है।[१] उनके अनुसार जहाँ कार्य और कारण की मिथ्या कल्पना कर कार्य मे सिद्धि का वर्णन किया जाय, वहाँ मिथ्याध्यवसाय अलंकार होता है। अप्पय दीक्षित इसे मिथ्याध्यवसित कहते हैं और इसकी परिभाषा मे थोड़ा परिवर्त्तन करते हैं। दीक्षित के विचार से जहाँ किसी मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दूसरे मिथ्यात्व की कल्पना की जाय वहाँ मिथ्याध्यवसित अलंकार होता है।[२] पण्डितराज जगन्नाथ मिथ्याध्यवसित को स्वतंत्र अलंकार न मानकर इसे प्रौढोक्ति मे ही अन्तर्भूत मानते हैं।[३] हिन्दी के अनेक आचार्यों[४] ने अप्पय दीक्षित का अनुसरण किया है और उन्होने अपने ग्रन्थो मे इसे विवेचित किया है।

मानस से इस अलंकार के उदाहरण लें—

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥
ता तें अब लगि रहिउँ कुमारी। मनु माना कछु तुम्हहि निहारी॥
३.१७.९-१०

शूर्पणखा एक झूठ समर्थन के लिए दूसरा झूठ बोल रही है। उसने कब तीनों लोकों का भ्रमण किया कि कहीं उसके अनुरूप वर नहीं मिला? क्योंकि उसके अनुरूप उसे कोई पुरुष न मिला, इसीलिए उसने अभी तक विवाह ही नहीं किया। पाठक जानते हैं कि शूर्पणखा कुंआरी नहीं, वरन् विवाहिता थी।

---

१ : [illegible] —चन्द्रालोक, ५/७
२ : [illegible] —कुवलयानन्द, [illegible]
३ : हिन्दी रसगंगाधर, [illegible], पृ० [illegible]
४ : [illegible]

एक के वाद दूसरा झूठ वोलने मे भी आलंकारिको ने अलंकारत्व अन्वेषित किया है और कहना न होगा कि ऐसे प्रसंग कितने रोचक है।

मानस मे मिथ्याध्यवसित की दूसरी कोटि मिलेगी जहाँ कवि सिद्धान्त-निरूपण करना चाहता है—

बारि मथे घृत होइ वरु सिकता तें बरु तेल।
विनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

७.१२२

## १५ : ललित :

ललित के उद्भावन का श्रेय अप्पय दीक्षित को है। उनके अनुसार वर्णनीय वृत्तान्त का वर्णन न कर उसके प्रतिबिम्ब-वर्णन मे ललित अलंकार होता है।[1] ललित को अलंकार माननेवाले पंडितराज जगन्नाथ[2] तथा हिन्दी के अनेक आचार्य है,[3] किन्तु विश्वेश्वर[4] तथा नागेश भट्ट[5] इसे निदर्शना का ही प्रकार मानते है।

मानस मे ललित के अनेकानेक ललित उदाहरण प्राप्त होते हैं :—

१ : प्रभु करुनामय परम बिवेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी॥

२.९७.५

२ : तिन्ह कहँ कहिअ नाथ किमि चीन्हे। देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे॥

१.२९२.३

इन उदाहरणो मे कथन की एक अभिनव भंगिमा दीख पडती है, और यही भंगिमा इन उदाहरणो को अलंकार कोटि मे लाने के लिए पर्याप्त है।

## १६ : प्रहर्षण :

प्रहर्षण की सर्वप्रथम स्थापना करने वाले जयदेव है। उनके अनुसार जहाँ प्रयत्न के बिना ही इच्छा से अधिक लाभ हो जाय, वहाँ प्रहर्षण अलकार होता है।[6] इसका समर्थन अप्पय दीक्षित ने किया और उन्होने प्रहर्षण के तीन भेदो[7] की कल्पना की।

---

१ : वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।—कुवलयानन्द, १२

२ : हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग, पृ० ३१८

३ : वर्ण्य वाक्य के अर्थ को जहँ केवल प्रतिबिम्ब—मतिराम, ललितललाम, ३००

४ : अलंकार-कौस्तुभ, पृ० २६८

५ : उद्योत, पृ० ४८१

६ : वांच्छितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्।—चंद्रालोक, ५/४६

७ : (क) उत्कण्ठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्न प्रहर्षणम्।
(ख) वांछितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
(ग) यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात् साक्षाल्लाभ फलस्यच।—कुवलयानन्द, १२९, १३०, १३१

१ : जहाँ उपाय के विना ही ईप्सित वस्तु की प्राप्ति हो जाय।

२ : जहाँ ईप्सित वस्तु से अधिक वस्तु की प्राप्ति हो जाय।

३ : जहाँ उपाय-सिद्धि के यत्न से ही साक्षात् फल प्राप्त हो जाय।

प्रहर्पण को पंडितराज जगन्नाथ[1] तथा अनेक रीतिकालीन[2] आचार्यो ने स्वतंत्र अलंकार माना है। काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन भट्ट ने प्रहर्षण के तीनों भेदो को समाधि अलंकार मे अंतर्विष्ट माना हैं।[3]

प्रहर्षण का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् अत्यंत हर्ष। उपाय के विना ही इष्ट-प्राप्ति, ईप्सित से अधिक प्राप्ति तथा उपाय से ही इष्ट-प्राप्ति मे अत्यधिक हर्ष का होना स्वाभाविक है। इसलिए कवि हर्षोत्फुल्ल वातावरण के चित्रण मे प्रहर्पण का आश्रय ग्रहण करता है।

मानस मे विविध प्रहर्षण के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते है।

प्रथम प्रहर्पण :

निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रम जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

३.९

मुनिवृन्द निशिचर-नाश तथा श्रीराम के दर्शन चाहते थे। श्रीराम की प्रतिज्ञा से निशिचर नाशवाला मनोरथ सिद्ध होता है तथा श्रीराम के स्वय मुनियो के आश्रम जाने मे मुनियो को श्रीराम के दर्शन विना किसी यत्न के प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इस एक दोहे मे उपाय के विना ही दो-दो इष्टार्थ की सिद्धि हो जाती है। प्रथम प्रहर्पण का यह वडा ही अनुकूल अवसर है।

द्वितीय प्रहर्पण :

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन विदित भगत भयहारी॥

१ १८९.४

राजा दशरथ ने गुरु वशिष्ठ से सुनाया कि उन्हे सब कुछ तो है किन्तु एक भी पुत्र नहीं है। गुरु वशिष्ठ ने आशीर्वाद दिया कि तुम्हें एक क्या, चार पुत्र होंगे। वे भी साधारण नहीं। वे चारो तीनो लोको में प्रसिद्धि प्राप्त करेंगे तथा भक्तो का भय दूर करेंगे। इस तरह दशरथ की इच्छा एक विशेषण-रहित पुत्र प्राप्त करने की थी, उन्हे विशेषण-सहित चार पुत्रो की प्राप्ति का आशीर्वाद मिला। इसलिए इस स्थान में यहाँ अधिक लाभ का वर्णन होने से द्वितीय प्रहर्षण स्पष्ट है।

तृतीय प्रहर्पण :

येहि विधि मन विचार कर राजा। आये गए कपि सहित समाजा॥

५ २६.२

१ : हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग, पृ० ३२२–३२६

२ मतिराम, ललितललाम, ३०२–३०८

३ : हिन्दी साहित्यकोश, पृ० ४६९

सुग्रीव मन मे विचार कर ही रहे थे कि जबतक प्रभु-कार्य हुआ नही तबतक अंगद मधुवन उजाडते नही। इसी बीच कपि समाज-सहित आ गये। उपाय की खोज हो ही रही थी कि फल प्राप्त हो गया। अत यहाँ तृतीय प्रहर्पण है।

मानस मे तृतीय प्रहर्पण के ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते है जो दूसरे अलंकारो से ससृष्ट है। जहाँ प्रहर्पण उत्प्रेक्षा-ससृष्ट या उपमा-संसृष्ट है, वहाँ तो और भी चित्ताह्लादक बन गया है। उदाहरण के लिए दो-एक प्रसंग प्रस्तुत हैं—

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयेउ जनु पोत॥ ७.१
प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।
आइ गइउ हनुमान जिमि करुना महँ वीर रस॥ ६.६१

विरह-सागर मे ऊब-डूब करते भरत के समक्ष विप्ररूप हनुमान का आगमन, डूबते को तिनके का सहारा नही, वरन् जहाज का सहारा मिल गया है। भरत मन-ही-मन साधन ढूँढ ही रहे होगे, किन्तु इसी बीच हनुमान का मानो जलयान की तरह आ धमकना भरत के लिए प्रहर्षण हुआ हो, भरतानुरागियो के लिए भी कम प्रहर्पण नही हुआ। इस उत्प्रेक्षोत्थित प्रहर्पण मे जो विशेप प्रकार की विच्छिरित्ति आ गयी है, उसका विशकलन तो काव्य-प्रेमी ही करेंगे।

द्वितीय उदाहरण मे लक्ष्मण-मूर्च्छा के अनन्तर राम के विलाप से सभी वानर व्याकुल है। हनुमान को गये देर हो गयी है। वे सब संजीविनी के लिए छटपटा रहे है। अनेक मन मे ही कोई-न-कोई उपाय ढूढ रहे होगे. किन्तु अपनी-अपनी अक्षमता जानकर मन मसोम कर रह जाते होगे। इसी बीच सहसा हनुमान का वैसा ही आगमन हुआ है जैसा करुण रस के प्रसग मे वीर रस आ पहुँचता हो। निराशा और रुदन के बीच आशा और उल्लास की रश्मियाँ फूटती हो। हनुमान के आने के बाद ही वातावरण बिल्कुल बदल गया होगा—सभी हताश-निराश एक बार प्रफुल्ल हो उठे होगे। इस प्रकार इस उपमोत्थित प्रहर्षण के द्वारा जो हर्पातिरेक फैला है—वह सचमुच बडा ही श्लाघ्य है।

मानस मे प्रहर्पण के अनेको उदाहरण प्राप्त होते हैं और इससे पता चलता है कि गोस्वामी जी को तत्तत् परिस्थितियो मे अपने को डाल देने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी बहुत कम कवियो को रहती है।

१७. विपादन :

विपादन प्रहर्पण का प्रतिलोम अलकार है। इसके उद्भावन का श्रेय जयदेव को है, जयदेव के अनुसार जहाँ इच्छा के विरुद्ध फल-प्राप्ति हो, वहाँ विषादन अलंकार होता है।[१] इसका समर्थन संस्कृत के आचार्य अप्पय दीक्षित[२] तथा पंडितराज जगन्नाथ[३] तथा अनेक रीतिकालीन आचार्यों[४] ने किया।

---

१ : इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विपादनम्।—चन्द्रालोक ५/५०
२ : कुवलयानन्द, १३२
३ : हिन्दी रसगंगाधर—तीसरा भाग, पृ० १२६—१२६
४ : भूषण—शिवराजभूषण, २१७
दास—काव्यनिर्णय, १५

मानस मे विषादन के एक-दो उदाहरण ले—

१ : कहहि परसपर पुर नर नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी॥ २.७६.३

२ : एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा दिखाइ दीन्ह विष जेहीं॥ २.४९.१

राम-वनवास से संवद्ध दोनो उदाहरणो में इच्छा के विरुद्ध फल-प्राप्ति का स्पष्ट वर्णन है। अत· विषाद की स्थिति व्याप्त हो गयी है।

१८. उल्लास :

उल्लास का प्रथमोल्लेख करनेवाले जयदेव हैं। उनके अनुसार जहाँ किसी वस्तु की महिमा के वर्णन करने से उसका दोष किसी दूसरी वस्तु पर पड़े, वहाँ उल्लास अलंकार होता है।[1] इसे मान्यता प्रदान करते हुए अप्पय दीक्षित का कथन है कि एक वस्तु के गुण और दोष से दूसरी वस्तु के गुण और दोष के वर्णन को उल्लास अलंकार कहते हैं।[2] पंडितराज जगन्नाथ तथा अनेक रीतिकालीन आचार्य[3] इसे स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं। उद्योतकार उल्लास के पिछले दोनो भेदो (गुण से दोष और दोष मे गुण ग्रहण करने मे) को विषम अलंकार के अन्तर्गत बतलाते हैं और रसगंगाधर मे लिखा है कि कुछ आचार्य उल्लास को "काव्यलिंग" के अन्तर्गत मानते हैं।[4]

उल्लास उत्+लस् धातु के योग से बना है जिसका अर्थ है उत्कट सम्बन्ध। इस अलंकार मे एक वस्तु के उत्कट गुण-दोष के सम्बन्ध मे दूसरे के गुण-दोष प्राप्त होने का वर्णन किया जाता है। इस तरह अप्पय दीक्षित के अनुसार ही उल्लास के चार भेद हो जाते हैं—

१ : एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का गुण-ग्रहण।
२ : एक वस्तु के दोष से दूसरी वस्तु का दोष-ग्रहण।
३ : एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु का दोष-ग्रहण।
४ : एक वस्तु के दोष से दूसरी वस्तु का गुण-ग्रहण।

मानस मे उल्लास के चतुर्विध उदाहरण सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाते है—

१ : (क) मज्जन फलु पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥ १.३.१

(ख) सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥ १.३.६

दोनो उदाहरणो मे उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुओ से निकृष्ट गुणवाली वस्तुएँ गुण-युक्त हो रही हैं। मज्जन से काक पिक और बक मराल हो रहे हैं। सत्संगति से सठ सुधर रहे हैं। पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो रहा है। यहाँ एक के गुण का आधान सहज ही दूसरे में हो रहा है— यह प्रथम उल्लास है।

---

२ : निज पद नयन दिएँ मन राम कमल पद लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन ॥

५.८

यहाँ एक के दु.ख रूपी दोप से दूसरे का दोषयुक्त होना बतलाया गया है इसलिए दूसरा उल्लास है।

३ : दीख मन्थरा नगर बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा ॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलकु सुनि भा उर दाहू ॥

२.१३.१-२

राम-तिलक रूपो गुण से मन्थरा के हृदय मे दाहरूपी दोप उत्पन्न होने मे तृतीय उल्लास है।

४ : खल परिहास होय हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा ॥

१.९.१

खल परिहास रूपी दोप के हित रूपो गुण होने मे चतुर्थ उल्लास है।

१९ : अवज्ञा :

अवज्ञा वस्तुतः उल्लास का विलोम अलंकार है। जिसकी सर्वप्रथम चर्चा जयदेव ने की है। जयदेव के अनुसार एक के गुण-दोष से दूसरे के गुण-दोप अगीकृत न करने पर अवज्ञा अलंकार होता है।[1] इस अलकार को अप्पय दीक्षित[2] ने मान्यता प्रदान की। पंडितराज जगन्नाथ[3] ने भी इसका विवेचन किया है, किन्तु उनका कथन है कि अवज्ञा विशेपोक्ति मे ही गतार्थ हो जाती है। अत. कुछ लोग इसे स्वतन्त्र अलकार मानने के पक्ष मे नही है। जयदेव और अप्पय दीक्षित का अनुधावन कर रीतिकालीन आचार्यो[4] ने इसे परिभाषित-उदाहृत किया है।

उल्लास की तरह ही अवज्ञा के चार भेद सम्भव है—

१ · जहाँ एक वस्तु के गुण से दूसरी वस्तु गुण ग्रहण नही करे।
२ जहाँ एक वस्तु के दोप से दूसरी वस्तु दोप ग्रहण नही करे।
३ : जहाँ एक वस्तु के दोप से दूसरी वस्तु दोष ग्रहण नही करे।
४ : जहाँ एक वस्तु के दोष से दूसरी वस्तु गुण ग्रहण नही करे।

अप्पय दीक्षित ने अवज्ञा के प्रथम दो ही भेदो को माना है[5] किन्तु भिखारी दास[6] ने अपने काव्यनिर्णय मे कुल चार भेदो का विवेचन किया है।

मानस मे अवज्ञा के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है :—

१ : पायस पालिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥

१.५ २

यहाँ पायस की मधुरता के गुण का ग्रहण काग नही कर रहा है अतः प्रथम अवज्ञा है।

खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू ॥

१.७ ४

---

१ : अवज्ञा वर्ण्यते वस्तुगुणदोषाक्षमं यदि।—चंद्रालोक ५/१०७
२ : कुवलयानन्द,—१३६
३ : हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग,—पृ० ३३३ से ३३५
४ : औरें के गुण दोष ते औरे के गुन दोष। जहँ न अवज्ञा तहँ कहत कविजन बुद्धि अदोप ॥
मतिरामकृत ललितललाम, ३१७
५ : कुवलयानन्द,—पृ० २२६
६ : काव्यनिर्णय,—१५/१८-१९

सत्संगति के गुण से खल असंपृक्त रह जाते है। अतः प्रथम अवज्ञा है।

२ : बिधिबस सुजन कुसंगति परही। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥

१.३.१०

कुसंगति का दोष सुजनो को नही व्यापता है, इस लिए दूसरी अवज्ञा है।

## २० : अनुज्ञा

अनुज्ञा के उद्भावन का श्रेय अप्पय दीक्षित को है। उनके अनुसार जहाँ किसी दोष की इच्छा इसलिए की जाय कि उसमे किसी विशेप गुण की स्थिति हो, वहाँ अनुज्ञा अलकार होता है।[१] पंडितराज जगन्नाथ ने भी इसे मान्यता प्रदान की।[२] अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ का अनुवर्त्तन कर अनेक रीतिकालिन आचार्यो ने इसका विवेचन किया है।[३]

मानस मे अनुज्ञा के उदाहरणो का अभाव नही है :—

रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना ॥

१.३१७ ६

इन्द्र ने गौतम-शाप रूपी दोप को इसलिए उत्तम माना; क्योकि वे हजार नेत्रो से दूलह राम के सौन्दर्य का अवलोकन कर रहे है।

मानस मे अनुज्ञा का प्रयोग इन अवसरो पर हुआ है :—

१ : राम के ससर्ग रूप के कारण दोप रूप से प्रसिद्ध वस्तुओ की लालसा मे।

२ राम की भक्ति रूप गुण के कारण दोप रूप प्रसिद्ध वस्तुओ की श्रेष्ठता के वर्णन मे।

३ : मागलिक अवसरो पर उपस्थित होने के कारण दोप रूप से प्रसिद्ध वस्तुओं के उत्कर्प-वर्णन मे।

## २१ . लेश :

लेश का सर्वप्रथम उल्लेख दंडी ने किया है। उनके अनुसार अंशत निन्दा की स्तुति एवं स्तुति की निन्दा करना लेश अलंकार कहलाता है।[४] इसका विवेचन भोजराज, रुद्रट, वाग्भट, अप्पय दीक्षित तथा पडितराज जगन्नाथ-जैसे संस्कृत आलंकारिको एवं हिन्दी के अनेक रीतिकालीन आचार्यो ने किया है। लेश की परिभाषा अप्पय दीक्षित ने इस प्रकार दी हैं—जहाँ दोप को गुण तथा गुण को दोप के रूप मे कल्पित किया जाय, वहाँ लेश अलकार होता है।[५]

इस प्रकार लेश के दो भेद हुए—

१ : दोप की गुणत्व-कल्पना।

२ : गुण की दोपत्व-कल्पना।

मानस में लेश के द्विविध उदाहरण प्राप्त होते हैं—

१ : मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजु। कीन्ह कइकई सबकर काजू ॥
२.१७६.५

या

जो बिवाहु संकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई ॥
१.६९.४

प्रथम उदाहरण मे अवाछित राज्य को सुख मानने मे दोष को गुण माना गया है। द्वितीय उदाहरण मे सारे दोपो का शंकर रूप गुण-कथन मे तो दोप मे गुण स्पष्ट ही है।

२ : गुण मे दोपत्व.कल्पना।

गुनह लखन कर हमपर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥
१.२८१.५

यहाँ सरलता रूपी गुण मे दोप की कल्पना की गयी है।

## २२ : रत्नावली :

रत्नावली के उद्भावन का श्रेय अप्पय दीक्षित को है। वैसे भोजराज के शब्दालंकार के एक भेद—क्रमगत गुम्फना—मे इसका मूल उत्स ढूँढा जा सकता है। भोजराज के अनुसार जहाँ एक वाक्य मे शब्दार्थ की रचना क्रमपूर्वक की जाय वहाँ क्रमागत गुम्फना होती है। भोजराज ने "क्रमगता गुम्फना" का जो उदाहरण दिया है, अप्पय दीक्षित ने "रत्नावली"[1] का ठीक वही उदाहरण दिया है।

अप्पय दीक्षित के अनुसार जहाँ प्रकृत अर्थो को प्रसिद्ध क्रम के आधार पर ही रखा जाय, वहाँ रत्नावली अलकार होता है।[2] अप्पय दीक्षित का अनुगमन अनेक रीतिकालीन आचार्यो ने किया है।[3]

मानस में ऐसे गौण अलंकार के एक-दो उदाहरण मुश्किल से प्राप्त होते हैं। श्रीरामचन्द्र द्विवेदी लिखते है कि तुलसीदासजी-कृत ग्रथो मे मुझे कोई उदाहरण इस अलंकार का स्मरण नही आया।[4] किन्तु तुलसी-साहित्य की वात तो दूर, मानस मे ही रत्नावली के अनेक सुन्दर प्रयोग मिलते हैं—

१ : बहुरि बछ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय हरषित निरखिहीं गात ॥
२.६८

यहाँ वत्स, लाल, रघुपति तथा रघुवर क्रमशः चार अवस्थाओ के द्योतक हैं।

२ : बिधि हरिहर मय वेद प्रान सो। अगुन अलौकिक गुण निधान सो ॥
१.१९.२

---

१ : सरस्वतीकंठाभरण, १८३ तथा कुवलयानंद, २३४

२ : क्रमिकं प्रकृतार्थानांन्यामं रत्नावलीं विदु।—कुवलयानंद, १४०

३ : (क) प्रस्तुत अर्थनि को जहाँ क्रम तें थापन होय।—मतिराम, ललितललाम, ३२९
(ख) प्रकृत अरथ पर पद जहाँ सत्य अर्थ के ताहिं।—पद्माकर, पद्माभरण, २३४

४ : तुलसीसाहित्यरत्नाकर, ५००

## २३ : पूर्वरूप :

पूर्वरूप तद्गुण की कोटि का अलंकार है। उसका सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया।[१] अप्पय दीक्षित ने इसका अनुमोदन करते हुए इसके दोनो भेदो[२] को ग्रहण किया। उनके अनुसार जहाँ कोई वस्तु अपने गुण का त्याग कर पुनः अपने गुण को प्राप्त कर ले, वहाँ प्रथम पूर्वरूप अलंकार होता है। द्वितीय पूर्वरूप वहाँ होता है जहाँ किसी वस्तु के विकृत हो जाने पर भी पूर्वावस्था की अनुवृत्ति हो। मम्मट, रुय्यक तथा पंडितराज जगन्नाथ पूर्वरूप को पृथक् अलंकार नही मानते, किन्तु अप्पय दीक्षित का अनुवर्त्तन करनेवाले अनेक रीतिकालीन आचार्य[३] इसका विवेचन करते हैं।

मानस मे द्विविध पूर्वरूप के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है—

१ : लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥
उघरहिं अन्त न होइ निबाहू। काल नेमि जिमि रावण राहू॥
१.७, ५-६

कह सीता सुनु जती गुसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नामु सुनावा॥
३.२८. १२-१३

दोनों उदाहरणों में वस्तुओ के पररूप होने के पश्चात् स्वगुण-संप्राप्ति का वर्णन है, अतः पूर्वरूप अलंकार है।

२ : खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू॥
१.७.४

या

कामचरित नारद तब भाषे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे॥
१.१२८.७

दोनो मे प्रथमतः तो पूर्वावस्था के विकार का वर्णन है, फिर पूर्वावस्था का अनुवर्त्तन हो रहा है। अतः द्वितीय पूर्वरूप अलंकार है।

## २४ : अनुगुण :

अनुगुण के प्रतिष्ठापक जयदेव है। उनके अनुसार जहाँ किसी दूसरी वस्तु के सान्निध्य से स्वतः सिद्ध गुण का उत्कर्ष वर्णित हो, वहाँ अनुगुण अलंकार होता है।[४] उस अलंकार को मान्यता प्रदान करने वाले अप्पय दीक्षित[५] तथा अनेक रीतिकालीन आचार्य है।[६]

---

१ : चंद्रालोक—५/१०३-१०४
२ : (क) पुनः स्वगुणसंप्राप्ति पूर्वरूपमुदाहृतम्।
(ख) पूर्वावस्थानुवृत्तिश्च विकृते सति वस्तुनि।
३ : (क) मतिराम, ललितललाम, दो०, ३३३-३३६
(ख) पद्माकर, पद्माभरण, दो०, २३८-२३९
४ : प्राक्सिद्धस्य गुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसन्निधेः।—चन्द्रालोक, ५/१०५
५ : कुवलयानंद—१४४
६ : (क) [illegible] अधिक संगति और के [illegible] आपनो [illegible]।—मतिराम, ललितललाम, [illegible]
(ख) संगति तें पूरब सु गुन, बढ़ै [illegible] अनुगुन [illegible]।—पद्माकर, पद्माभरण, २४१

मानस से इनका एक रम्य उदाहरण ले—

**मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥**
**नृपकिरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥**

१.११.१-२

मणि, माणिक्य तथा मोती मे स्वाभाविक सुदरता तो है ही, किन्तु जब वे नृपकिरीट एवं युवती के शरीर को प्राप्त करते है तो उनकी सुंदरता मे चार चाँद लग जाते है।

मानस मे ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते है!

२५ : उन्मीलित :

उन्मीलित का सर्वप्रथम उल्लेख जयदेव ने किया। जयदेव के अनुसार अत्यन्त समान उपमेय और उपमान मे किसी कारण से भेद-प्रतीति हो जाने पर उन्मीलित अलंकार कहलाता है।[१] अप्पय दीक्षित के अनुसार मीलित के लक्षण होने पर भी किसी कारण विशेष से भेद-ज्ञान उत्पन्न होने मे उन्मीलित अलंकार होता है।[२] पडितराज जगन्नाथ इसे पृथक् अलंकार न मानकर इसका समावेश अनुमान मे करते हैं।[3] कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ ने अपनी पुस्तक चन्द्रिका मे अप्पय दीक्षित के मत का पुनःस्थापन किया है।[४] रीतिकालीन अनेक आचार्यों ने उन्मीलित को स्वतन्त्र अलंकार माना है।[५]

मानस से उन्मीलित का उदाहरण लें—

**प्रनवौं परिजन सहित विदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥**
**जोग भोग महुँ राखेउ गोई। राम विलोकत प्रकटेउ सोई॥**

१.१७.१-२

श्री जनक का प्रेम योग और भोग मे मिल गया था, किन्तु श्रीराम को देखते ही वह मिला हुआ प्रच्छन्न प्रेम प्रकट हो गया। अत यहाँ स्पष्ट रूप से उन्मीलित है, जिसका उपयोग गोस्वामी जी ने जनक के भक्ति-प्रदर्शनार्थ किया है। जनक केवल योगी ही नही, केवल राजा ही नही, वरन् उत्कृष्ट भक्त भी थे, इसकी वड़ी सटीक व्यजना कवि ने इस चौपाई के माध्यम से की है।

२६ : पिहित

"पिहित" अलंकार का सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने किया है। रुद्रट के अनुसार एक अधिकरण मे रहनेवाला गुण अपनी प्रबलता से जहाँ प्रकट होते हुए भी असमान गुण को आच्छादित कर लेता है, वहाँ पिहित अलंकार होता है। असमान गुण का उल्लेख रुद्रट ने मीलित अलंकार से पिहित के पार्थक्य-प्रदर्शन के लिए किया है। पिहित का सरलार्थ है आच्छादित कर लेना—किसी दूसरी

---

१ : हेतोः कुतोऽपि वैशिष्ट्यात् स्फूर्तिरुन्मीलितं मतम्। —चन्द्रालोक, ५/३५
२ : भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ। —कुवलयानन्द, १४८
३ : हिन्दी रसगंगाधर, तीसरा भाग, ३५४
४ : कुवलयानन्द, २४३-२४४
५ : (क) मतिराम, ललितललाम, ३४५
(ख) भेद फुरै मीलित विषै, उन्मीलित चितचेप।—पद्माकर, पद्माभरण, २४४

वस्तु को ढँक लेना। जयदेव तथा अप्पय दीक्षित ने इसकी बिलकुल भिन्न परिभाषा दी है।[1] दीक्षित के अनुसार जहाँ दूसरे के गुप्त वृत्तान्त को जानकर कोई व्यक्ति साभिप्राय चेष्टा करे, वहाँ पिहित अलंकार होता है।[2] दीक्षित को इस परिभाषा मे पिहित के आच्छादन अर्थ की व्याप्ति नहीं मालूम पड़ती। अप्पय दीक्षित ने पिहित का जो उदाहरण दिया है, उसे ही मम्मट ने सूक्ष्मालंकार का उदाहरण माना है।[3] जयदेव तो सूक्ष्म का उल्लेख ही नहीं करते। अप्पय दीक्षित सूक्ष्म और पिहित दोनो का उल्लेख करते है। अप्पय दीक्षित के सूक्ष्म और पिहित दोनो का अन्तर्भाव मम्मट के सूक्ष्म मे हो जाता है। यदि रुद्रट की परिभाषा मानें तो अलबत्ता पिहित स्वतन्त्र अलंकार मालूम होता है।

जिन विद्वानों ने रामचरितमानस मे पिहित अलंकार के उदाहरण दिये है, उन्होने रुद्रट और अप्पय दीक्षित का अनुगमन न कर स्वेच्छया परिभाषाएँ गढ़ डाली हैं और तदनुकूल उदाहरण दे दिये हैं। एक-दो उदाहरण पर्याप्त होगे—

रघुनाथ दास ने लिखा है—

अथ पिहित छिपी बात बताय देई

यथा—

अंगद नाम बालिकर बेटा। तासो कबहु कि भईहि भेंटा॥[4]

श्री रामचन्द्र द्विवेदी लिखते है—

जहाँ कोई अपना वृत्त छिपाना चाहे, परन्तु उसके प्रकट हो जाने का वर्णन किया जाय, वहाँ पिहित अलंकार होता है।[5] उदाहरण—

१ : कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥
१.५३.८

२ : तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सबु जाना॥
१.५६.४

३ : कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदयँ सराहत सीलु सुभाऊ॥
२.२८६ ७-८

२७ : युक्ति :

युक्ति को अर्थालंकार के रूप मे प्रतिष्ठित करनेवाले अप्पय दीक्षित हैं। वैसे तो दो भिन्न प्रसंगो मे भोजराज तथा जयदेव ने युक्ति का विवेचन किया है। भोजराज ने २४ शब्दालंकारो मे युक्ति को भी परिगणित किया है। उनके अनुसार जहाँ परस्पर अयुज्यमान शब्द या अर्थ की योजना होती है, वहाँ युक्ति अलंकार होता है। युक्ति के पदयुक्ति, पदार्थयुक्ति, वाक्ययुक्ति, वाक्यार्थ-

---

१ : यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम्।
अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम्।—काव्यालंकार, ६/६०

२ : पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्।—कुवलयानन्द, १५२

३ : काव्यप्रकाश, १०/२२

४ : मानस-मयूख, वर्ष २, प्रकाश ४, २६१

५ : [illegible], ५०३

युक्ति, प्रकरणयुक्ति तथा प्रबन्धयुक्ति—छह भेद किये हैं।[१] जयदेव के अनुसार जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय मे किसी चमत्कारी अर्थान्तर की सिद्धि हो, वहाँ युक्ति होती है।[२] अप्पय दीक्षित इन दोनो से बिलकुल भिन्न परिभाषा देते है। अपने रहस्य को छिपाने के लिए क्रिया द्वारा दूसरे की व्यजना युक्ति कहलाती है।[३] व्याजोक्ति और युक्ति मे अन्तर यह है कि व्याजोक्ति मे गोपन उक्ति द्वारा होता है, युक्ति मे क्रिया द्वारा, व्याजोक्ति मे आकार गोपन होता है, युक्ति मे प्रेम आदि का। हिन्दी के अनेक रीतिकालीन कवियो ने भोजराज और जयदेव का अनुसरण न कर अप्पय दीक्षित का अनुसरण किया है।[४]

मानस मे युक्ति के कुछ ऐसे उदाहरण मिलते है कि युक्ति की अलंकारता सार्थक हो जाती है। ग्राम-मार्ग से राम-लक्ष्मण और सीता जगल जा रहे हैं। ग्रामीण स्त्रियो ने सीता से पूछा है कि साँवरे सलोने आपके कौन लगते हैं? गोस्वामी जी ने बडी ही सहज रीति से युक्ति द्वारा इसका उत्तर दिया है—

> बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय्र तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
> खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥

२ ११६ ६–७

## २८. लोकोक्ति :

लोकोक्ति को अर्थालंकारता प्रदान करने वाले सर्वप्रथम आचार्य अप्पय दीक्षित है। वैसे तो लोकोक्ति का विवेचन भोजराज ने "छाया" नामक अर्थालंकार के छह भेदो के अतर्गत किया है।[५] उनके अनुसार काव्य मे जहाँ कवि लोकोक्ति का अनुसरण करता है, वहाँ लोकोक्तिछाया होती है। कुछ इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करते हुए अप्पय दीक्षित ने लिखा है कि जहाँ लोक-प्रवाह का अनुकरण किया जाय, वहाँ लोकोक्ति अलकार होता है।[६] हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने अप्पय दीक्षित का अनुगमन करते हुए लोकोक्ति का विवेचन किया है।[७]

गोस्वामी जी जितने शास्त्रदक्ष थे, उतने ही लोकजीवन मे घुले-मिले थे। देशकाल को ध्यान मे रखते हुए उन्होने अनगिन लोकोक्तियो का प्रयोग कर मानस को उजागर किया है। मानस लोक-कंठ मे इतना बसा है, उसका एक कारण लोकोक्तियो का आकर्षक बहुल प्रयोग भी है। मानस से कुछेक लोकोक्तियो का उदाहरण देकर हम अपने कथन की संपुष्टि करेगे—

---

१ : सरस्वतीकंठाभरण, १७२
२ : युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तरान्वयात्—चन्द्रालोक, ३/६
३ : युक्तिः परातिसन्धानं क्रियया र्मगुप्तये।—कुवलयानंद, १५६
४ : (क) मतिराम, ललितललाम, ३६४
(ख) दास, काव्यनिर्णय, १६
५ : सरस्वतीककंठाभरण, पृ० १६४-१६५
६ : लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।—कुवलयानन्द, १५७
७ : (क) मतिराम, ललितललाम, ३६६
(ख) दास—काव्यनिर्णय
(ग) पद्माकर—पद्माभरण, २५७

१ : भले भवन अब बायन दीन्हा । पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥ १.१३७.५

२ : इहाँ कुम्हड़ बतिआ कोउ नाहीं । जे तरजनी देखी मरि जाहीं ॥ १.२७३.३

३ : एकहि बार आस सब पूजी । अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥ २.१६.१

लोकोक्ति का सौन्दर्य परशुराम-लक्ष्मण, मंथरा-कैकेई, रावण-अंगद-संवाद में देखा जा सकता है। जैसे ये योद्धा आपस में लोकोक्तियों के तीर से प्रतिपक्षियों को विद्ध कर देना चाहते हों।

## २९ : छेकोक्ति :

छेकोक्ति को अर्थालंकार के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय अप्पय दीक्षित को है। इसकी प्रेरणा दीक्षित जी को भोजराज के शब्दालंकार "छाया" के छह भेदों के एक भेद "छेकोक्तिछाया" से मिली। भोजराज छेकोक्तिछाया वहाँ स्वीकार करते हैं जहाँ कवि काव्य में छेक अर्थात् विदग्ध जन की उक्ति का अनुसरण करता है।[1] भोजराज की "छेकोक्तिछाया" और "लोकोक्तिछाया" बिलकुल पृथक् मालूम पड़ती हैं, किन्तु अप्पय दीक्षित ने लोकोक्ति के आधार पर ही छेकोक्ति की स्थापना की है। अप्पय दीक्षित के अनुसार जब कोई छेक अर्थात् विदग्ध व्यक्ति किसी लोकोक्ति का प्रयोग कर किसी अन्य अर्थ को व्यंजित करना चाहता है, तब छेकोक्ति अलंकार होता है।[2] अप्पय दीक्षित को ही ध्यान में रखकर अनेक हिन्दी आचार्यों ने इसका उल्लेख किया है।[3]

मानस में छेकोक्ति के भी अनेक उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं—

सत्य सराहि कहेहु बरु देना । जानेहु लेइहि माँगि चबेना ॥ २.३०.६

यहाँ "जानेहु लेइहि माँगि चबेना" में अर्थान्तर-गर्भत्व दर्शनीय है।

एक दूसरी छेकोक्ति और लें—

कछु तेहि तें पुनि मैं नहिं राखा । समुझै खग खग ही कै भाषा ॥ ७.६२.९

## ३० : अत्युक्ति :

अत्युक्ति के उद्भावन का श्रेय जयदेव को है। जहाँ शौर्य उदारता आदि का अद्भुत अतथ्यात्मक वर्णन हो, वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है।[4] काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामन इस अलंकार को "उदात्त" अथवा "अतिशयोक्ति" में अन्तर्भूत मानते हैं।[5] अप्पय दीक्षित का कथन है कि उदात्त में सम्पत्ति का अत्युक्तिमय वर्णन होता है, किन्तु अत्युक्ति में शौर्यादि का।

---

१ : विदग्धोक्तिछायामन्ये,

२ : छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता। —कुवलयानन्द, १५८

३ : (क) मतिराम, ललितललाम, २३८
(ख) पद्माकर, पद्माभरण,

४ : अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्। —चन्द्रालोक, ५/११८

५ : हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, ९२

अतिशयोक्ति का कथन किसी सीमा तक संभव भी हो सकता है, किन्तु अत्युक्ति मे बिलकुल असंभव।[1] इस तरह अप्पय दीक्षित ने भी इसे स्वतन्त्र माना और हिन्दी के अनेक रीतिकालीन आचार्यों ने उनका समर्थन किया।[2]

शौर्य, सौंदर्य, औदार्य, प्रेम तथा विरहादि की अत्युक्ति हो सकती है और इन सबका उत्तमोत्तम उदाहरण मानस मे प्राप्त हो जाएगा।

शौर्यात्युक्ति—

फह दास तुलसी जबहि प्रभु, सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि, सिन्धु भूधर डगमगे॥

६.८६ के पहले का छन्द

सुन्दरता की अत्युक्ति—

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥

१.२३०.७

औदार्य की अत्युक्ति—

सर्वस दान दीन्ह सब काहूँ। जेहि पावा राखा नहि ताहूँ॥

१.१६४ ७

प्रेम की अत्युक्ति—

प्रिया प्रान सुत सरवसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥

२.२६.५

विरह की अत्युक्ति—

सुनि बिलाप दुखहू दुखु लागा। धीरज हूँ कर धीरजु भागा॥

२.१५२.८

अत्युक्ति आराध्य नायक राम तथा अनुज लक्ष्मण तथा भक्त हनुमान के शौर्य-वर्णन के प्रसग मे खलनायक रावण, कुम्भकरण तथा मेघनाद के शौर्य-वर्णन मे देखी जा सकती है। राम के शक्ति, शील, सौदर्य एवं औदार्य तथा सीता के वर्णन मे इसका बहुश प्रयोग देखा जा सकता है।

३१ : निरुक्ति :

निरुक्ति नामक अलंकार के आविष्करण का श्रेय अप्पय दीक्षित को है। उनके अनुसार जहाँ यौगिक अर्थ के द्वारा वस्तुओ के नाम की अन्यार्थ कल्पना की जाय, वहाँ निरुक्ति अलंकार होता है।[3] अप्पय दीक्षित का अनुगमन कर अनेक रीतिकालीन आचार्यों[4] ने इसका विवेचन किया है।

निरुक्ति मे कवि चौकानेवाली प्रवृत्ति से काम लेता है। शब्दो की व्युत्पत्ति द्वारा सहज रूप मे निःसृत अर्थ से भिन्न प्रकार का अर्थ स्थापित करता है, जिसे हम बुद्धि-विलास कह सकते

---

१ : कुवलयानन्द, २६३
२ : मतिराम—ललित ललाम, ३८१
पद्माकर—पद्माभरण, २६६
३ : निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।—कुवलयानन्द, १६४
४ : (क) जहाँ जोग ते नाम को अर्थ कल्पना और।
बरनत तहाँ निरुक्ति हैं कवि कोविद सिरमौर।—मतिराम, ललितललाम, ३८४
(ख) पद्माकर, पद्माभरण, २७२

हैं। गोस्वामी जो बुद्धि-विलासी अलंकरण के चक्कर में पड़े नहीं है, इसलिए ऐसे अलंकार के एक-दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे–

१ : हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहा चरन कह माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
१.२८२ ५-६

२ : सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥
५.१२.१०

३ : नाम हमार एक तनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिरु नाई॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी॥
आदि सृष्टि उपजी जबहि, तब उतपति भै मोरि।
नाम एकतनु हेतु तेहि, देह न धरी बहोरि॥
१.१६२.७-१०

इन दोनो उदाहरणों मे "परशुराम" एवं "अशोक" एवं "एकतनु" की मौलिक व्युत्पत्ति बतलाई गयी है।

## ३२ : हेतु :

हेतु का सर्वप्रथम उल्लेख भामह[1] ने किया है, किन्तु उनके उल्लेख का कारण इसके अलंकारत्व का खंडन है। दंडी ने इसका प्रतिष्ठापन ही नही किया, वरन् वाणी का उत्तम भूषण भी माना है।[2] दडी के पश्चात् रुद्रट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित तथा अनेक हिन्दी आचार्यो ने इसका उल्लेख किया है। विश्वनाथ के अनुसार हेतु और हेतुमान् का अभेद कथन हेतु अलंकार कहलाता है।[3] हेतु और हेतुमान् का प्राक्-पूर्वभाव होता है, अभेदभाव नही। इसी विलक्षणता के कारण ऐसे वर्णन में अलंकारत्व की कल्पना की गयी। अप्पय दीक्षित ने इसके दो भेदो का विवेचन किया है—

१ : जहाँ हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का क्रमशः वर्णन किया जाय।
२ : जहाँ हेतुमान् और हेतु का अभेद का वर्णन किया जाय।

अक्रमातिशयोक्ति मे भी कारण-कार्य का वर्णन एक साथ रहता है, किन्तु एक साथ क्रमशः नही। काव्यलिंग मे ज्ञापक कारण का वर्णन रहता है, किन्तु हेतु मे उत्पादक कारण का।

मानस में द्विविध हेतु के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—

प्रथम हेतु—

१ : जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
१.२३०.३

२ : उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज लोक कोक सुखदाता॥
१.२३७.७

---

१ : हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः। —काव्यालंकार, २/८६
२ : हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।—काव्यादर्श, २/२३५
३ : अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह।—साहित्यदर्पण, २४६

३ : तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥ ५.४.८

इन उदाहरणों में हेतुमान् के साथ हेतु का अभिन्न वर्णन हुआ है।

द्वितीय हेतु :

१ : सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥ १.३५७.६

२ : सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥ १.८.२.

इन दोनों उदाहरणों में हेतुमान् और हेतु का अभेद वर्णित है।

## ३३ : रसवद् अलंकार :

भामह, दंडी तथा उद्भट-जैसे प्राचीन आचार्यों ने अलंकार के अन्तर्गत रस, भाव आदि को मान लिया है, किन्तु पीछे अलंकार रस पर तो स्वतन्त्र विवेचन किया गया तथा भावादि को गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत मान लिया गया। संस्कृत में रुय्यक, विश्वनाथ[1] तथा अप्पय दीक्षित एवं हिन्दी में पद्माकर ने इनका विवेचन किया है।

विश्वनाथ के अनुसार रस यदि किसी का अंग हो तो रसवत्, भाव, यदि किसी का अंग हो प्रेयस्, रसाभास और भावाभास जहाँ दूसरे के अंग हों वहाँ ऊर्जस्वि तथा भाव का प्रशमन जब किसी का अंग हो, तो समाहित अलंकार होता है। किसी भाव (संचारी) के उदय होने, सन्धि होने और मिश्रित होने में क्रमशः भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता अलंकार होते हैं।

इस तरह ये सात अलंकार हुए :

१ : रसवत्
२ : प्रेयस्
३ : ऊर्जस्वि
४ : समाहित
५ : भावोदय
६ : भावसंधि
७ : भावशबलता

मानस में इन अलंकारों के उदाहरण भी सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं—

१ : रसवत्

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा। १.२०८.६

यहाँ वात्सल्य का अंग भयानक है।

---

१ : रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्
भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः। —साहित्यदर्पण, पृ० ३६६-३६७

व्यालपास बस भए खरारी । स्वबस अनन्त एक अविकारी ॥

६.७३.११

यहाँ अद्भुत का अंग शान्त है ।

सियहिं विलोकि तकेउ धनु कैसे । चितव गरुरु लघु व्यालहिं जैसे ॥

१.२५९.८

यहाँ शृगार का अंग वीर है ।

२ : प्रेयस् :

सोह नवल तनु सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छवि भारी ॥

१.२४८.२

शृंगार का अंग देव-रति भाव है ।

३ : ऊर्जस्वि :

प्रभु विलोकि सर सकहिं न डारी । थकित भये रजनीचर झारी ॥

शत्रु में मोह का वर्णन जो अनुचित है ।

देखि रूप मुनि विरति बिसारी । बड़ी बार लगि रहे निहारी ॥

१.१३१-१

यहाँ मुनि में रति अनुचित है ।

४ : समाहित :

पुनि सँभारि उठी सो लंका । जोरि पानि कर विनय ससंका ॥

५.४.५

यहाँ क्रोध की शान्ति हो रही है वीर रस के अंग रूप में ।

५ : भावोदय :

कैकइ मन जो कछु कहेउ । सो विध आजु दुसह दुख दयउ ॥

यहाँ ईर्ष्या भाव का उदय हो रहा है ।

६ : भावसंधि :

बन्धु सनेह सरस एहि ओरा । उत साहिब सेवा बस जोरा ॥

मोह तथा श्रम—दो भावों की संधि है ।

२.२३६.४

७ : भावशवलता :

चकित चितव मुदरी पहिचानी । हरष विषाद हृदय अकुलानी ॥

५.१३.२

यहाँ मोह, हर्ष, विषाद एवं उद्वेग—इन भावों की शबलता है ।

३४ : प्रमाणादि अलंकार :

भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान के साधन रूप में कुछ प्रमाणों की चर्चा की है । भिन्न-भिन्न दर्शन के आधार पर प्रमाणों की संख्या भिन्न-भिन्न है । अप्पय दीक्षित ने दस प्रमाणों को अलंकार के अन्तर्गत माना है । ये हैं—

१ : प्रत्यक्ष, २ : अनुमान, ३ : उपमान, ४ : शब्द, ५ : स्मृति, ६ : श्रुति, ७ : अर्थापत्ति; ८ : अनुपलब्धि, ९ : संभव, १० : ऐतिह्य । इन दस प्रमाणों में अनुमान

और अर्थापत्ति मे विशेष सौदर्य रहने के कारण दूसरे आलंकारिको ने भी इनका अलंकारत्व स्वीकार किया, किन्तु अन्य आठ प्रमाणो को अलंकार-सीमा से वहिर्गत ही रखा। अनुमान और अर्थापत्ति का विवेचन हो चुका है। संभव भी संभावना के अन्तर्गत आया है। यहाँ हम अवशिष्ट कुछ प्रमाणालंकारों को भी मानस से उदाहृत करने की चेष्टा करेंगे।

१ : प्रत्यक्ष प्रमाण :

१ : भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥
६.३६.११

२ : सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भँड़िहाईं॥
इमि कुपंथ पगु देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥
३.२८.९-१०

२ : उपमान प्रमाण :

सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस॥
२ २४७.३

३ : शब्द प्रमाण :

कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना॥
१.६.४

४ : आत्मतुष्टि प्रमाण :

मोहि अतिसय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपने परनारि न हेरी॥
१.२३१.६

५ : अनुपलब्धि प्रमाण

औरु करइ अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानइ जोगु॥ २.७७

## ३५ . तिरस्कार

तिरस्कार के उद्भावन का श्रेय पण्डितराज जगन्नाथ को है। उनके अनुसार किसी दोप के सम्बन्ध से गुण-रूप से प्रसिद्ध वस्तु का भी द्वेष तिरस्कार अलकार है।[1] यह अलंकार अवज्ञा के ठीक विपरीत है। मानस मे ऐसे अनेकानेक स्थल है जहाँ पर तिरस्कार अलंकार है। कोई वस्तु चाहे कितनी भी गुणयुक्त क्यो न हो, यदि उसका संबन्ध श्रीराम से नही है तो गोस्वामी जी उसे सर्वदा त्याज्य मानते हैं और इस प्रकार की पंक्तियाँ मानस मे भरी पडी है।

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
२.२९०.१

तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा॥
२ २८९ ८

गोस्वामी जी राम के उत्कट अनन्य भक्त है। इसलिए राम और राम-नाम से विरहित सुन्दरतम पदार्थ अत्यन्त असुन्दर मालूम पडता है। राम और राम-नाम से रहित सभी पदार्थों की उपेक्षा के लिए मानस मे अनगिनत स्थल है और वहाँ इस तिरस्कार का सौंदर्य देखा जा सकता है।

---

१ हिंदी रसगंगाधर, तीसरा भाग, ३३६

तिरकार अलंकार से अलंकृत इन स्थलो को पढ़कर राम की ओर मनुष्य सहज ही उन्मुख होता है तथा राम-विमुख पदार्थों का तिरस्कार करता है।

### ३६ : असम :

असम अलंकार को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय पण्डितराज जगन्नाथ को है। यद्यपि प्राचीन आचार्यो ने इसे उपमा अथवा व्यतिरेक मे ही अन्तर्भुक्त करना चाहा है, किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने सबल तर्कों के आधार पर इसे स्वतन्त्र अलंकार घोषित किया है। उनके अनुसार उपमा के सर्वथा ही निषेध को असम कहते हैं।[1] जहाँ कवि "तुम्हारे समान कोई नही है" ऐसा वर्णन करता है, वहाँ असम अलंकार मानना चाहिए।

मानस में असम इन प्रसंगो मे देखा जा सकता है—

१ : राम के महत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर।

२ : सीता, दशरथ, भरत, जनक, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के श्रेष्टता-प्रतिपादन के अवसर पर।

३ : राम-नाम-महिमा के प्रसंग मे।

४ : सामान्यत रामभक्तों, विशेषतः हनुमान्, विभीषण, जटायु आदि के उत्कृष्टता-सम्पादन के प्रसग मे।

५ : शिव-पार्वती आदि के प्रसग मे।

६ : अपनी दीनता प्रदर्शित करने मे।

७ : नीति-निर्धारण मे।

८ : राम-विरोधी रावण की हीनता वर्णित करने के प्रसंग मे।

मानस से असम के कुछ उदाहरण लें—

सुकृत तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥
१.२९४.५

भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूपु भरत जस पिता तुम्हारा॥
२.१७२ ६

दशरथ के लिए ही दोनो स्थल हैं—बालकाड में वशिष्ठ दशरथ को कहते है। अयोध्याकाड में भी वशिष्ठ ही भरत से कह रहे है—इसलिए शब्दावली एक है।

### ३७ : अनुकूल :

इस अलंकार के प्रतिष्ठापक विश्वनाथ हैं। उनके अनुसार जहाँ प्रतिकूलता ही अनुकूल कार्य का सम्पादन करे, वहाँ अनुकूल अलंकार होता है।[2] इसे अन्य आलंकारिको ने स्वीकार नहीं किया।

मानस में कैकेयी-मंथरा-प्रसंग में इसका बड़ा ही उत्तम विनियोग हुआ है। मंथरा-कथित प्रतिकूल बातें ही कैकेयी के लिए अनुकूल हो गयी है। पंक्तियाँ देखें—

---

१ : हिंदी रसगंगाधर, दूसरा भाग, ३८१

२ : अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्। —साहित्यदर्पण, १०/८४

रामहि तिलकु कालि जौं भयेऊ । तुम्ह कहु बिपति बीजु विधि वयेऊ ।।
रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी । भामिनि भइहु दूध कइ माखी ।।
जौं सुत सहित करहु सेवकाई । तौ घर रहहु न आन उपाई ।।

२.१९.६-८

३८ : निश्चय :

निश्चय के प्रतिष्ठापन का श्रेय विश्वनाथ को है । उनके अनुसार उपमान का निषेध कर उपमेय के स्थापन को निश्चय अलंकार कहते हैं।[1] यह अलकार अपह्नुति से मिलता-जुलता है, किन्तु जहाँ अपह्नुति मे उपमेय का निषेध कर उपमान का स्थापन किया जाता है, वहाँ निश्चय मे उपमान का निषेध कर उपमेय का सपादन किया जाता है। इसे निश्चयान्त सन्देह भी नही कह सकते; क्योकि निश्चयान्त सन्देह मे निश्चय और सन्देह एक ही मे रहा करते है जबकि निश्चय मे सन्देह और निश्चय अलग-अलग होता है ।

लका काड की इस चौपाई मे निश्चय अलकार माना जा सकता है—

कह प्रभु हसि जनि हृदय डेराहू । लूक न असनि केतु नहि राहू ।।
ए किरीट दसकधर केरे । आवत वालितनय के प्रेरे ।।

६.३२.९-१०

३९ : भाविकच्छवि :

इस अलकार की चर्चा केवल जयदेव ने की है । उन्होने भाविक के साथ एक नए अलकार भाविकच्छवि की उद्भावना की है । उनके अनुसार जहा देश की अपेक्षा अथवा अपने से दूर रहनेवाले पदार्थ का दर्शन वर्णित हो, वहाँ भाविकच्छवि अलकार होता है ।[2] इस अलकार को, अन्य आलंकारिको की बात तो छोड़ें, अप्पय दीक्षित ने भी स्वीकार नही किया ।

मानस मे ऐसे अनेक स्थल है जहाँ भाविकच्छवि का सौंदर्य देखा जा सकता है । विभीषण श्रीराम और सहयोगियो के सम्मुख रावण के अखाडे का प्रत्यक्षवत् वर्णन कर रहे हैं । उत्प्रेक्षा से पुष्ट भाविकच्छवि की छटा देखें—

कहत बिभीषनु सुनहु कृपाला । होइ न तड़ित न बारिद माला ।।
लंका सिखर उपर आगारा । तहँ दसकंधर देख अखारा ।।
छत्र मेघडंबर सिर धारी । सोइ जनु जलद घटा अति कारी ।।
मंदोदरी श्रवन ताटंका । सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ।।
बाजहि ताल मृदग अनपा । सोइ रव मधुर सुनहुँ सुरभूपा ।।

६.१३.३-७

४० : आशीः :

इस अलकार का उल्लेख भामह ने किया है ।[3] उनका कहना है, कुछ लोगो ने आशीः को अलकार माना है । इसका प्रयोग सौहार्द अथवा अविरोध के वर्णन मे होता है । दंडी ने इसे

१ : अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः । – साहित्यदर्पण, १०/३९

२ : देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः – चन्द्रालोक, ५/११४

३ : आशीरपि च केषाञ्चिदलंकारतया मता ।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ प्रयोगोऽस्याश्च तद्यथा । – काव्यालंकार, ३/५५

मान्यता प्रदान करते हुए लिखा—"प्रिय वस्तु के शुभ के लिए प्रार्थना करना आशिष अलंकार है।[1] केशवदास ने इस अलंकार की बिल्कुल नवीन परिभाषा दी है। उनके अनुसार आशी की परिभाषा है—

मातु, पिता, गुरु, देव, मुनि कहत जु कछु सुख पाय।
ताही सों सब कहत हैं आशिष कवि कविराय ॥[2]

मानस में इसके अनेकानेक उदाहरण प्राप्त हो जाते है। यथा—

१ : सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे। रामु लखनु सुनि भये सुखारे ॥
१.२३७.४

२ : होयेहु संतत पियहि पियारी। चिरु अहिबात असीस हमारी ॥
१.२३४.४

## ४१ : विशेषक :

सामान्य आकार वाली वस्तुओं मे जहाँ कुछ विशेषता दीख जाए, वहाँ विशेषक अलंकार होता है। यह विरोधमूलक विशेष से बिलकुल भिन्न अलंकार है। उन्मीलित और विशेषक क्रमश. मीलित और सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी अलंकार हैं। इसका उल्लेख अप्पय दीक्षित तथा अनेक रीतिकालीन आचार्यो ने किया है।[3]

मानस से इसके कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

१ : चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥
१.१९८.६

२ : जदपि बिरज व्यापक अविनासी। सबके हृदय निरन्तर बासी।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी ॥
३.११.१७-१८

३ : मोरें प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
३ ४३.८-९

## ४२ : विशेषकोन्मीलित :

जहाँ विशेषक और उन्मीलित मिल जाएँ, वहाँ विशेषकोन्मीलित अलंकार मानना चाहिए।[4] मानस मे एक उदाहरण देखें :

बय बपु बरन रूपु सोइ आली। सीलु सनेहु सरिस सम चाली ॥

---

१ : आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा - काव्यादर्श, २/३५७

२ : कविप्रिया, ११/२४

३ : (क) भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ।—कुवलयानन्द, १४८
(ख) जहाँ मिलित सामान्य में, कछू भेद ठहराय।
तहँ उन्मीलित विशेष कहि, बरनत सुकवि सुभाय।—काव्यनिर्णय, १२/४३
(ग) पद्माकर-कृत पद्माभरण, २४५

४ : देखिए [illegible], [illegible], [illegible]।

वेषु न सो सखि सीय न संगा। आगें अनी चली चतुरंगा॥
नहि प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा॥

२.२२१.२-४

रसरूप ने "तुलसी-भूपण" मे कुछ नए अलंकार की चर्चा की है, जैसे—उन्मतोक्ति, रुणिमाला, निर्णय, प्रसिद्ध, प्रतिविम्व, विक्षेप तथा मिथ्या (मिथ्याध्यवसिति के लिए)।

४३ : धन्यता

जहाँ करणीय अर्थ से अधिक वात उत्पन्न हो, वहाँ धन्यता अलंकार होता है।[1] यह अलकार द्वितीय प्रहर्षण से मिलता-जुलता है। इसका उदाहरण मानस से उन्होने नही दिया।

मनु-शतरूपा-प्रसंग से इसका उदाहरण दिया जा सकता है। मनु ने भगवान् के समान पुत्र की याचना की और उसके वदले मे अपने को पुत्ररूप मे अवतरित होने का वरदान दिया।

आपु सरिस खोजो कहँ जाई। नृप तव तनय होव मै आई॥

१ १५०.२

४४ : निर्णय :

जहाँ अनेक मुखो से एक ही निर्णय दिया जाता है, वहाँ निर्णयालकार मानना चाहिए।[2] विश्वनाथ ने निश्चय अलंकार की चर्चा की है, किन्तु निश्चय[3] और निर्णय मे स्पष्ट अन्तर दीखता है। इसका उदाहरण उन्होने वरवै रामायण से दिया है—

"कोउ कह नर नारायण, हरि, हर कोऊ।
कोऊ कहै विहरत वन मधु मनसिज दोऊ॥"

रामचरितमानस में स्तुतियो के प्रसंग मे विभिन्न देवी-देवताओ के द्वारा राम की सर्वशक्तिमत्ता एवं अकथनीय महत्ता मे निर्णय अलंकार का विनिवेश देखा जा सकता है। राम निरुपम है, ऐमा वेद, मुनिजन तथा सर्वसाधारण कहते है।

निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहे।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहे॥
एहि भाँति निज निज मति विलास मुनीस हरिहि वखानहीं।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

७ ९२.९-१२

४५ : उन्मतोक्ति :

प्रद्युमनदास की काव्यमजरी के आधार पर रसरूप ने इसका उल्लेख किया है।[4] जहाँ अनेक

---

१ : करन अर्थ ते अधिक जहाँ उपजावे कछु वात।
धन्यता तासों कहत हैं जा को मत अवदात।—रसरूप, तुलसीभूषण, २३

२ : जहँ होत है एक की निर्णय वहुमुख माँह।
अलकार निर्णय कहत, तातें कवि कुल नाह।— रसरूप, तुलसीभूषण, २३

३ : अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चय पुन।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण।

४ : कारज ते पदवी लहै जहँ कारण वहुभाय।
उन्मतोक्ति तासो सकल पंडित देत वताय॥—रसरूप, तुलसीभूषण, १२

भावो से कारण कार्य की पदवी प्राप्त करे, वहाँ उन्मतोक्ति होती है। इसका उदाहरण उन्होंने "मानस" से दिया है।

सुनहु महीपति मुकुट मणि तुम्ह सम धन्य न कोउ।
रामु लखन जिन्हके तनय विस्व विभूषन दोउ॥

१.२९१

४६ : विक्षेप :

रसरूप ने विक्षेप का विवेचन किया है। उनके अनुसार जो जिसका अधिकार है, उस कार्य के अधिकारी को छोड़ कर दूसरा करे और जिसके लिए किया जा रहा है, उसका नाम न लिया जाय।[1]

इसका उदाहरण उन्होने मानस से दिया है।

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटें सीस कि होइअ सूरा॥
इन्द्रजालि कहुँ कहिअ न वीरा। काटे निज कर सकल सरीरा॥
जरहिं पतंग मोह बस भार वहहिं खर बृन्द।
ते नहि सूर कहावहिं समुझि देखु मतिमंद॥

६.२६.६-१२

४७ : प्रसिद्ध :

प्रसिद्ध अलक र के प्रतिष्ठापक केशवदास है। जहाँ माधन एक करे और फल अनेक भोगें, वहाँ प्रसिद्ध अलंकार होता है। केशवदास के शब्दो मे—

साधन साधै एक भव भोगे सिद्धि अनेक।
तासो कहत प्रसिद्ध सव केसव सहित विवेक॥[2]

रामचरितमानस से इसका एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। हनुमान् ने सीता का पता लगाया, किन्तु सभी वंदर-भालुओ की जान वची और उन्होने खुशियाली मे मधुवन के फल खाये। पंक्तियाँ देख—

तव मधुवन भीतर सव आए। अंगद संमत मधु फल खाए॥
रखवारे जव वरजइ लागे। मुष्टि प्रहार हनत सव भागे॥

५.२८.६-७

४८ : विपरीत :

विपरीत के उद्‌भावन का श्रेय केशवदास को है। कार्य का साधक साधन ही जहाँ वाधक होता है, वहाँ विपरीत अलंकार होता है। केशवदास के शब्दों मे—

कारज साधक को जहाँ, साधन वाधक होय।
तासों सव विपरीत कहि, कहत सयाने लोय॥[3]

---

१ : जो जाको अधिकार है, करै और सो काम।
ताहि कहत विक्षेप है, लहै न ताको नाम॥—रसरूप, तुलसीभूषण, २४

२ : कविप्रिया, १२/७

३ : कविप्रिया, १३/६

कपटी मुनि ने प्रतापभानु को विप्र वशीकरण के लिए जेवनार रूप जो साधन बताया वही बाधक हो गया। विनय से कोई कार्य सम्पन्न होता है, किन्तु यहाँ यही बाधक हो गया।

विनय न मानत जलधि जड़ गए तीन दिन बीति।
बोले रामु सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥

५.५७

ऊपर के दो चरणो मे विपरीत अलकार माना जा सकता है।

४९ : उदाहरण :

जहाँ कोई बात कहकर उसके स्पष्टीकरण के लिए वैसी ही दूसरी बात कही जाय तो उदाहरण अलंकार होता है।[१] यह दृष्टान्त की कोटि का अलकार है। सिद्धान्त-निरूपण एवं उपदेश-ज्ञापन के लिए यह अलकार बडा उपयोगी है।

रामचरितमानस के गौण अलकारो मे यह गोस्वामीजी का बहुत ही प्रिय अलंकार है। किष्किंधाकाण्ड के वस्तु-वर्णन के प्रसग मे तो इसकी मनोरम छटा देखते ही बनती है। एक ओर वर्षा की बूँदें झर-झर गिरती हैं और दूसरी ओर सद्शिक्षा की बूँदे झरने लगती हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखे—

दामिनि दमक रह न घन माही। खल के प्रीति जथा थिर नाही॥
बरषहिं जलद भूमि नियराएँ। जथा नवहिं बुध विद्या पाएँ॥
बुँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन सन्त सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई॥

४.१४.२-५

इन अलंकारो के अतिरिक्त भी अनेक नाम है जो अलकारशास्त्र के ग्रन्थो मे उपलब्ध होते है। रुद्रट ने "मत"[२] नामक अलकार की चर्चा की है किन्तु इसमे चमत्कार न रहने के कारण यह स्वीकृत न हो सका। उनके "उभयन्यास" का अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यास तथा "पूर्व" का अन्तर्भाव अतिशयोक्ति मे हो जाता है। रुद्रट के "अवसर", "साम्य" तथा "अहेतु" भी स्वतन्त्र अलकार कहलाने योग्य नही है। भोजराज का "वितर्क" "सन्देह" मे अन्तर्भूत हो जाता है। केशवदास ने "प्रेम"[३], "अमित"[४], "सुसिद्ध"[५], "गणना"[६], तथा "युक्त"[७]—जैसे नवीन अलंकारो को उद्भावित

---

१ : अलंकारमुक्तावली, १२८

२ : तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।
ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम्।—काव्यालंकार, ८/६९

३ : कपट निपट मिट जाय जहँ उपजै पूरण छेम।
ताही सों सब कहत हैं, केशव उत्तम प्रेम।—कविप्रिया, ११/२७

४ : जहाँ साधनै भोगई, साधक की शुभ सिद्धि।
अमित नाम तासों कहत, जाको अमित प्रसिद्धि।—कविप्रिया

५ : साधि-साधि औरै मरैं, औरै भोगैं सिद्धि।
तासों कहत सुसिद्ध सब, जिनकै बुद्धि समृद्धि।—कविप्रिया, १३/४

६ : आदि अन्त भरि बरणिये सो क्रम केशवदास।
गणना-गणना सों कहत जिनकै बुद्धि प्रकास॥—कविप्रिया, ११/१

७ : जैसो जाको रूप बल कहिये ताही रूप।
ताको कवि कुल युक्त कहि बरणत विविध सरूप।

करने का यत्न किया है। इनमें मौलिकता-प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही अधिक है। गणना में तो कोई चमत्कार है ही नहीं। युक्त को तो स्वभावोक्ति के अन्तर्गत रख सकते हैं।

इसी प्रकार मतिराम के "गुणवन्त" में थोड़ी सम्पत्ति पाकर छोटे का बड़ा होना बतलाया गया है। देव ने "गुणवत्", लेख, 'संकीर्ण" और "प्रयुक्ति"-जैसे नवीन अलंकारों को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। "गुणवत्" के बारे में उनका कहना है कि जहाँ गुणों के साथ गुणहीन प्रवीण बन जाता है। इसे तद्गुण से पृथक् मानना उचित नहीं जँचता। "लेख" की परिभाषा देते हुए देव कहते हैं कि जहाँ गुण का दोष और दोष का गुण रूप में वर्णन हो, वहाँ लेख अलंकार होता है। इसे "लेश" से भिन्न मानने का कारण नहीं दीखता। शोभाकर मित्र के "व्यत्यास" का लक्षण भी कुछ इसी प्रकार है। देव ने "संकीर्ण" को "विकल्प' का प्रतिलोम माना है। "संकीर्ण" में अनेक लक्ष्यों को भोगने की प्रवृत्ति रहती है। प्रयुक्ति और प्रश्नोत्तर में भी अधिक अन्तर नहीं है। भिखारीदास ने "स्वगुण" नामक नवीन अलंकार की उद्भावना का प्रयास किया। उनके अनुसार अपने गुण को त्याग कर निकटस्थ वस्तु का गुण-ग्रहण "तद्गुण" है, किन्तु निकटस्थ के संपर्क में रहकर भी अपने गुण में ही रहना 'स्वगुण" है। वस्तुत: यह 'पूर्वरूप" से पृथक् नहीं ज्ञात होता। जगत सिंह ने "संग्रामोद्दाम हुंकरा" नामक अलंकार की चर्चा की है। उनके अनुसार जब एक पहलवान दूसरे पहलवान से कहे कि ऐसा हो जाएगा तो "संग्रामोद्दाम हुंकृति" माननी चाहिए। वस्तुत: इसमें भी कोई चमत्कार नहीं। वैसे यदि अलंकार की ही बात हो तो रामचरितमानस के लंकाकांड के युद्ध-वर्णन-प्रसंग में ऐसे स्थल देखे जा सकते हैं।

वास्तव में अति गौण उपेक्षितप्राय अलंकारों में से ऐसा स्यात् ही कोई मिले, जो इस रामचरितमानस के आश्रम में आश्रय न पाया हो। अत्यन्त आयास एवं अलंकारशास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके भी रीतिकालीन आचार्य कवि जितने अलंकारों को अपनी रचना में समाविष्ट नहीं कर सके, उससे कहीं अधिक अलंकार रामचरितमानस में अनायास आ गये हैं। ये अनायास आगत अलंकार अलंकार की संख्याभिवृद्धि के लिए नहीं, वरन् पूरी काव्यात्मक सुषमा के साथ विद्यमान हैं। मैंने कुछ अति गौण अलंकारों का केवल नामोल्लेख भर किया है, कोई चाहे तो उनके भी अनेक उदाहरण मानस में पा ले सकता है।

अत: इस अध्याय के अन्त में ऐसा कहने में कोई हिचक नहीं है कि शायद ही कोई अलंकार है जो अपने भेदोपभेद-सहित यथावसर मोहक रीति से मानस में नहीं प्रयुक्त हुआ हो।

●●

८

# उभयालंकार

जहाँ केवल शब्दाश्रित अलकार हो, वहाँ शब्दालंकार तथा जहाँ अर्थाश्रित अलंकार हो, वहाँ अर्थालंकार माना जाता है। उभयालंकार का अर्थ है दो अलंकार। उभयालंकार का ऐसा अर्थ करना उचित नही लगता कि उभयालंकार मे शब्दालंकार और अर्थालकार—दोनो की अवस्थिति अनिवार्य हे। उभयालकार मे दो या दो से अधिक शब्दालंकार एक साथ रह सकते है। दो या दो से अधिक अर्थालकार एक साथ रह सकते है अथवा एक या एकाधिक शब्दालकार तथा एक या एकाधिक अर्थालकार एक साथ रह सकते है। उभयालंकार मे "उभय" शब्द मे दो तो न्यूनतम सीमा का ज्ञापक है।

उभयालंकार को मिश्रालंकार भी कहा जाता है,[1] वैसे किसी-किसी पुस्तक में उभयालंकार और मिश्रालकार को अलग-अलग मानकर विचार को उलझा दिया गया है। वस्तुत. अलकारो के तीन भेद करने से ही अधिक स्पष्टता रहती है। (१) शब्दालकार, (२) अर्थालकार, (३) मिश्रालकार। प्रथम मे शब्द-परिवृत्यसह अलकार रहते हैं, द्वितीय मे शब्द-परिवृत्ति-सह अर्थमूलक अलंकार है तथा तृतीय मे शब्दालंकार और अर्थालकार का मिश्रण रहता है।

जिस प्रकार दो या अधिक आभूषणो को मिलाकर एक नई प्रयुक्ति (डिजाइन) बनायी जाती है, ठीक उसी तरह काव्य के अलकार एक दूसरे से मिलकर रचना को चारुतातिशय से मडित कर देते है। नर और सिंह मिलकर जैसे नरसिंह बनते हैं—दोनो समन्वित रहते हुए भी पृथक् कोटि मे परिगणित होते है, वैसे ही अनेक प्रकार के अलंकारो का समन्वय भी "नरसिंह न्याय" से पृथक् कोटि मे रखा जाता है।[2] अप्पय दीक्षित के कथन मे किंचित् सत्याश तो है ही, किन्तु पूर्ण सत्यता मुझे प्रतीत नही होती। वस्तुतः भावनाओ की ज्वार मे महाकवि की रचनाओ मे कही-कही अलकारो का जमघट लग जाता है। अनेक अलंकार विचारताप मे जुड जाते है या एकमेव हो जाते है। सत्कवि प्रयास-पूर्वक प्रदर्शनी-हेतु अनेक अलंकारो को मिलाते नही, न तो उनका यह उद्देश्य ही रहता हे कि पाठक उनकी कला से चकित हो जायें कि वे अलकारो का मिश्रण किस प्रकार कर सकते है।

मिश्रणमूलक अलकार दो प्रकार के है—(क) ससृष्टि, और (ख) सकर। संसृष्टि मे अनेक अलकार तिलतण्डुलन्याय[3] से मिले रहते है अर्थात् अनेक अलकार स्पष्टत पृथक्-पृथक् दिखाई पडते है। सकर मे अनेक अलकार नीरक्षीर[4] न्याय से मिले रहते है अर्थात् स्पष्ट रूप मे पृथक्-पृथक् दिखलाई नही पडते।

---

१ : अलकार पीयूष - डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', १८०-१८१

२ : अथैतेपामलकाराणां यथासम्भव क्वचिन्मेलने लौकिकालंकाराणा मेलन इव चारुत्वातिशयोलम्भान्नरसिंह-न्यायेन पृथगलकारावस्थतौ तन्निर्णय क्रियते।—कुवलयानंद, २८५

३ . तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालंकारमेलने संसृष्टि – कुवलयानंद, २८४

४ : नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने सकरः – कुवलयानंद, २८५

रामचरितमानस में ये दोनों प्रकार के मिश्रणगत अलंकार भरपूर प्राप्त होते है। जैसे भक्तों के पीछे अष्टसिद्धियाँ और नवनिधियाँ दौड़ती चलती है, वैसे ही उनको काव्यकला के पीछे अलंकारों की कतार उमड पड़ती है।

(क) संसृष्टि :

संसृष्टि त्रिधा संभव है :

१ : शब्दालंकार संसृष्टि—जहाँ केवल अनेक शब्दालंकारो की एकत्र स्वतन्त्र रूप से अवस्थिति हो।

२ : अर्थालंकार संसृष्टि—जहाँ केवल अनेक अर्थालंकारो की एकत्र स्वतन्त्र रूप से अवस्थिति हो।

३ : उभयालंकार संसृष्टि—जहाँ शब्दालंकार और अर्थालंकार की एकत्र स्वतन्त्र रूप से अवस्थिति हो।

१ : शब्दालंकार संसृष्टि :

१ : भंजेउ राम आपु भव चापू। भवभय-भंजन राम प्रतापू॥
१.२४.६

अनुप्रास और यमक—दो शब्दालकारों की संसृष्टि है।

२ : चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जयजयजय भनी॥
१.३२७.२६

यमक, अनुप्रास, पुनरुक्तप्रकाश तथा वीप्सा—इन चार शब्दालंकारों की संसृष्टि है।

२ : अर्थालंकार संसृष्टि :

१ . मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
१.११.१-२

यथासंख्य, अनुगुण, प्रथम पर्याय।

२ : गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा॥
साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं रामु देहिं गनि गारीं॥
१.७.९-१०

प्रमाण, पर्याय, प्रथम उल्लास, यथासंख्य।

३ : नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन॥
१३ सोरठा

लुप्तोपमा—पर्यायोक्ति

४ : नेज कृसानु रोप महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदय केतु सम हित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके॥
१.४.५-६

द्वितीय निदर्शना, [illegible], लुप्तोपमा

१ . [illegible] (प्रथम—[illegible], [illegible] (उन्मीलित-[illegible])

२ : १.४.१० [illegible]

५ : उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिनि गुन बिजगाही ॥
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥

१ ५.५-६

उदाहरण, उपमा, रूपक तथा यथासंख्य—चार अर्थालंकारो की संसृष्टि है।

६ : जोरि पंकरुह पानि सुहाए। बोले बचन प्रेम जनु जाए ॥
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा ॥

१.३४१ ३-४

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक—तीन अर्थालंकारो की ससृष्टि है।

७ : भूपति भवनु सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा ॥
मनिमय रचित चारु चौवारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे ॥

२ ९० ७-८

प्रतीप, उत्प्रेक्षा—दो अर्थालंकारो की ससृष्टि है।

३ उभयालकार संसृष्टि :

हरषे हेतु हेरि हरु ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को ॥
नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥

१ १९ ७-८

वृत्त्यनुप्रास तथा यमक—दो शब्दालंकारो तथा प्रथम व्याघात तथा उल्लास—दो अर्थालंकारो की संसृष्टि है।

(ख) संकर :

अप्पय दीक्षित ने चार प्रकार के संकर माने है—

१ . अगागिभाव संकर
२ · समप्राधान्य संकर
३ : सन्देह संकर
४ . एकवाचकानुप्रवेश सकर।

१ : अंगांगिभाव संकर :

जहाँ एक अलंकार दूसरे अलंकार का अंग बनकर उसका उपस्कारक हो, वहाँ अगागिभाव संकर होता है। इसी की दूसरी परिभाषा दी जाती है कि जहाँ बीजवृक्षन्याय से अलंकार मिश्रित हो।

१ साधु सरिस सुभचरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बन्दनीय जेहिं जग जसु पावा ॥

१ २ ५-६

निरस, बिसद, गुन, फल, छिद्र सभी श्लिष्ट है। श्लेष-उपमा का अंगागिभाव संकर है।

२ बहुत उछाहु भवनु अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा ॥

१.२९७.८

अधिक-उत्प्रेक्षा-अंगागिभाव संकर है।

३ : भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुविहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति वचनु भयंकरु बाजु॥

२.२८

उपमा-रूपक का अंगांगिभाव संकर है।

४ : रावन सिर सरोजवनचारी। चलि रघुवीर सिलीमुखधारी॥

६.९२.७

श्लेष-रूपक का अंगांगिभाव है। इसे पोष्य-पोषक-भाव या तन्तुपट-संबंध से भी जाना जाता है।

## २ : समप्राधान्य संकर :

जहाँ एक पद्य में अनेक अलंकार समान रूप से प्रधान हों तथा एक दूसरे के अंगांगिभाव न हों, वहाँ सम-प्राधान्य संकर होता है। इसे दिन-दिनकरन्याय से व्यक्त किया जाता है।

कुछ उदाहरण लें—

१ : नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

१.२७.५-६

रूपक, अत्यतातिशयोक्ति तथा कारक दीपक—ये तीनो समान रूप से प्रधान हैं।

२ : जय जय गिरिवरराज किसोरी। जय महेस मुखचंद चकोरी॥
जय गजवदन षड़ानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता॥

१.२३५.५-६

रूपक, उपमा, निदर्शना, वीप्सा, वृत्त्यनुप्रास का सम्मिश्रण है।

३ : गुनह लखन कर हम पर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू॥
टेढ़ जानि सब वंदइ काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू॥

१.२८१.५-६

असंगति, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास का सम-प्राधान्य संकर है।

४ : रामचंदु पति सो वैदेही। सोवति महि विधि बाम न केही॥
सिय रघुवीर कि कानन जोगू। करमु प्रधान सत्य कह लोगू॥

२.९१ ७-८

विषम, वक्रोक्ति तथा अर्थान्तरन्यास का सम-प्राधान्य संकर है।

## ३ : सन्देह संकर—

जहाँ किसी स्थल में अनेक अलंकारों में यह निर्णय करना कठिन हो कि कौन-सा अलंकार है, अथवा अलंकारच्छाया ऐसी कि सहृदय की चित्तवृत्ति किसी विशेष अलंकार के निश्चय पर न पहुँच पाये, वहाँ संदेह संकर अलंकार होता है। इसे रात्रिन्दिनन्याय से व्यक्त किया जाता है।

१ : सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥

२ ६४.१

सीता के नेत्रों में जल भर आना—विषम अलंकार तथा नेत्र में जल भरने से सीता के दुःख का वर्णन अप्रस्तुत-प्रशंसा दोनों में कौन प्रमुख है, निर्णय करना कठिन है। अतः यहाँ संदेह संकर है।

२ राखिअ नारि जदपि उर माही । जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥
देखहु तात बसंत सुहावा । प्रिया हीन मोहि भय उपजावा ॥

३ ३७.६ १०

प्रथम तुल्ययोगिता, विनोक्ति, व्याघात, विषम मे कौन है, यह निर्णय अत्यत कठिन है ।

३ : जनमु सिधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु ॥
सिय मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु ॥

१ २३७

तृतीय प्रतीप, व्यतिरेक तथा अनुगुण के निर्णय मे कठिनाई है ।

४ · तब भुज बल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥

१.२३९.६

अनुमान तथा द्वितीय पर्यायोक्ति मे निर्णय नही हो रहा है ।

५ : लोभ लोलुप कल कीरति चहई । अकलंकता कि कामी लहई ॥
हरिपद बिमुख परम गति चाहा । तस तुम्हार लालचु नरनाहा ॥

१.२६७ ३ ४

एकधर्मा मालोपमा तथा द्वितीय तुल्ययोगिता का संदेह संकर है ।

६ : चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं । भानु जान सोभा अपहरहीं ॥

१ २९९ ४

उत्प्रेक्षा तथा चतुर्थ प्रतीप का संदेह संकर है

७ : रामु साधु तुम्ह साधु सयाने । राम मातु भलि सब पहिचाने ॥

२.३३ ७

सम, अन्योन्य, व्याजनिन्दा, व्याजस्तुति का सदेह संकर है ।

८ : लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥

२ १२७.६

निदर्शना तथा दृष्टान्त का सदेह सकर है ।

९ : ईस प्रसाद असीस तुम्हारी । सुत सुतबधू बिबुधसरि बारी ॥
राम सपथ मै कीन्हि न काऊ । सो करि कहौं सखी सति भाऊ ॥

२.२८२.१-२

द्वितीय निदर्शना तथा उपमा का संदेह संकर है ।

## ४ एकवाचकानुप्रवेश संकर

एक ही पद या स्थल मे अनेक अलंकारो की स्थिति को एकवाचकानुप्रवेश संकर कहते हैं। इसे नृसिंहन्याय से व्यक्त किया जाता है ।

१ : बंदौं गुरपद पदुम परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

१.१.१

२ . सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ॥

१.३ ९

३ : सोइ जल अनल-अनिल संघाता । होइ जलद जग जीवन दाता ॥

१.७.१२

४ : सखर सुकोमल मंजु दोप रहित दूपन सहित।
१.१४.२०

५ : लोभ लोलुप कल कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई॥
१.२६७.३

६ : रुचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। वरन वरन वर वाजि विराजे॥
१.२९८.४

"पद-पदुम" मे छेकानुप्रास तथा यमक, 'पारस-परस' मे छेकानुप्रास-यमक, "जग-जीवन" में वृत्त्यनुप्रास-श्लेप, "सखर-सुकोमल" तथा "दोपरहित दूपनसहित" मे श्लेप-विरोधाभास, "लोभ-लोलुप" में वृत्त्यनुप्रास तथा पुनरुक्तवदाभास तथा "वरन वरन वर वाजि विराजे" में वृत्त्यनुप्रास-पुनरुक्ति का एकवाचकानुप्रवेश संकर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस मे उभयालंकार का भी बहुत प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं तो एक ही प्रसंग मे अनेक शब्दालंकार और अर्थालकार गोस्वामी जी के वर्ण्य विपय पर मुग्ध होकर अपने को कृतार्थ करने के लिए प्रतिद्वन्द्विता करने लगते हैं, तथा कहीं-कहीं जटिल मानसिक मंथन के समय अनेक अलंकार की भीड उमड़ आती है। इसलिए कभी-कभी तो ऐसा होता है कि अलंकारो के निर्णय मे कठिनाई हो जाती है। अलंकार की मणि-कुट्टिम-कला से अचेत रहनेवाले गोस्वामी जी के रामचरितमानस में अलंकारो के अवाध आप्लावन पर विस्मित-विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

# ९

# उपसहार

## १ : अलंकार-प्रयोग के उद्देश्य :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति को अलंकार माना है ।[1] शुक्ल जी के इस कथन से कई उपप्रमेय निकलने की संभावना है । (१) अलंकारो का प्रयोग कवि भावोत्कर्ष दिखाने तथा वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए जान-बूझ कर सायास करता है । (२) अलंकारो का प्रयोग भावोत्कर्ष दिखाने तथा वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने के लिए कवि द्वारा आप-से-आप अर्थात् अनायास हो जाता है । (३) अलंकार भावो का उत्कर्ष तथा वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने मे कभी-कभी ही सहायक होते है, सर्वदा नही ।

इन उपप्रमेयो के परिप्रेक्ष्य मे तुलसी के अलंकार-विधान पर विचार करने के पूर्व ऐसा जान लेना आवश्यक है कि कुछ कवि तो सचेत कलाकार होते है, कुछ अचेत । जो अपनी कला के प्रति जागरुक होते है, वे अपनी कविता मे अलंकार-प्रयोग का प्रयत्न करते रहते है । रीतिकाल मे बिहारी और उनके समानधर्मा अनेकानेक कवि है जिनमे सायास साधना की प्रवृत्ति देखी जा सकती है । इन कवियो की कविताओ पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कभी कभी तो इनके मानस मे कोई-न-कोई अलंकार नाचता रहता है और उसी अलंकार को उदाहृत करने के लिए कुछ कविता की रचना होती है ।

बिहारी के सुप्रसिद्ध दोहे—

> **पत्रा हि तिथि पाइये, वा घर के चहु पास ।**
> **नित प्रति पूनो हि रहत, आनन ओप उजास ।।**

—की रचना किसी नायिका के मोहक रूप प्रभाव के कारण नही हुई, वरन् कवि के मस्तिष्क में घूर्णित परिसख्या के लक्षण के कारण ही लक्ष्य-स्वरूप हुई ।

कही-कही चौंकाने की प्रवृत्ति के कारण अलंकार निर्मित किया जाता है । बिहारी का ही एक दोहा ले—

> **अधर परसि मीठी भई, दई हाथ ते डारि ।**
> **लाई दतुवन ऊख की, नोखी खिदमत गारि ।।**

नायिका के ओठ पर चाहे दस-बीस किलो चीनी की ही कोटिंग क्यों न हो, उसके स्पर्श से नीम की कडवी दतुवन का मीठा होना—तद्गुण के लोभ मे क्लिष्ट कल्पना ही नही, वरन् असभव कल्पना है ।

---

१ : गोस्वामी तुलसीदास, १४७

रामचरितमानस के अलंकार-मण्डित स्थलों को देखकर कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि गोस्वामी जी ने चौंकाने के लिए या अलंकार के लक्षणों को उदाहृत करने के लिए अलंकारों का प्रयोग किया हो। ऐसा भी नहीं लगता कि वे महज अलंकार के लिए अलंकार गढ़ने के पक्षपाती हों। अलंकारों की जादूगरी या आतिशबाजी उनके मानस में कहीं नहीं है, वैसे कुछ स्थल अवश्य मिलते हैं, जहाँ अलंकारों की कारीगरी पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

गोस्वामी जी न तो पूरे सचेत कलाकार हैं और न पूरे अचेत ही। हाँ, इतना अवश्य है कि इयत्तया उन्हें हम अचेत कलाकार के रूप में ही देखते हैं। उनकी सुभग कविता-सरिता जब उमड़ पड़ी तो उसमें न मालूम कितने अलंकारों के कुसुम-गुच्छ स्वयमेव बह निकले। मानस के इस अछोर अकूल जलप्लावन पर विहंगम दृष्टि भी डालिए—देखेंगे, रंग-विरंगे अलंकारों के स्तवक अपनी मोहक शोभा से आकृष्ट करते हैं।

## सहज अलंकरण :

मानस के रूप में जब गोस्वामी जी के कवित्व का अयत्न-सभूत आप्लावन हुआ तो भाव-प्रवाह के मध्य अलंकारों के पुष्प-गुच्छ अनुपम शोभा लुटाते हुए वह निकले। मानस के अधिकांश स्थलों में ऐसी स्थिति दीख पड़ती है। इन्हें हम संक्षिप्त अलंकार-विधान की कोटि में रख सकते हैं—दो-चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१ : सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छविगन मध्य महाछवि जैसे॥
१.२६४१

२ : निदरहिं वदन सोह सुठि लोना। मनहु साँझ सरसीरुह सोना॥
१.३५८.१

२ : भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला-सी॥
गा चह पार जतनु वहु हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥
२.२५७.१-२

४ : निधरक बैठि कहै कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥
जीभ कमान वचन सर नाना। मनहुँ महिपु मृदु लच्छ समाना॥
जनु कठोरपनु धरें सरीरू। सिखइ धनुष विद्या वरबीरू॥
सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई॥
२.४१.१-४

## सायास अलंकरण :

सायास अलंकरण की प्रवृत्ति ऐसे कुछ स्थलों में दिखलाई पड़ती है, जहाँ कवि विस्तृत एवं अतिनिरूढ़ अलंकारों की योजना में तत्पर दिखलाई पड़ता है। मेरी दृष्टि में धर्मरथ, ज्ञानदीपक, भक्तिमणि, अव्यक्त-मूल अनादि तरु के सांगरूपक के निर्वाह में यत्र-तत्र बुद्धि-विलास दिखलाई पड़ता है। इनमें धर्मरथ तथा अव्यक्त मूल अनादि तरु वाले रूपकों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है। धर्मरथ का रूपक देखें—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

बल ब्रिवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद बिप्रगुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताकें ॥

६.८० ४-११

बल, विवेक, दम परहित के ऊपर घोडे, सत्यशील के ऊपर ध्वजा, ईश-भजन के ऊपर सारथी, विरति के ऊपर ढाल, संतोष के ऊपर कृपाण, दान के ऊपर परशु, बुद्धि के ऊपर शक्ति, विज्ञान के ऊपर धनुष, मन के ऊपर तरकस, सम, यम, नियम के ऊपर बाण, विप्र-गुरु-पूजा के ऊपर कवच के आरोपण मे बुद्धिविलास है ही।

वेदस्तुति का एक छंद देखे—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फुल्लत नवल नित संसार बिटप नमामहे।

७.१३.१७ २०

दर्शन के दुर्वह भार से ससार-विटप का रूपक लद गया है। शायद ऐसे स्थलो को देखकर ही कीट्स ने कहा होगा—

All charms fly at the touch of Philosophy.

अलकार-प्रयोग के उद्देश्य

१ : भावोत्कर्ष-ज्ञापन
२ : रूप-प्रभाव-निदर्शन
३ : गुण प्रभाव-निदर्शन
४ : स्वभाव-चित्रण
५ : क्रिया-चित्रण
६ : परिस्थितिगत अनुकूलता-ज्ञापन
७ : पात्र-मनःस्थिति-ज्ञापन
८ : चरित्र की रूपरेखा निखारने
९ : वस्तु का संक्षिप्त एव चित्ताकर्षक वर्णन
१० : दृश्य का चित्ताकर्षण
११ . चलचित्रात्मक-त्वरण
१२ : विचार को हृदयगम बनाने।

१ : भावोत्कर्ष-ज्ञापन :

रस काव्य का प्राण माना गया है। भावरस का अभाव सम्बन्ध सुज्ञात है। अतः जो अलकार रस-भाव का उपस्कर करते है, वे बडे सार्थक माने गये है। मानस मे ऐसे ही अधिकाश

अलंकार हैं, जो भावों को उत्कर्ष प्रदान करने मे पूर्ण सक्षम है। श्रीराम का आगमन रंगभूमि मे हुआ। विभिन्न राजाओं, जनक तथा सीता ने श्रीराम को किस रूप में देखा, उस भाव का चित्रण कवि का अभिप्रेत है। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षाओं एवं उपमाओं के फूलों से गुँथा हुआ। उल्लेख का हीरक-हार राम की विराटता एव उदात्तता को अभिव्यक्त करने मे पूर्णतः सक्षम हुआ है। पंक्तियाँ देखें—

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहु बीर रसु धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुर बासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई॥

नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज-निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्त्व मय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥
रामहि चितव भाय जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहि कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कवि कोऊ॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥[1]

सीता जी अपने हृदय मे उमडते भावों का वर्णन भले न कर सकें, किन्तु तुलसीदास ने न केवल उनके हृदयस्थ भावो का, वरन् सम्पूर्ण समाज के भावो का यथार्थ विवरण उपस्थित किया है। यहाँ अलंकार ने भावोत्कर्ष-व्यंजना मे कितनी सहायता की है, उसके लिए "उर अनुभवति न कहि सकि कोऊ" का कथन ही अलम् होगा। मानस मे ऐसे अनेक स्थल है, किन्तु उन स्थलों से धनुभंग के पश्चात् विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के उल्लास-विषाद की व्यंजना जो उत्प्रेक्षा और उदाहरण के मिश्रण से[2] या जनक के चित्रकूट पहुँचने पर आश्रमसागर शांत रस का हृदयद्रावक दृश्य रूपक द्वारा दिखलाया गया है।[3] परिकरांकुर एवं पर्यायोक्ति[4] द्वारा जब राम जटायु से दशरथ को सीता-हरण का संवाद न कहने का अनुनय करते हैं, तो धीरता, वीरता एव सुशीलता की त्रिवेणी, विशेष रूप से अवेक्षणीय है।

## २ : रूप-प्रभाव-निदर्शन :

रूप का व्यापक प्रभाव दिखलाने के लिए मानस में अलंकार का जितना उपयोग हुआ है, उतना उसकी सूक्ष्म रेखाओं को उभारने के लिए नहीं। सीता और राम के रूप-वर्णन में यदि

---

१ : [illegible]
२ : [illegible]
३ : [illegible]
४ : [illegible]

गोस्वामी जी चाहते तो अनेक अवसर निकाल सकते थे, किन्तु उन्होने फारसी या रीतिकालीन कवियो की शैली से भिन्न अलंकारो का प्रयोग किया है। सीता का रूप-वर्णन करते कवि कहता है—

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत वचनु न आवा॥
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु बरई॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं विदेह कुमारी॥[1]

दो निरलंकृत अर्द्धालियो के बीच असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा और सौंदर्यात्युक्ति वाली दो अर्द्धालियो के द्वारा सीता के जिस अपरूप रूप की व्यजना कवि ने कराई है, वैसा स्थल कम महाकाव्यो मे देखने को मिलता है। गोस्वामी जी अलंकारो के हलके रंग वाली रेखाओं से जैसा भव्य चित्र अंकित कर जाते है कि चकित रह जाना पड़ता है।

३ : गुण-प्रभाव-निदर्शन :

गोस्वामी जी ने अपने पात्रो के गुण का सम्यक् वोध कराने के लिए भी अलंकारो का प्रयोग किया है। जो सीता पलग-पीठ, गोद, हिंडोर से कभी नीचे नही उतरो, जिन्हे दीप-बाती भी नही टारने दिया गया, वही सुकोमल सुकुमार सीता वन जा रही है। वहाँ उनके विभिन्न अंगो को अपार कष्ट होगा।

कौशल्या के माध्यम से गोस्वामी जी ने सम, उपमा, अर्थापत्ति एवं काव्यलिंग जैसे अलंकारो के द्वारा सीता के मन, त्वक्, नेत्र एवं पग मे होने वाली पीडाओ की बड़ी ही सफल व्यजना करायी है। एक अग मे पीडा हो तो कही जा सकती है, किन्तु जहाँ इतने अंगो एव मन मे पीडा हो, उन्हे सहना तो अकल्पनीय है। कौशल्या के इस कथन से सीता के सौकुमार्य का बड़ा ही स्पष्ट चित्रण हुआ है—

पाहनकृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥
कै तापसतिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू॥
सिय बन बसहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती॥
सुरसर सुभग बनज बनचारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥

२.६०.२-५

४ : स्वभाव-चित्रण

स्वभाव के सम्यक् ज्ञान के लिए मानस मे अनेकत्र अलकारो का प्रयोग हुआ है। स्वभाव तो ऐसी अमूर्त्त वस्तु है कि यदि अलकारो का आश्रय न लिया जाय तो उसके स्वरूप को हृदयंगम करना संभव नही हो पाता। संत-असत तथा केवल संत के स्वभाव निरूपण के लिए गोस्वामी जी ने व्यतिरेक की सहायता न ली होती तो ये वर्णन इतने सुबोध और प्रभावजनक नही हो पाते। उदाहरण देखे—

---

१ : १.२३०.५-८
अन्य स्थल—३.३०.५-७

१ : बंदौं संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना॥
विछुरत एक प्रान हरि लेई। मिलत एक दुख दारुन देई॥[1]

२. संत हृदय नवनीत समाना। कहा कवि परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥[2]

## ५ : क्रिया-चित्रण :

रामचरितमानस प्रबंध काव्य है। अत इसमे व्यापार-वर्णन का प्राचुर्य होना स्वाभाविक है। गोस्वामी जी ने क्रियाओ का मोहक वर्णन करने के लिए अलंकार-योजना की है। तुल्य-योगिता अथवा सहोक्ति के सहारे शिव-धनुप रूपी जहाज पर आठ सवारो के समाज के चढ़ने का वडा ही चित्ताकर्षक वर्णन गोस्वामी जी ने किया है—

सबकर संसउ अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥
भृगुपति केरि गरब गरुआई। सुर मुनि बरन्ह केरि कदराई॥
सिय कर सोचु जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा॥
संभुचाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संगु बनाई॥

१.२६०.४-७

इसी तरह उदयगिरि-मंच पर रघुवर-बाल-पतग के उदित होने पर संत-सरोज के विकसित होने तथा उनके लोचन-भृंगो के हर्षित होने में ही नही, वरन् नृप की आशानिशि के नाश, उनके वचन-नखत समूह के न प्रकाशित होने, मानो महीप। कुमुद के सकुचाने, कपटी भूप-उलूक के लुकाने तथा मुनिदेव-कोक के विशोक होने मे अनुगामी धर्म का निर्वाह बड़ी ही कुशलता से किया गया है। इस रूपक-निर्माण के द्वारा कवि रूप-चित्रण करना नही चाहता, वरन् क्रिया-साहश्य को व्यक्त करना चाहता है।

उदित उदय गिरि मंच पर रघुवर वाल पतंग।
विकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी॥ वचन नखत अवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहि सेवा॥

१.२५४ से १.२५५.३

## ६ : परिस्थिति-अनुकूलता-ज्ञापन :

गोस्वामीजी ने परिस्थिति की अनुकूलता दर्शित करने के लिए अलंकारो का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। एक ही वनवासी राम के लिए विभिन्न परिस्थितियो मे अलंकरण-सामग्री बदल जाती है तथा उसके द्वारा परिस्थिति का उत्तम बोध हो जाता है—

१ : लखन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत।
मोह मदनु मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥

२.१३३

---

१ : १.५.३-४
२ : ७.१२५.७-८
तथा १.२४४

२ : राम लखन सीता सहित सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत ॥

२. ४०

३ : सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें शरीर ॥

२.३२०

पर्णकुटी-निवासी वनवासी राम, लक्ष्मण और सीता के लिए ही अयोध्याकाड मे गोस्वामी जी ने इन तीन दोहो मे दो अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षाओ एवं एक पूर्णोपमा के द्वारा परिस्थितिगत-पर्याय को वडी ही सूक्ष्मता से व्यक्त किया है। राम, लक्ष्मण और सीता अभी ही राजसी ऐश्वर्य से जंगल मे आये है—इसलिए इनकी सुकुमारता पूर्णत विद्यमान है। इसलिए रूप के प्रतिमान कामदेव, वसंत और रति से तीनो को उत्प्रेक्षित किया गया। वन मे जब राम निवास करने लगे तो उन्हे वन का आधिपत्य-प्रभुत्व मिल गया। दशरथ के वनवास देने से नगर का साम्राज्य भले छिन गया हो, किन्तु वन का साम्राज्य तो मिल गया। राम तो जहाँ रहेगे, वहाँ सभी उन्हे अपना प्रभु मानेंगे ही। इसलिए उत्प्रेक्षा से पूर्णोपमा-संक्रमण द्वारा कवि राम, लक्ष्मण और सीता को इन्द्र, जयन्त और शची से उपमित कर रहा है। किन्तु वन मे रहते-रहते शान्त निश्छल वातावरण मे लक्ष्मण और सीता की मन स्थिति बिलकुल बदल-सी गई है। इसलिए कवि पुन उन्हे सशरीर ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के रूप मे देखता है। इन अलकारो ने परिस्थिति-परिवर्तन के ग्राफ को पूर्णतः व्यक्त किया है।

७ · पात्र-मन·स्थिति-ज्ञापन :

पात्रो के मनःस्थिति-ज्ञापन के लिए मानस मे अनेक अलंकार आये है। "तापस बेषु बिसेपि उदासी। चौदह बरसि राम बनवासी॥" वाली कैकेई की उक्ति सुनकर राजा की जो स्थिति हुई, उसका प्रकाशन गोस्वामी जी ने तीन अर्द्धालियो मे दृष्टान्त और उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के माध्यम से किया है।

सुनि मृदु बचन भूप हिय सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयेउ सहमि नहि कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिवरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हतेउ मनहुँ तरु तालू॥

२.२९.४-६

चन्द्र-किरणो से चकवा का विकल होना, बटेर पर बाज का झपटना तथा ताड के पेड़ पर बिजली का गिरना—इन अप्रस्तुतो के द्वारा कवि ने दशरथ की मानसिक, वाचिक एवं कायिक पीडा की त्रिवेणी ही उमडा डाली है।

मानस मे ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ अलकार पात्र का अन्तर्द्वार खोलते है, उनके मर्म का कोना झाँकते हैं।

लक्ष्मण को शक्ति लगने के पश्चात् कवि ने श्री राम की मनोव्यथा का चित्रण तीन उपमाओ के माध्यम से किया है—

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिनु तोही। जौं जड दैव जिआवै मोही॥

६.६१.९-१०

पक्षी पंख के विना चल नही सकता। सर्प मणि के विना देख नही सकता तथा हाथी सूँढ के विना खा नही सकता। पक्षी पंख अर्थात् पाँव, साँप अवलोकन-शक्ति अर्थात् आँख तथा हाथी सूढ अर्थात् हाथ के विना आहार ग्रहण करने मे असमर्थ होकर क्रमश. छीजकर प्राण त्याग कर देता है। लक्ष्मण राम के अनन्य सेवक हैं। सेवक तीन इन्द्रियो से होता है। "सेवक कर पद नयन सों मुख सो साहिव होय।" लक्ष्मण ही श्रीराम के हाथ, पाँव तथा नेत्र है। श्रीराम इन तीन उपमाओ के द्वारा लक्ष्मण को अपना हाथ-पाँव और नेत्र सूचित करते हैं। ये तीनो उपमाओ को तीन इन्द्रियो के लिए दिया गया है। पक्षी की उपमा पैर के लिए, साँप की उपमा आँख के लिए तथा हाथी की उपमा हाथ के लिए दी गई है। उपमामिश्रित-विनोक्तिमाला के द्वारा गोस्वामी जी श्रीराम की प्रमुख इन्द्रियो की विकलांगता दिखलाकर उनकी असहायावस्था का सम्यक् बोध करा देते है। किसी एक अंग का अभाव होता तो किसी प्रकार जीवन धारण किया जा सकता था, किन्तु इन तीनो अंगो से विरहित होने पर तो राम का प्राण-धारण कतई सम्भव नही है। भक्त और भगवान् उपास्य और उपासक, सेवक और सेव्य के परस्परानुराग की विज्ञप्ति के लिए अलंकारो की अनिवार्यता पर मुग्ध हो जाना पडता है।

८ : चरित्र की रूपरेखा निखारने :

गोस्वामी जी ने अलंकारो के माध्यम से चरित्रो का भास्वर रूप हमारे समक्ष खडा किया है। माता सुनयना जब राम के सुकुमार रूप को देखती है तो उन्हें ऐसा लगता है कि क्या बाल मराल मंदराचल को उठा सकता है? उनको लगता है कि राजा जनक की सारी बुद्धिमत्ता समाप्त हो गयी है, नही तो विश्वामित्र को अवश्य समझा कर कहते कि इस नवनीत के टुकड़े से लोहा काटने का काम न लें। इसी पर एक सखी कहती है—

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोषेउ सुजसु सकल संसारा॥
रवि मंडल देखत लघु लागा। उदयँ तासु त्रिभुवन तम भागा॥

मंत्र परम लघु जासु बस विधि हरिहर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ, बस कर अंकुश खर्ब॥

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥
देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥

१.२५६.७—१.२५७.२

कवि ने यहाँ पाँच दृष्टान्तो द्वारा राम के पाँच ऐश्वर्यो-प्रताप, तेज, बुद्धि, गुण तथा बल की बड़ी ही निगूढ़ व्यंजना कराई है। प्रकारान्तर से राम के माहात्म्य-स्थापन के लिए अलंकार के इस प्रयोग में इनकी वाह्यधर्मिता समाप्त हो गयी है। इसी तरह—

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी॥

१.२५३.४-५

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनुभाथ॥

१.२५३.८-१०

पांच उपमाओं के युगपत् प्रयोग के द्वारा गोस्वामी जी ने लक्ष्मण के ऊर्जस्वल वीर व्यक्तित्व की ऐसी झाँकी दिखलाई है कि अभी से उनके श्रीराम के सहयोगी होने की क्षमता रखने में हम विश्वास करने लगते है। ज़ो लक्ष्मण देवाधिदेव महादेव शंकर के धनुष को कुकुरमुत्ते की तरह तोड़ दे सकते हैं, उनके समक्ष निशाचरो की सेना कभी टिक ही नही सकती। इन उपमाओ ने लक्ष्मण के सुदृढ व्यक्तित्व की आधारशिला तो रखी ही है, साथ-ही-साथ उनके आगमिष्यत् अलौकिक कर्त्तव्यों के प्रति हमे आस्थावान् भी कर दिया है।

अलंकारो की सूची से गोस्वामी जी ने कैकेयी की जो तस्वीर बनाई है, उसे देखकर तो दंग रह जाना पड़ता है। विश्वख्यात नाटककार शेक्सपियर अपनी दुःखान्तकियो मे खल नायिकाओ का व्यक्तित्व जैसा नही उभार सके है, उससे कही अच्छी तरह गोस्वामी जी ने कैकेयी का भयावह चित्र उपस्थित किया है। कैकेयी से सम्बद्ध पंक्तियाँ देखें—

१ : साँझ समय सानंद नृपु गयेउ कैकेई गेह।
गवनु निठुरता निकट किये जनु धरि देह सनेह ॥—रूपक

२.२४

२ : मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि
विषम भाँति निहारई।—वस्तूत्प्रेक्षा

२.२५.१०

३ : येह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु मनहु किरातिन फंद ॥—रूपक

२.२६

४ : चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई।—उपमा या उदाहरण

२.२७.५

५ : भूप मनोरथ सुभग बनु सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति बचनु भयंकरु बाजु ॥—रूपक

२.२८

६ : ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू।—दृष्टान्त

२.२९.४

७ : जनु सचान बन झपटेउ लावा।—वस्तूत्प्रेक्षा

२.२९.५

८ : दामिनि हनउ मनहुँ तरु तालू।—वस्तूत्प्रेक्षा

२.२९.६

९ : मानहु लोन जरे पर देई।—वस्तूत्प्रेक्षा लोकोक्ति

२.३०.८

१० : मनहुँ रोष तरवारि उघारी।—वस्तूत्प्रेक्षा

२.३१.१

११ : मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।—वस्तूत्प्रेक्षा

२.३४.१

१२ : तिय मिस मीचु सीस पर नाँची ।—कैतवापह्नुति
२.३४.५

१३ : जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ।—परंपरित रूपक
३.३४.६

१४ : देखी व्याधि असाधि नृपु ।—तद्रूप रूपक
२.३४

१५ : करिनि कलपतरु मनहु निपाता ।—वस्तूत्प्रेक्षा
२.३५.१

१६ : मनहुँ घाय महुँ माहुर देइ ।—वस्तूत्प्रेक्षा
२.३५.३

१७ : मारसि गाय नहारू लागी ।—ललित
२.३६.८

१८ : परेउ राउ कहि कोटि बिधि काहे करसि निदानु ।
कपट सयानि न कहति कछु जागति मनहुँ मसानु ॥—वस्तूत्प्रेक्षा
२.३६

१९ : जाइ दीख रघुबंस मनि नरपति निपट कुसाजु ।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु ॥—वस्तूत्प्रेक्षा
२.३९

२० : मानहु मीचु घरी गनि लेई ।—वस्तूत्प्रेक्षा
२.४० २

इस तरह विभिन्न अलंकारों की सहायता से गोस्वामी जी ने कैकेयी की भयावह कठोर मूर्त्ति का निर्माण किया है। कैकेयी की यह मूर्त्ति ऐसी विद्रूपकारिणी हुई है कि वह पाठकों से सहज ही घृणा प्राप्त करती है। कैकेयी की इस क्रूर मूर्त्ति के साथ-साथ दशरथ की दयनीय मूर्त्ति भी हमारी आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाती है और उन्हें पाठकों की सहज करुणा एवं सजल सहानुभूति का अर्घ्य प्राप्त हो जाता है। यहाँ ये अलंकार बाह्य-भूषण की तरह नहीं प्रतीत होते, वरन् कर्ण के कवच-कुंडल की तरह रचना के अभिन्न अंग बन गये हैं।

९ : वस्तु का चित्ताकर्षक एवं संक्षिप्त वर्णन :

गोस्वामी जी ने कथावस्तु के संक्षिप्तीकरण एवं चित्ताकर्षण के लिए भी यत्र-तत्र अलंकारों का प्रयोग किया है—

रावनु बानु महाभट भारे । देखि सरासनु गवँहिं सिधारे ॥
१ २५०.२

भूप सहस दस एकहि बारा । लगे उठावन टरै न टारा ॥
१.२५१.१

यहाँ तुल्ययोगिता एवं विनोक्ति की सहायता से कवि ने कथावस्तु का संकोच किया है। वे रावण, बाण जैसे महान्-महान् शूरों के बल, शक्ति, वैभव, चेष्टा एवं पराजय का सहस्र पृष्ठों में वर्णन कर सकते थे और "बाढ़इ कथा पार नहिं लहई" की स्थिति उत्पन्न हो जाती, किन्तु

गोस्वामी जी को मात्रा एवं अनुपात का पूरा ज्ञान है। अतः वे इन दो अर्द्धालियों में ही कथा का सार प्रस्तुत कर देते हैं। यहाँ तुल्ययोगिता एवं विशेषोक्ति ने राम के पराक्रम की जो पृष्ठभूमि निर्मित की है, वह तो सहज अनुमेय है।

१० : दृश्य का चित्ताकर्षण :

गोस्वामी जी ने मानस में प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक—दोनो प्रकार के दृश्यो को अलंकार की सहायता से मानसगोचर कराने मे पर्याप्त सफलता पाई है। राम-विवाह की बारात दरवाजे लगी है। जनकपुर की स्त्रियाँ परिछन करने चली है। देवगण हर्षोत्फुल्ल होकर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। इस वैवाहिक दृश्य का वर्णन देखे—

धूप धूम नभु मेचकु भयेऊ। सावन घनघमंडु जनु ठयेऊ॥
सुर तरु सुमन माल सुर बरषहिं। मनहु बलाक अवलि मनु करषहिं॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहु पाकरिपु चाप सँवारे॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि॥
दुंदुभि धुनि घन गरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा॥
सुर सुगन्ध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर नरनारी॥

१.३४७.१-६

उत्प्रेक्षा पुष्ट वर्षा के सांग रूपक द्वारा गोस्वामी जी ने दूलह राम की द्वार-लगाई का बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य उपस्थित किया है। राम-विवाह के सुअवसर पर लौकिक व्यवहार एवं प्रकृति का गठबन्धन कवि ने बड़ी चातुरी से किया है। जैसे "आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुः" को देखकर मन-मयूर नाचने लगता है, उसी तरह श्रीराम के इस वैवाहिक दृश्य को मानस-प्रत्यक्ष कर पाठक आनन्द-विभोर हो जाता है। वस्तु और अलकृति की ऐसी अनुस्यूति हिन्दी के महाकाव्यो में स्यात् ही दीख पड़ेगी।

११ : चलचित्रात्मक त्वरण :

मानस मे ऐसे अनेक स्थल आये है जहाँ कवि ने घटनाओ के चलचित्रात्मक त्वरण के लिए अलंकारो का उपयोग किया है। ऐसे स्थल मे अक्रमातिशयोक्ति का सहारा लिया गया है—

१ : जेहिं गिरि चरन देइ हनुमन्ता। चलेऊ सो गा पाताल तुरन्ता॥

५.१.७

२ : जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चला हनुमाना॥

५.१.८

३ : राम कृपा बल पाइ कपिन्दा। भए पक्षजुत मनहु गिरिन्दा॥

५.३५.३

४ : मंदि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसेई बचन कहहिं सब कीसा॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहु ग्रसन चहत हहिं लंका॥

५.५५.७-८

५ : कट कटान कपि कुंजर भारी। दुहुँ भुजदंड तमकि महि मारी॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे॥
गिरत सँभारि उठा दसकन्धर। भूतल परे मुकुट अति सुन्दर॥
कछु तेहि ले निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पवारे॥

रामनाम की महत्ता बड़ी ही रमणीयता से इन अलंकारों द्वारा व्यक्त की गयी है।

एक दूसरी अर्द्धाली देखें :

राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि संत समीरा ॥

७.१२० १७

गोस्वामी जी अपना यह विचार मानस पर प्रस्तर-रेखा की भाँति सुस्थिर करना चाहते हैं कि राम से बढ़कर रामभक्त है। इसी को वे तुलनात्मक उपमाओ के द्वारा व्यक्त करते हैं। राम सिंधु की तरह हैं, तो सन्त बादल की तरह हैं। राम चन्दन वृक्ष की तरह हैं, तो भगवद्भक्त समीर की तरह। सिन्धु में अपार जल भरा रहता है, किन्तु वह स्वयं किसी को जल पहुँचाता नही। चन्दन वृक्ष तो सुगन्धि का भाण्डार ही है, लेकिन वह भी किसी को सुगन्धि बाँटता नही। राम सिंधु और चन्दन तरु की तरह विशाल जल-राशि एवं अपार सुगन्धि वाले हैं, अर्थात् वे ज्ञान और भक्ति के अक्षय अर्णव हैं। राम की अन्तर्निहित शक्ति एव स्थितिक ऊर्जा पर किसी प्रकार का प्रश्नचिह्न संभव नही। किन्तु इनके वितरण का श्रेय तो भक्तो पर ही निर्भर है। सिन्धु का जल बादल वितरित करता है, चन्दन-तरु की सुगन्धि पवन सर्वत्र पहुँचाता है। जल से शारीरिक तोष एव सुगन्धि से मानसिक तोष होता है। राम ऐश्वर्य से पूर्ण है, किन्तु उसे परोपकार के लिए जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय तो हरि-भक्तो को ही है। अष्टादश पुराणो का व्यासोक्त सार वचन "परोपकार पुण्याय' का श्रेय तो हरि-भक्तो को ही प्राप्त हो जाता है। इस तरह गोस्वामी जो प्राकृतिक उपमानो के द्वारा भक्तो के प्रति हमारी आस्था दृढ कर देते है।

इसी प्रकार ज्ञानदीपक और वैराग्यमणि के रूपक द्वारा गोस्वामी जी सहज ही भक्ति की महत्ता की विजयपताका फहरा देते है। इन दो रूपको के सागोपाग विवरण मे गये बिना हम भक्ति के लिए प्रलुब्ध हो उठते है। मुक्ति को निरादर और भक्ति को आदर दिलाने का बहुत बड़ा श्रेय गोस्वामी जी की अलंकार-योजना को है—इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही।

इस प्रकार मानस से ऐसे अनगिनत स्थल उद्धृत किये जा सकते है, जहाँ वे अलंकारो के सहारे दुर्बोध-से-दुर्बोध सिद्धांतो को बोधगम्य एवं हृदयावर्जक बना देते हैं।

## २ : अलंकारों का जमघट :

जिन लोगो ने महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी एवं हर्षचरित का पारायण किया है, वे इस बात से भली-भाँति परिचित हैं कि जब कभी महाकवि किसी घटना-दृश्य या पात्र का वर्णन प्रारम्भ करते है, तो उपमाओ का ताँता बँध जाता है, उत्प्रेक्षाओ की झड़ी लग जाती है। महाकवि तुलसीदास भी जब अपने किसी प्रिय प्रसंग का वर्णन आरम्भ करते हैं, तो एक उपमा, एक रूपक या एक उत्प्रेक्षा से उन्हे सतृप्ति नही होती, वरन् उपमाओ, रूपको एवं उत्प्रेक्षाओ का अम्बार लग जाता है। बल्कि ऐसा कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि 'उनके प्रिय प्रसंगो के सर्वांगीण रोचक वर्णन के समय उपमाएँ करबद्ध प्रार्थना करने लग जाती है, उत्प्रेक्षाएँ शिरसा नमन करती हैं तथा रूपक साक्षात् दण्डवत् करने लगते है' ऐसे अवसरों पर महाकवि भवभूति की यह सूक्ति "वाग्वश्येवानुवर्तंते" उनपर सोलहो आने चरितार्थ हो जाती है। कवि रामकथा का वर्णन प्रारम्भ करता है—

बुध विश्राम सकल जन रंजनि। राम कथा कलि कलुष विभंजनि ॥
राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी ॥
रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि मूरि सुहाई ॥

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिनहीं लूक परन विधि लागे॥

६.३२.२-७

१२ : विचार को हृदयंगम बनाने :

गोस्वामी जी ने काव्य के लिए केवल भावपक्ष ही नहीं, वरन् विचारपक्ष को भी अनिवार्य माना है। कविता की चारु मुक्तामणि तभी उत्पन्न हो सकता है जब विचारों की वारिवृष्टि हो।[1] इसलिए उनके अलंकार न केवल भावोत्कर्ष में योग देते है, वरन् विचारों के विशदीकरण में पूरी सहायता प्रदान करते हैं। वे न तो कालिदास की तरह कविता के लिए कविता लिखते हैं, न बिहारी-जैसे कवियों की तरह केवल कला-प्रदर्शन के लिए काव्य लिखते हैं—और न वे अश्वघोष की तरह बौद्धधर्म के सिद्धान्तो को ही काव्यायित करने का प्रयास करते है। वे अश्वघोष की तरह ऐसा उद्घोष नही करते कि मोक्ष धर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति-प्रदान करने के लिए है, न कि आनन्द-प्रदान करने के लिए। अन्यमनस्क श्रोताओ को आकृष्ट करने के लिए ही यह कृति काव्य-शैली में लिखी गयी है। इसमे मोक्षधर्म के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है सो इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के लिए ही, जैसे कि तिक्त औषधि को पेय बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।[2]

गोस्वामी जी का रामचरितमानस ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द के साथ-साथ कान्तासम्मित उपदेश एवं सद्यःपरनिर्वृत्ति प्रदान करता है। अतः उन्होंने अपने भक्त्यात्मक एवं आध्यात्मिक विचारों के सम्यक् सम्प्रेषण के लिए भी अलंकारो का आशातिक उपयोग किया है। उनके अलंकार केवल चाकचिक्य ही पैदा नही करते, वरन् अभिभावक या सुयोग्य शिक्षक की भाँति सत्पथ-निर्वारण मे सहायता प्रदान करते है। मानस के अनेक स्थल विशेषतः मानस का आरम्भ एवं उत्तरकाण्ड का अन्त दर्शन के दुष्प्रवेश्य ग्रन्थो की तरह केवल पुस्तकालयो में दीमक का ग्रास बनता, विद्वानो का मस्तिष्क-शूल बनता, दर्शन के फलाकांक्षी छात्रों का निद्रानाशक बनता, यदि अलंकारों के मधुपाक द्वारा उन्हें गोस्वामी जी हमारे समक्ष उपस्थित नहीं करते।

अलंकार मानस मे दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं भक्तिपरक विचारों को न केवल सुबोध बनाते हैं, वरन् सुग्राह्य एवं चिन्तानुरंजक भी।

एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बरनारी॥[3]

किसी श्रेष्ठ कवि द्वारा रचित कोई काव्य कितना भी अनूठा क्यों न हो वह राम-नाम के बिना सुशोभित नहीं होता। सहज ही जिज्ञासा होती है कि महाकवि के द्वारा अनूठा काव्य केवल रामनाम से विरहित होकर किस प्रकार अशोभन हो सकता है, गोस्वामी जी दृष्टान्त-विनोक्ति की संसृष्टि द्वारा इस सत्य को बुद्धिग्राह्य बनाते हैं। चन्द्रमा के समान मुखवाली किसी अति रूपवती स्त्री को सब प्रकार से सजाइये, सँवारिये, किन्तु निर्वस्त्रा होकर वह कदापि नहीं सुशोभित होगी।

१.११.५

रामनाम की महत्ता बड़ी ही रमणीयता से इन अलंकारो द्वारा व्यक्त की गयी है ।

एक दूसरी अर्द्धाली देखें :

राम सिन्धु घन सज्जन धीरा । चन्दन तरु हरि संत समीरा ॥
७.१२० १७

गोस्वामी जी अपना यह विचार मानस पर प्रस्तर-रेखा की भाँति सुस्थिर करना चाहते हैं कि राम से बढकर रामभक्त हैं । इसी को वे तुलनात्मक उपमाओ के द्वारा व्यक्त करते हैं । राम सिंधु की तरह हैं, तो सन्त बादल की तरह है। राम चन्दन वृक्ष की तरह हैं, तो भगवद्भक्त समीर की तरह । सिन्धु मे अपार जल भरा रहता है, किन्तु वह स्वयं किसी को जल पहुँचाता नही। चन्दन वृक्ष तो सुगन्धि का भाण्डार ही है, लेकिन वह भी किसी को सुगन्धि बाँटता नही । राम सिंधु और चन्दन तरु की तरह विशाल जल-राशि एवं अपार सुगन्धि वाले है, अर्थात् वे ज्ञान और भक्ति के अक्षय अर्णव हैं। राम की अन्तर्निहित शक्ति एवं स्थितिक ऊर्जा पर किसी प्रकार का प्रश्नचिह्न सभव नही । किन्तु इनके वितरण का श्रेय तो भक्तो पर ही निभर है । सिन्धु का जल बादल वितरित करता है, चन्दन-तरु की सुगन्धि पवन सर्वत्र पहुँचाता है । जल से शारीरिक तोष एवं सुगन्धि से मानसिक तोष होता है । राम ऐश्वर्य से पूर्ण है, किन्तु उसे परोपकार के लिए जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय तो हरि-भक्तो को ही है । अष्टादश पुराणों का व्यासोक्त सार वचन "परोपकार पुण्याय' का श्रेय तो हरि-भक्तों को ही प्राप्त हो जाता है । इस तरह गोस्वामी जो प्राकृतिक उपमानो के द्वारा भक्तो के प्रति हमारी आस्था दृढ कर देते हैं।

इसी प्रकार ज्ञानदीपक और वैराग्यमणि के रूपक द्वारा गोस्वामी जी सहज ही भक्ति की महत्ता की विजयपताका फहरा देते हैं । इन दो रूपको के सागोपांग विवरण मे गये बिना हम भक्ति के लिए प्रलुब्ध हो उठते है । मुक्ति को निरादर और भक्ति को आदर दिलाने का बहुत बड़ा श्रेय गोस्वामी जी की अलंकार-योजना को है—इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही ।

इस प्रकार मानस से ऐसे अनगिनत स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं, जहाँ वे अलंकारो के सहारे दुर्बोध-से-दुर्बोध सिद्धातो को बोधगम्य एवं हृदयावर्जक बना देते हैं ।

## २ : अलंकारों का जमघट :

जिन लोगो ने महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी एवं हर्षचरित का पारायण किया है, वे इस बात से भली-भाँति परिचित है कि जब कभी महाकवि किसी घटना-दृश्य या पात्र का वर्णन प्रारम्भ करते हैं, तो उपमाओ का ताँता बँध जाता है, उत्प्रेक्षाओ की झड़ी लग जाती है । महाकवि तुलसीदास भी जब अपने किसी प्रिय प्रसंग का वर्णन आरम्भ करते है, तो एक उपमा, एक रूपक या एक उत्प्रेक्षा से उन्हे सतृप्ति नही होती, वरन् उपमाओ, रूपको एवं उत्प्रेक्षाओ का अम्बार लग जाता है । बल्कि ऐसा कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि 'उनके प्रिय प्रसंगो के सर्वांगीण रोचक वर्णन के समय उपमाएँ करबद्ध प्रार्थना करने लग जाती है, उत्प्रेक्षाएँ शिरसा नमन करती हैं तथा रूपक साक्षात् दण्डवत् करने लगते हैं' ऐसे अवसरों पर महाकवि भवभूति की यह सूक्ति "वाग्वश्ये-वानुवर्तते" उनपर सोलहो आने चरितार्थ हो जाती है । कवि रामकथा का वर्णन प्रारम्भ करता है—

बुध विश्राम सकल जन रजनि । राम कथा कलि कलुष बिभंजनि ॥
राम कथा कलि पन्नग भरनी । पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी ॥
रामकथा कलि कामद गाई । सुजन सजीवनि मूरि सुहाई ॥

सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि । भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि ।।
असुर सेन सम नरक निकंदनि । साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि ।।
सन्त समाज पयोधि रमा सी । बिस्वभार भर अचल छमा सी ।।
जमगन मुह मसि जग जमुना सी । जीवन मुकुति हेतु जनु कासी ।।
रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी । तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ।।
सिवप्रिय मेकल सैल सुता सी । सकल सिद्धि सुख सम्पति रासी ।।
सद्गुन सुरगन अम्ब अदिति सी । रघुबर भगति प्रेम परमिति सी ।।
रामकथा मन्दाकिनी चित्रकूट चित चारु ।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु ।।

१.३१.५-१६

रूपक-पुष्ट उपमाओं के इस रपटीले पथ पर दौड़ते हुए पाठक एक क्षण विश्राम लेना चाहता है, किन्तु गोस्वामी जी की विधायिनी प्रतिभा एवं उर्वर कल्पना उसे विश्राम नहीं लेने देती। तुरत रामकथा की अपेक्षा रामचरित का वृहत् वर्णन आरम्भ हो जाता है—

रामचरित चिन्तामनि चारू । सन्त सुमति तिअ सुभग सिंगारू ।।
जग मंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति-धन धरम धाम के ।।
सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के । बिबुध बैद भव भीम रोग के ।।
जननि जनक सिय राम प्रेम के । बीज सकल ब्रत धरम नेम के ।।
समन पाप संताप सोक के । प्रिय पालक परलोक लोक के ।।
सचिव सुभट भूपति बिचार के । कुम्भज लोभ उदधि अपार के ।।
काम कोह कलिमल करिगन के । केहरि सावक जनमन बन के ।।
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । कामद धन दारिद दवारि के ।।
मन्त्र महामनि बिषय ब्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ।।
हरन मोह तम दिनकर कर से । सेवक सालि पाल जलधर से ।।
अभिमत दानि देवतरुबर से । सेवत सुलभ सुखद हरिहर से ।।
सुकबि सरद नभ मन उडगन से । राम भगत जन जीवन धन से ।।
सकल सुकृत फल भूरि भोग से । जगहित निरुपधि साधु लोग से ।।
सेवक मन मानस मराल से । पावन गंग तरंग माल से ।।
कुपथ कुतरक कुचालि कपट दम्भ पाषंड ।
दहन राम गुन ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ।।
रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु ।।

१.३२.१-१८

एक रामचरित के लिए गोस्वामी जी एक-दो नहीं, वरन् लगभग तीन दर्जन उपमाओं की कतार खड़ी कर देते हैं। रामचरित को चिन्तामणि, सद्गुरु, संसार-रोग-नाशक, देवगुरु, सीताराम के प्रेमोत्पत्ति-कर्ता, जननि-जनक, व्रत, धर्म, नियमों के बीज, विचार-रूपी राजा के शूरवीर मन्त्री, लोभ रूपी अपार उदधि के अगस्त्य, काम-क्रोधादि हाथी के लिए सिंह, दरिद्रता-दावानल को बुझाने के लिए मेघ, विषयव्याल के लिए मन्त्र और महामणि, मोहान्धकार के लिए सूर्य-किरण, सेवक रूपी धान के लिए मेघ, अभिलषित वस्तु देने के लिए कल्पवृक्ष, सेवा करने में विष्णु और शिव की तरह सुलभ, सुकवि रूपी शरदनभ के लिए नक्षत्र-समूह, भक्तों के लिए जीवन-धन, हित करने में साधु-

सन्त, कुतर्क, कुचाल, कपट, छल तथा पाखण्ड को जलाने के लिए अनल, राकेश-कर की तरह सर्व-सुखद तथा सज्जन-कुमुद एवं चकोर के लिए विशेष सुखप्रद कहकर अपने कल्पना-विलास एव वर्णन-नैपुण्य की अमिट छाप छोड़ जाते हैं। रूपकगर्भ उपमाएँ या उपमाओ की इस कुसुमित वाटिका में पहुँच कर पाठक रामचरित की उदात्त एवं गरिमा से अभिभूत हो उठता है। औरों की बात तो छोड़िये, कामी काक-बलाक भी यहाँ आकर शुक बनकर रामोच्चार करने लग जाते हैं। उपमाओ का यह वामन-विस्तार तीनों लोकों को मापकर रामचरित की ब्रह्माण्ड-व्यापिनी-महिमा के महोच्चार में पूर्णतः सक्षम सिद्ध हुआ है।

इसी तरह जब रूपक की बारी आई है तो इसने अन्य अलंकारों का प्रवेश-निषेध कर दिया है। रूपको की घटा श्रीराम-स्तुति के अवसर पर अनेकशः उमड़ी है। सुतीक्ष्ण-स्तुति में रूपक का हीरक-हार ही गुंथ गया है—

पंक्तियाँ हैं—

मोह विपिन घन दहन कृशानुः। सन्त सरोरुह कानन भानुः॥
निशिचर करि बरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव खग बाजः॥
अरुण नयन राजीव सुवेशं। सीता नयन चकोर निशेशं॥
हरहृदि मानस राज मरालं। नौमि राम उर बाहु विशालं॥
संशय सर्प ग्रसन उरगादः। शमन सुकर्कश तर्क विषादः॥

× × ×

भवन कल्पपादप आरामः। तर्जन क्रोध लोभ मद कामः॥
अति नागर भव सागर सेतुः। त्रातु सदा दिनकर कुलकेतुः॥

३.११.५-९ तथा ३.११.१३-१४

इसी तरह जब उत्प्रेक्षा की बहार आती है तो अन्य अलंकार श्रीहीन हो जाते हैं। जब कवि ने कैकेयी की कुटिलता का उत्प्रेक्षण आरम्भ किया तो उसने तीन उत्प्रेक्षाओ की तिलड़ी तैयार कर दी।[1] राम-लक्ष्मण और सीता को वन मे छोड़कर जब सुमन्त्र लौटे, तो उन्होने चक्रवर्ती सम्राट्

१ : २.४१.१-६

अन्य स्थल :

१ : राम नाम दो अक्षर वर्णन प्रसंग
२ : हरि कथा न सुननेवाले के लिए—१.११३,२-७
३ : श्रीराम को विभिन्न व्यक्तियों द्वारा देखना—१ २४१ ४-१.२४२ ६
४ : लक्ष्मण क्रोध—१.२५३.४-१०
५ : १.२५६.७-१ २५७.१
६ : १.३४७.१-६
७ : १.३५०.३-८
८ : २.२६.४-८
९ : २.३१६.३-८
१० : ३.११.५-१४
११ : ६.११५.२-६
१२ : ७ १४ २-८
१३ : ७.३०.५-१०
१४ : ७.६१.७-७.६२.७

महाराज दशरथ को जिस विपन्नावस्था में देखा, उसकी अभिव्यक्ति तो उत्प्रेक्षा के ही बूते की बात है। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के पौराणिक तीन डग ने मानों उनकी मनोव्यथा के तीनो लोक माप डाले। गोस्वामी जी लिखते हैं—

जाइ सुमन्त्र दीख कस राजा। अमिअ रहित जनु चन्दु बिराजा॥
लेइ उसास सोच येहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसे जजाती॥
लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पख परेउ संपाती॥

२.१४७.४ और ६-७

इन तीनो पौराणिक उत्प्रेक्षाओ के माध्यम से कवि ने महाराज की मानसिक, आर्थिक एवं शारीरिक छीजन की अवितथ व्यंजना की है।

अरण्य कांड के मदन-महीप[1] तथा लंका कांड में रावण की सेना सजाने का काम अनेकानेक उत्प्रेक्षाओ ने किया है।[2] मानस में एक साथ उत्प्रेक्षाओ की वाहिनी वहाँ सजाई गयी है जहाँ लंका में राक्षसी सेना और वानरी सेना का भयानक युद्ध छिड़ा है। एक के बाद एक उत्प्रेक्षा आकर युद्ध-दृश्य का बिलकुल साकार बना देती है।[3]

गोस्वामी जी के काव्य में न केवल सादृश्यमूलक अलंकारो मे सर्वाधिक सौंदर्य-विधायक उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक की छटा दिखलाई पड़ती है, वरन् सिद्धात सुस्पष्टक अलंकारों में उदाहरण की भी लम्बी पंक्ति दिखलाई पड़ती है। किष्किंधा काड के वर्षा-वर्णन के समय कवि ने कराब सैंतीस उदाहरणो को एकत्र उपस्थित किया है। उदाहरण की शृंखला ने प्राकृतिक दृश्यों की वर्णना के साथ-साथ नैतिक विकास के लिए एक सुदृढ़ आधारशिला रखी है। विशुद्ध कला के पारखी, केवल सुन्दरतम के उपासक को यह उदाहरणमाला भले न रुचे, किन्तु साहित्य और जीवन के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध के उद्घोषक, शिवम् के आराधक को यह वर्णन अत्यन्त ही सुखकर एव लाभकर प्रतीत होगा। यहाँ फूल ने न केवल सुरभि विकीर्ण की है, वरन् फल प्रदान कर विशेष सार्थकता सिद्ध की है।

इस तरह मानस में अनेकत्र तुलसी के अलंकार-आप्लावन का आवर्जक दृश्य देखकर उनकी कलात्मक-क्षमता पर विस्मय-विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

## ३ : अलंकार और अप्रस्तुत विधान :

कवि अलंकार-योजना विशेषतः सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना में अप्रस्तुतो का उपयोग करता है। अलंकारों की सटीकता एवं सुषमा बहुत कुछ अप्रस्तुतों के चयन पर निर्भर करती है। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में अपनी दृष्टि आकाश से पाताल और पाताल से आकाश तक दौड़ाई है[4] और उन्होंने इन्द्रधनुषी रंग-बिरंगे अप्रस्तुतों का संग्रह कर अभिव्यंजना में न केवल प्रांजलता एव सरसता लाई है, वरन् सहज चित्रात्मकता के साथ-साथ विशिष्ट-भाव-दशा-की विवृति भी की है।

१ : ३.३७—३.३८.८
२ : ६.७८.३—१५
३ : ६.८०.२-१९-६.८८.४-६
४ : The poet's eye, in a fine frenzy rolling, Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven.
—A Mid Summers Night Dream (Shakespeare) Act V. Sc. I.

कवि ने मानस में स्थल-लोक, आकाश-लोक एवं पाताल-लोक (तल-लोक) —तीनो लोको को वामन विराट् की तरह माप लिया है। तीनो लोको का एक-एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

१ : सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ॥[1]
१.२२६

२ : अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥[2]
१.२३०.३

३ : रामहि बंधु सोचु दिनु राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती ॥[3]
२.७.८

मानस मे इन त्रिलोकी अप्रस्तुतों पर ध्यान देने से एक-दो बाते और स्पष्ट होती है—(१) कवि ने जहाँ जिस लोक से अप्रस्तुत-चयन प्रारम्भ किया है, वहाँ उन्होने उसी लोक के अप्रस्तुतो की प्रमुखता रखी है। (२) दूसरी बात यह है कि मानस मे सर्वाधिक स्थलीय अप्रस्तुत है, उसके पश्चात् आकाशीय। जलीय अप्रस्तुतो की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है।

मानस के अप्रस्तुतो पर एक दूसरे प्रकार से भी विचार किया जा सकता है—

१ : रूढ़ अप्रस्तुत
२ : मौलिक अप्रस्तुत

मानस मे गोस्वामी जी ने साहित्य मे अत्यधिक प्रचलित रूढ उपमानो का बहुत प्रयोग किया है। मुख के लिए चन्द्र तथा कमल, आँखो के लिए खंजन, दाँतो के लिए मोती, दाडिम, बिजली और कुदकली, नासिका के लिए शुक, बालो के लिए साँप और मेघ, जघनो के लिए कदली-स्तम्भ, वेग के लिए पवन, शीतलता एवं आह्लादकता के लिए चंद्र, तेज, प्रताप एवं कान्ति के लिए सूर्य, गंभीरता एवं विशालता के लिए सागर, अत्यधिक प्रीति-निर्वाह के लिए चातक, मीन एवं फणि रूढ़ अप्रस्तुत है। उनका सर्वप्रिय रूढ़ उपमान कमल है। कमल मुख, हाथ, नेत्र, चरण, हृदय तथा शरीर के अन्य अंगो के लिए आया है। कमल और कमल के पर्यायवाची पंकज, सरोज, कंज, राजीव, पद्म, सरोरुह, पंकरुह, अंबुज, जलज, नलिन, नीरज, नीलकंज, सरसीरुह, अब्ज, अम्भोज, अरविन्द, वनज, सरसिज, कैरव संख्याक्रम से प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, सागर सर्प, अग्नि, कामदेव, आकाश, भ्रमर, नदी, अमृत, सरोवर, चातक, मछली, कामधेनु आदि उनके बडे ही प्रिय परपरित अप्रस्तुत हैं। गोस्वामी जी ने मानस मे धड़ल्ले से इनके पर्यायवाची शब्दो का भी प्रयोग किया है। सूर्य के लिए रवि, दिवाकर, भानु, कैरवचंद, अरुण, दिनकर, दिनेस, रवि, पतंग, चन्द्र के लिए विधु, ससि, चंदु, इंदु, मयंक, सुधाकर, निशेश, सोम, सागर के लिए अम्बुधि, अर्णव, अम्बुपति, उदधि, सिंधु, जलधि, जलनिधि, पयोनिधि, पयोधि, वासेस, कंपति, सर्प के लिए फनि, व्याल, अहिगन, उरग, नाग, भुजंग, अग्नि के लिए अनल, कृसानु, पावक, अगिनि, दव, अंगारि, शवारि, दावानल; कामदेव के लिए काम, मदनु, अनग, मनसिज, मार, मनोभव, आकाश

---

अन्य—

१ : स्थल-लोक सम्बन्धी—३.३८.३, ३.१८.४, ३.८२.५, ३ ८२.६, ३.८२.७, ३.८२.८

२ : आकाश-लोक—६ ६२.१, ६.६२.५, ६.६२.१५-१८, ६.६३ ४, १.३४७.१, १ ३४७.२, १.३४७ ३, १ ३४७ ४, १.३४७ ५, १ ३४७.६

३ : जल-लोक—६.६३.११-१२

के लिए व्योम, गगन, भ्रमर के लिए मधुप, भृंग, मधुकर, नदी के लिए सरिता, सरि; अमृत के लिए सुधा, अमिय, पीयूष; सरोवर के लिए सर, तड़ाग; चातक के लिए पपीहा; मछली के लिए मीन तथा कामधेनु के लिए सुरधेनु शब्द का प्रयोग किया है। इन रूढ़ उपमानों के प्रयोग मे कवि ने कोषप्राप्त सारे पर्यायों का व्यय किया है। मानस में इन रूढ़ उपमानों की इतनी आवृत्ति हुई है कि किसी आलोचक ने गोस्वामी जी पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि गोस्वामी जी ने अपनी पुस्तको मे कमल एवं कामदेव का इतना प्रयोग किया है कि कमल की कोमलता घिस गयी है तथा कामदेव की कमनीयता समाप्त हो गयी है।

वस्तुस्थिति यह है कि कमल, कामदेव, चाँद, सूरज जैसे उपमान भारतीय जीवन के ऐसे अभिन्न अंग बन चुके थे, हमारे संस्कारो में इतने घुल-मिल चुके थे तथा साहित्य में अपना परिचय स्थापित कर चुके थे कि गोस्वामी जी ने सहज बोधगम्यता एवं सांस्कृतिक रुचि के सुरक्षण के लिए इन रूढ़ उपमानो का इतना पुष्कल प्रयोग किया। परंपरा को पूर्ण रूप से आयत्त करते हुए मौलिकता का क्रान्तिकारी चरण-निक्षेप करनेवाला कवि तुलसीदास को छोड़कर हिन्दी भाषा में स्यात् ही कोई अन्य हो। अतः गोस्वामी जी द्वारा गृहीत इन रूढ़ उपमानो पर टीका टिप्पणी व्यर्थ प्रतीत होती है।

मानस मे रूढ़ उपमानो की संख्या बहुत है, किन्तु मौलिक उपमान भी कम नहीं हैं। ये मौलिक उपमान कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, प्रसंग का यथावत् ज्ञान एवं अक्षय कवि-प्रतिभा का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। मानस मे प्रयुक्त इन टटके ताजे अप्रस्तुतो को देखकर गोस्वामी जी की नव-नवोन्मेषिणी प्रतिभा पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। ऐसे अनगिन अप्रस्तुतों मे से कुछेक उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं:

१ : झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥
२.२०३.१

२ : साक बनिक मनिगन गुन जैसें।
१.३.१२

३ : परहित घृत जिन्हके मन माखी।
१.४.४.

४ . बरसा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥
१.१९

५ : अभिमत बिरव परेउ जनु पानी।
२.५.५

६ : कुमत कुबिहग कुलह जनु खोली।
२.२८.८

७ : जनु सचान बन झपटेउ लावा।
२.२९.५

८ : अंतावरीं गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्रामपुरबासी मनहु बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं॥
६.८८.१८-१९

९ : भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपनें॥
६.१०३.१८-१९

१० : बक्र उक्ति धनु बचन सर हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सड़सिन्ह मनहुँ काढ़त भट दससीस ॥

६ २३.१९-२०

११ : नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा ॥

७.११७.१२

१२ : ममता दादु कंडु हरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई ॥

७.१०१ ३३

१३ : अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।
तृष्णा उदर बृद्धि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी ॥

७.१२१ ३५-३६

इस प्रकार मानस मे ऐसे अपर्युषित अप्रस्तुतों का एक कोष ही तैयार किया जा सकता है जिसमें गोस्वामी जी की मौलिकता दृष्टिगत होती है तथा "जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि" वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

अप्रस्तुतों का इस प्रकार से विभाजन भी किया जा सकता है :—

१ : प्राकृतिक
२ : लौकिक
३ : शास्त्रीय
४ · सास्कृतिक
५ : परम्परित
६ : काल्पनिक

१ : प्राकृतिक उपमान :

पीपर पात सरिस मनु डोला।

२.४५.३

२ : लौकिक उपमान .

ते तव सिर कंदुक सम नाना। खेलहहिं भालु कीस चौगाना ॥

६.२७.५

३ : शास्त्रीय उपमान :

(क) पुराण से—भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥

१.२३०.४

(ख) दर्शन से—ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।

१.२०.४

(ग) ज्योतिष से—अवध साढ़साती तब बोली।

२.१७.४

(घ) भैषज्य—भव भेषज रघुनाथ जसु।

४.३०

(ङ) व्याकरण—सरिस स्वान मघवान जुवानू।

२.३०१.८

(च) काव्यशास्त्र—जिमि करुना महँ बीर रस।

६.६१

(छ) भूगोल—मगह गयादिक तीरथ जैसे।

२.४३ ७

४ : सांस्कृतिक अप्रस्तुत :

(क) चरइ हरित तिन बलि पसु जैसे। २.२२.२

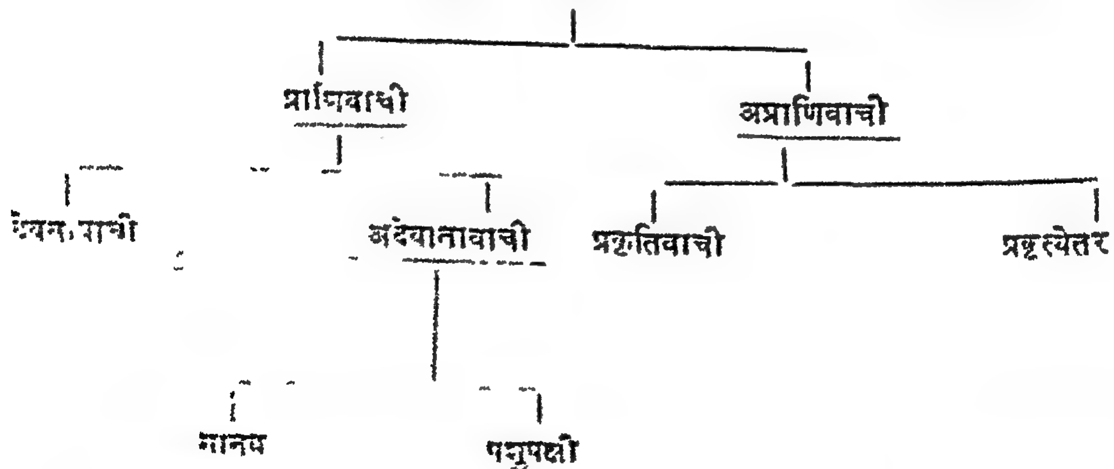
(ख) पुरोडास चह रासभ खावा। ३.२९.५

(ग) होइ पाप गोघात समाना। ६.३२.२

५ : परपरित अप्रस्तुत } दोनों के अनेक उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।
६ . काल्पनिक अप्रस्तुत }

इस तरह हमने देखा कि गोस्वामी जी की भेदक दृष्टि कहीं पौराणिक पृष्ठों को उलटती है, कहीं लौकिक घटनाओं की छानबीन करती है। कभी कवि दर्शन और व्याकरण के नीरस सूत्रों का सरस उपयोग करता है, कहीं वह काव्य-वर्णित मधुर उपमानों को और भी मधुर कर देता है। कभी कवि प्रसूनों को पुकारता है, कभी भौंरों के साथ मँडराकर उनका गुंजार सुनता है, कभी चाँद सूरज को निहारता है तथा कभी सागर की उत्ताल तरंगों पर अठखेलियाँ करता है। कभी वह अपने साहित्यिक निधि का कोष खोल देता है, तो कभी वह अपनी सांस्कृतिक विरासत को दिल खोलकर लुटा देता है। इस तरह मानस में गोस्वामी जी ने "गो गोचर जहँ लग मन जाई" से अप्रस्तुतों से महार्घ-मोहक मणि-माणिक्य बटोर साहित्य-देवता के मस्तक पर ऐसा मुकुट रखा है कि हम भारतवासियों का भाल अनायास ही गौरवदीप्त हो उठता है।

मानस के उपमानों का वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है—




इनमें भी अन्य अवान्तर भेद-प्रभेद संभव हैं। मानस से इनके कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

१ : देवतावाची अप्रस्तुत :

मुख बरन जनु सारद छाई। १.३५०.८

२ : (क) मानववाची अप्रस्तुत :

रानि दसा जिमि करुना कपू। २.३५.७

२ : (ग) पशुपक्षीवाची अप्रस्तुत :

मनहु बलाक अवलि मनु करषहिं ।

१ ३४७ २

३ : प्रकृतिवाची अप्रस्तुत

चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ।

१ ३४७.४

४ · प्रकृत्येतर अप्रस्तुत ·

जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ।

२.३४ ६

इस प्रकार मानस के अप्रस्तुतो का अनेकधा विभाजन संभव है। ये अप्रस्तुत कवि की सूक्ष्मेक्षिका प्रज्ञा, सदिच्छा एवं महत् संकल्प के मणिदीप हैं। शिवम् एवं सुन्दरम्, पार्थिव एवं अपार्थिव, संकल्प एवं क्रिया तथा सूक्ष्म आधार एवं स्थूल व्यापार की अन्विति के लिए इन अप्रस्तुतो से निर्मित अलंकारो का कटक-कुंडलवत् नही, वरन् आत्मस्थ भावो की तरह अखर्व महत्त्व है।

## ४ : अलंकार और विम्ब-निर्माण :

अलंकार का कार्य, भाव, कथ्य एवं विचार को सुशोभित कर समुपस्थित करना है। विम्ब एक शब्दचित्र है जो किसी संवेग या मनोराग से अनुप्राणित रहता है।[1] अलंकार और विम्ब का सम्बन्ध बहुत गहरा है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है "अलंकार-विधान और विम्ब-विधान दोनो प्रायः अप्रस्तुत-विधान के वाचक और परस्पर समानार्थक बन जाते है। फिर भी अलंकार और बिम्ब मे भेद है। यह ठीक है कि दोनो अभिव्यंजना के उपकरण हैं और दोनो के कर्त्तव्य-कर्म प्रायः समान हैं, परन्तु अलंकार की परिधि अधिक व्यापक है। विम्ब का क्षेत्र औपम्य-साम्यमूलक अलंकारो तक सीमित है। विरोध मे भी साम्य का विपरीत रूप होने से विरोधमूलक अलंकारो मे भी विम्ब की कल्पना की जा सकती है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी रचनानुक्रम, श्लेष आदि पर आश्रित अनेक अलंकार रह जाते है जिनमे विम्ब की कल्पना नही की जा सकती है—जबतक कि विम्ब को व्याप्ति अर्थमात्र तक न मान ली जाय।[2]

अलकार और विम्ब के सम्बन्ध का सविस्तर विश्लेषण न करके भी इतना निश्चित है कि सादृश्यमूलक अलंकारो की सफलता मे चार चाँद लग जाते है यदि उनके द्वारा स्वच्छ विम्ब निर्मित होते हो। कहना न होगा कि मानस मे सादृश्यमूलक अलकारो के द्वारा गोस्वामी जी ने भिन्न-भिन्न प्रकार की विम्ब-सृष्टि मे अभूतपूर्व सफलता पाई है।

ऐन्द्रिय माध्यम के आधार पर विम्ब के पाँच भेद हो सकते हैं—

१ · चाक्षुप विम्ब—(भिजुअल इमेज)
२ : श्रव्य विम्ब—(आडिटरी इमेज)
२ · स्पृश्य विम्ब—(टैक्टाइल इमेज)
४ घ्रातव्य विम्ब—(आल्फैक्टरी इमेज)
५ · रस्य विम्ब—(गस्टेटरी इमेज)

---

1. A poetic image is a word-picture charged with emotion or passion. Poetic Image-C.D.Lewis. Pege 19

२. काव्यबिम्ब-पृ० ८

इन पाँच प्रकार के बिम्बों में चाक्षुप बिम्ब का स्वरूप सर्वाधिक सुस्पष्ट होता है। ऐसे बिम्बों के द्वारा कवि-मानस मे दृश्य पदार्थ का रागात्मक संमूर्त्तन होता है। कवि सादृश्यमूलक अलंकारों की सहायता से ऐसे दृश्य-बिम्बों का निर्माण करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि मानस मे चाक्षुप बिम्बो का सर्वाधिक सृजन हुआ है। श्रव्य बिम्ब का ग्रहण कर्णेन्द्रिय द्वारा, स्पृश्य बिम्ब का ग्रहण त्वक्-स्पर्श द्वारा, घ्रातव्य बिम्ब का ग्रहण नासिका द्वारा तथा रस्य या आस्वाद्य बिम्ब का ग्रहण जिह्वा द्वारा होता है। इनमे इन पाँचो ज्ञानेन्द्रियो का सीधा सन्निकर्ष होता है अतः इन्हें "प्रत्यक्ष बिम्ब" की संज्ञा भी दी गयी है। कविकृत वर्णन को मानसगोचर एवं सामनुभूति जागरण के लिए ये "प्रत्यक्ष बिम्ब" बड़े ही महत्त्वपूर्ण उपादान हैं।

इन पाँचो के मानस से उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा।

१ . चाक्षुप बिम्ब :

१ : सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु बरई॥
१.२३०.७

२ : झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे॥
२.२०३.१

३ : नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद यंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥
५.३०

यहाँ उत्प्रेक्षा, उपमा एवं रूपक के माध्यम से बड़े ही भास्वर चाक्षुप बिम्ब निर्मित हुए हैं।

२ : श्रव्य बिम्ब :

१ : घन घमंड नभ गर्जत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
४.१४.१

२ : कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥
१.२३०.१-२

३ : कट कटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
५.३५.१३

यहाँ अनुप्रास के सहारे बादल की भयानक गड़गड़ाहट, सीता के आभूषणों की ध्वनि का विजय-घोष तथा बन्दरों की लगातार किटकिटाहट के श्रव्य बिम्ब उपस्थित किये गये हैं।

३ : स्पृश्य बिम्ब :

सुनि मग मास अचल होइ कैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
३.१०.१५

यहाँ उपमा के द्वारा स्पृश्य बिम्ब निर्मित हुआ है।

४ : घ्रातव्य बिम्ब :

५ : रस्य बिम्ब

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुन्दर स्वादु सुधा सी ॥
भरि भरि परन पुटीं रुचि रूरी। कन्द मूल फल अंकुर जूरी ॥

२.२५०.१-२

यहाँ उपमा की यह करामात है कि हमारी मानस-रसना "मधु सुचि सुन्दर सुधा" से फलों का स्वाद लेने लग जाती है।

बिम्ब का विभाजन अनुभूतियो की सरलता, मिश्रता, जटिलता एवं पूर्णता के आधार पर भी किया जाता है।

१ . सरल बिम्ब
२ . मिश्र बिम्ब
३ : जटिल बिम्ब
४ पूर्ण बिम्ब

मानस मे अलंकारो की सहायता से चारो प्रकार के बिम्ब मिलते है। सरल बिम्ब तो प्रत्येक पृष्ठ पर मिल जायगा जैसे—"नील सरोरुह स्याम"[1] तथा "कुन्द इन्दु सम देह"[2]। मिश्र बिम्ब भी मानस मे बहुत मिलते है। वस्तु-उत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने एक बडा ही सुन्दर बिम्ब तैयार किया है—

रघुबीर रुचिर प्रयान प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखित अविचल पावनी।

५.३५.१७-१८

जटिल बिम्ब का उदाहरण लकाकाड का विजयरथ-रूपक तथा पूर्ण बिम्ब का उदाहरण रामचरित-रूपक दिया जा सकता है।

बिम्ब का वर्गीकरण सर्जक कल्पना के आधार पर भी संभव है। जब कल्पना निष्क्रियावस्था मे रहती है तो स्मरण के द्वारा बिम्ब की निर्मिति होती है। इसे स्मृत बिम्ब कहते हैं। सक्रिय कल्पना के आधार पर जो बिम्ब निर्मित होते है, उन्हे कल्पित बिम्ब कहते है। मानस मे स्मृत बिम्ब के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु कल्पित बिम्बो की संख्या बहुत अधिक है।

स्मृति-बिम्ब का एक उदाहरण लें—

रघुबर बरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह चढे बिबेक जहाज।

२ २१९

कल्पित बिम्ब का भी एक उदाहरण लें। कवि ने रूपकातिशयोक्ति तथा गम्या असिद्ध-विषया फलोत्प्रेक्षा के द्वारा बडा ही सुन्दर कल्पित बिम्ब-विधान किया है—

अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के ॥

१.३२५.६

मानस मे गोस्वामी जी ने वर्णबिम्बो (Colour image) का भी निर्माण अनेकत्र किया है—

---

१ : सोरठा ३
२ : ,, ,,

१ : जहँ बिलोक मृग सावक नैनी । जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी ॥
१.२३२.२

२ : तरुन अरुन अंबुज सम चरना ।
१.१०६.७

३ : कुंद इंदु दर गौर सरीरा ।
१.१०६.६

४ : सुभग सुरभि पयफेन समाना ।
१.३५६.२

उत्प्रेक्षा और उपमा के सहारे जो वर्ण बिम्ब बने हैं, उनमें कवि ने सात्विकता की निगूढ़ अभिव्यक्ति की है ।

मानस में गोस्वामी जी ने अलंकारों की सहायता से पौराणिक जीर्ण बिम्बों (Mythological Trite images) का कायाकल्प किया है । संभावना के द्वारा पौराणिक आख्यान पर आधारित बिम्ब के नवीकरण से सीता के सौंदर्य के अनन्वित रूप-बिम्ब का परिदर्शन करें—

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूप मय कच्छपु सोई ॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल ॥
१.२४७.७-१०

मानस में इन अलंकारों से निर्मित सुस्थिर (Potential) तथा गतिशील बिम्ब (Kinetic image) भी मिल जाते हैं । दोनों के दो-चार उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१ : सुस्थिर बिम्ब :

सुठि सुन्दर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि ।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥
१.३६

यहाँ रूपक के सहारे व्यक्त किये चारों घाटों वाले तालाब का सुस्थिर बिम्ब उपस्थित होता है ।

२ : गतिशील बिम्ब :

१ : जनु पद सुख मनहु गिरिंदा ।
५.३५.३

२ : जनु स्वच्छंद चरहिं बहु नागा ।
६.५०.५

मानस में इस प्रकार और भी कुछ दूसरे प्रकार के बिम्बों के उदाहरण दिये जा सकते हैं—

१ : भावात्मक बिम्ब :

[illegible] हाथ मुँहि दोउ लोचन । जनु [illegible] ॥
२.६६.७

[illegible] राम [illegible] । जनु [illegible] ॥
६.६८०.३

२ . प्रज्ञात्मक विम्व :

जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजही ।

१.३२५.२६

मुदित अवध पति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि ।
जनु पाये महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि ।।

१.३२५

गोस्वामी जी ने उत्प्रेक्षा के सहारे कुछ निष्काय बिम्बो (Abstract images) का निर्माण भी किया है—

सोहति सीय राम कै जोरी । छवि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी ।।

१.२६५ ७

धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा । मानहु बिपति बिषाद बसेरा ।।

२.३८.४

मानस मे गोस्वामी जी ने जनकपुर के राम विवाह-मडप वर्णन के रूप मे एक अद्भुत उदात्त विम्व (Sublime image) की सृष्टि की है—

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल ।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल ।।

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे । सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे ।।
कनक कलित अहिबेलि बनाई । लखि नहिं परै सपरन सुहाई ।।

१.२८७ से १.२८९.२ तक

इतना ही नही, गोस्वामी जी ने इन अलंकारो की सहायता से व्यापारबोधक (Functional), वैयक्तिक (Private), आद्य (Premordial), आभरणात्मक (Decorative) अतरेन्द्रिय (Viseral), आगिक (Organic), नक्षत्रीय (Star), पेशीय (Muscular), संधायी (Articular), विश्वव्यापक (Universal), स्फोटमूलक (Kinesthetic), यात्रावबोधक (Gyre) सतही (Surface), अनुकारी (Mimetic), तापमानबोधक (Thermal), सगोत्रीय (Kindred) आदि न मालूम कितने प्रकार के बिम्बो की सृष्टि की है। प्रत्येक के उदाहरण-विशकलन के लिए एक स्वतत्र ग्रथ की आवश्यकता है। एजरा पाउंड ने बिम्ब के महत्त्व के बारे मे लिखा है—"सम्पूर्ण जीवन मे एक बिम्ब का निर्माण मोटे ग्रंथ लिखने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।" एक बिम्ब का यह महत्त्व है तो गोस्वामी जी ने जब अलकारो के साहाय्य से इतने विविधवर्णी चित्ताकर्षक बिम्बो का निर्माण किया है तो उनकी अलकार-योजना का वैशिष्ट्य सहज ही अनुमेय है।

१ · रामचरितमानस मे पाश्चात्य अलंकार :

भारतीय साहित्य मे जिस प्रकार अलंकारो के स्वरूप-निर्धारण, नामकरण एवं विश्लेषण का श्रेय सस्कृत के आचार्यो को है—उसी प्रकार यूरोपीय साहित्य मे ग्रीक तथा लेटिन के चितको को। किन्तु सस्कृत साहित्य मे अलंकारो की जैसी सूक्ष्म मीमासा हुई, वैसी पाश्चात्य साहित्य मे प्राय. नही। अग्रेजी मे अलकारो के लिए "फीगर्स ऑव स्पीच" का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अलंकारो का प्रयोग सर्वप्रथम भाषण-कला या वक्तृत्व-कला मे होता था। वक्ता अपनी

गामिता की जिन विधियों से श्रोता को प्रभावित, चमत्कृत एवं स्वपक्षान्तरित करता था, उन्हें अलंकार कहते थे। अरस्तू ने अपने रेटोरिक मे अलंकारों को काव्य का सगोत्रीय न मानकर तर्कशास्त्र का संबंधी माना है।

पाश्चात्य अलंकारो का विभाजन निम्नोक्त आधार पर संभव है—

१ : सादृश्य
२ : साहचर्य
३ पार्थक्य
४ . कल्पना
५ · परोक्षता
६ . ध्वनि
७ ; वाक्यगठन

१ · सादृश्य पर आधारित अलंकार

(क Simili
(ख) Metaphor
(ग) Allegory
(घ) Parable
(ङ) Fable

Simili और Metapho के लिए संस्कृत अलंकारशास्त्र मे उपमा तथा रूपक हैं। Allegory (अन्यापदेश) Parable (नीतिकथा) तथा Fable (वोरकथा) शुद्ध अलंकार नही हैं। फिर भी इन्हें अन्योक्ति के अन्तर्गत रख लेने मे आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

२ : साहचर्य पर आधारित :

(क) Metonymy—अजहत् लक्षणा
(ख) Synecdoche उपलक्षण
(ग) Hypallage or Transphered Epithet—विशेषण विपर्यय
(घ) Allusion —संदर्भ

मे विशेषण का विपर्यय हो जाता है। यद्यपि इन्हें लक्षणा मे समाविष्ट कर ले सकते है। डा० नगेन्द्र के विचार से ये न केवल स्वतन्त्र अलकार के गौरव के अधिकारी हैं, वरन् इन्हें प्रधान अलंकार स्वीकार करने मे भी आपत्ति नही होनी चाहिए।

संस्कृत मे जहाँ अनेक साधारण चमत्कारमूलक अलंकारो की वाल की खाल निकाली गई है, वहाँ लक्षणा-मूलक इन महत्त्वपूर्ण अलकारो का अभाव आश्चर्य की वात है।[1]

Allusion अर्थात् सदर्भ मे पुराण, शास्त्र, इतिहास, साहित्य आदि प्राचीन साहित्य की प्रमुख घटना, कथा या पात्र का उल्लेख किया जाता है।

३ पार्थक्य पर आधारित अलंकार

(क) Antithesis
(ख) Epigram
(ग) Oxymoron
(घ) Climax
(ङ) Anticlimax
(च) Bathos
(छ) Epandos
(ज) Litotes
(झ) Paraleipsis

Antithesis को विरुद्ध, Epigram को सूक्ति, Oxymoron को विरोध, Climax, Anticlimax तथा Bathos को सार तथा Epandos को परिवृत्ति मान सकते हैं। Litotes एक प्रकार की वक्रोक्ति है जिसमे विधि के लिए निषेधवाची शब्दो का प्रयोग किया जाता है तथा Paraleipsis को अपह्नुति मान ले सकते है। Epigram सूक्ति हमारे यहाँ अलकार नही है, किन्तु इसके द्वारा अनुभव के सार को वडी चित्ताकर्षक शैली मे वाग्वैदग्ध्य के साथ व्यक्त किया जाता है, अत इसे भी अलंकार की श्रेणी मे परिगणित कर लेना चाहिए।

४ : कल्पना पर आधारित अलंकार :

(क) Personification
(ख) Pathetic fallacy
(ग) Epanorthosis
(घ) Vision
(ङ) Prolepsis
(च) Hyperbole

Personification मानवीकरण को समासोक्ति तथा Pathetic fallacy भावाभास को अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत आयत्त किया जा सकता है, किन्तु Personification तथा Pathetic fallacy मे कुछ ऐसे आकर्षक है कि इन्हे स्वतन्त्र अलंकार मान लेना चाहिए। मानवीकरण में जड़ पदार्थों या अमूर्त्त विचारों पर मानवीय गुण, स्वभाव धर्म आदि का आरोपण किया जाता है। भावाभास मे प्रकृति या निष्प्राण वस्तु मानव-भावनाओं अथवा मानव-कार्यों में रुचि

---

१ : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६६

देती हुई वर्णित होती है। Epanorthosis स्मरण, Vision तथा Prolepsis भाविक तथा Hyperbole अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

५ : अप्रत्यक्षता पर आधारित अलंकार :

(क) Innuendo
(ख) Irony
(ग) Sarcasm
(घ) Periphrasis
(ङ) Persiflage
(च) Meiosis
(छ) Euphemism

Innuendo गूढ़ोक्ति, Irony काकु या व्याजस्तुति, Sarcasm व्यंग्योक्ति, Periphrasis पर्यायोक्ति, Persiflage व्यंग्य, Meiosis हीनोक्ति अतः व्यंग्योक्ति तथा Euphemism मंगल भाषण यानी ललित अलंकार माने जा सकते हैं।

६ ध्वनि पर आधारित अलंकार :

(क) Alliteration
(ख) Assonance
(ग) Onomatopoeia
(घ) Paronomasia
(ङ) Tantology
(च) Epanadiplosis
(छ) Epanaphora or Anaphora
(ज) Epistrophe

Alliteration व्यंजनसाम्यवाला अनुप्रास, Assonance स्वरसाम्य, Onamatopoeia [illegible] व्यंजना अनुप्रास, Paronomasia or Pun श्लेष, Tantology पुनरुक्ति, Epanadiplosis पुनरुक्तवदाभास तथा Epanaphora या Anaphora [illegible] तथा Epistrophe [illegible] शब्दावृत्ति—ये सभी अनुप्रास ही माने जा सकते हैं। Onomatopoeia [illegible] भी अनुप्रास है, किन्तु शब्दों की ध्वनि द्वारा ही वातावरण निर्माण करने की क्षमता [illegible] अलंकार मान लेना चाहिए। Epanaphora में चरणों के आरम्भ में [illegible] की आवृत्ति होती है। Epistrophe में चरणों के अन्त में। इन्हें भी [illegible] ठीक नहीं। इन्हें शब्दालंकार में परिगणित कर लेना चाहिए।

७ · [illegible] पर आधारित अलंकार :

(क) Interrogation
(ख) Exclamation
(ग) Apostrophe
(घ) Chiasmus
(ङ) Zeugma

(च) Hendiadys
(छ) Asyndeton
(ज) Polysyndeton
(झ) Aposiopesis
(ञ) Hyperbaton or Inversion

ये सभी अलंकार व्याकरण के वाक्यगठन (Syntax) से सम्बद्ध है। वाक्य मे विभिन्न प्रकार के शब्दो के स्थान-परिवर्त्तन के कथन मे कौन-सी चमत्कृति और शक्ति आती है, उसी के आधार पर इन अलंकारो की कल्पना की गयी है।

Interrogation परिप्रश्न, Exclamation विस्मयोद्गार, Apostrophe सबोधन, Zeugma अनेक कर्त्ताओ का सम्बन्ध-कथन, Hendiadys विशेष्य विशेष्य का योग, Asyndeton संयोजक-चिह्न-राहित्य, Polysyndeton सयोजक-चिह्नो की आवृत्ति, Aposiopesis आकस्मिक वाग्विरति तथा Hyperbaton शब्द-क्रम-विपर्यय को अलंकार मानने मे भारतीय दृष्टि से कठिनाई है।

इसी पृष्ठभूमि पर मानस से इन अलंकारो के कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक होगा—

१ : मेटानमी (Metonomy)

कौशल्या के वचन सुनि भरत सहित रनिवासु।
व्याकुल बिलपत राजगृह मानहु सोक निवासु॥

२.१६५

"रनिवास" मे निवास करनेवाले व्यक्तियो के लिए केवल रनिवास कहा गया है, अत. मेटानमी है।

२ : सिनकड्की (Synecdoche) .

(क) धरि धीरजु तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥

१.९४.३

(ख) घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं।

१.९६

(ग) सुन्दरता मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहुँ बदन बखानी॥

१.९९.४

(घ) तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारकु असुर समर जेहि मारा॥

१.१०२

प्रथम उदाहरण मे अपने प्राण लेकर भागे—भाग खड़े हुए – शरीर लेकर भागे अर्थ हुआ। यहाँ जीव अर्थात् प्राण शरीर के लिए व्यवहृत हुआ है। दूसरे उदाहरण मे च हे घर उजड़ जाय—परिवार अर्थात् परिवार के लोग नष्ट हो जाएँ—अर्थ है। तीसरे उदाहरण मे करोडो मुखो से भी उनकी शोभा नही कही जा सकती का अर्थ है करोड़ो कवि भी एक साथ मिलकर उनकी शोभा का वर्णन नही कर सकते। चौथे उदाहरण मे षटबदन कार्तिकेय के लिए आया है। इस प्रकार इन उदाहरणो मे सिनकड्की है।

३ : हिपेलेज ( Hypallage )

(क) नौमि तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥

१.१९०.१

(ख) मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥

१.१९०.२

इन उदाहरणों में रामजन्म से संबद्ध पुनीत और पावन विशेषण "मधुमास" और "काल" में क्रमशः विपर्यस्त हो गये हैं। अतः हिपेल्लेज है।

४ एल्यूज़न (Allusion)

जोहि जसोमति हरि हलधर से। १.२०.८

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल। १.२७

महामोह महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥ १.४७.६

रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना॥ १.३१७.६

गुरश्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥ २.६१

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥ २.१९

परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ॥ २.१७२.७-८

लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। येह महिमा जानहिं दुरबासा॥ २.२१७.७

सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेम सिसु सोहा॥ २.२८९.६

कृपासिंधु बेगि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जगजोनी॥
भरत बिबेक बराहँ बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥ २.२९६.२-४

इन उदाहरणों में जसोमति, कश्यप, प्रह्लाद, आदि के पौराणिक संदर्भ का ज्ञान होने ही इन पंक्तियों का वास्तविक अर्थ चमत्कार सुस्पष्ट हो जाता है।

५. एपीग्राम (Epigram)

१. बिधु बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥ १.१०.४

२. नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥ १.६०.८

३. समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। १.६९.८

४. [illegible] १.२४१.१

५ : बाल दोष गुन गनहिं न साधू ।

१.२७५.५

६ : बैरु प्रीति नहि दुरहँ दुराएँ ।

२.१९२.१

७ : सब तें सेवक धरमु कठोरा।

२ २०२.७

८ : आरत काह न करइ कुकरमू ।

२.२०३ ७

९ : सबतें कठिन राजमदु भाई ।

२.२३०.६

१० : अरध तजहिं बुध सरबसु जाता ।

२ २५५.२

११ : रहत न आरत कें चित चेतू ।

२.२६८.४

१२ : पुरुष परिखिअहिं समय सुभाएँ ।

२.२८२ ६

१३ : सोक सनेह सयानप थोरा।

२.२८२.७

१४ : होहिं कुठायें सुबंधु सहायें ।

२.३०५.८

१५ : साधु तें होइ न कारज हानी।

५.६.४

१६ : डाटहि पइ नव नीच

५.५८

१७ : को जग काम नचाव न जेही ।

७.७० ७

न वक के तीर की तरह ये सूक्तियाँ मन-प्राणो पर सीधे असर डालती है। अतः इनकी चमत्कृति मे किसी प्रकार की विचिकित्सा संभव नही ।

६ : परसोनीफिकेशन (Personification )

(क) सुनत कठिनता अति अकुलानी।

२ ४१.१

(ख) जप जोग बिरागा तप मख भागा। श्रवन सुने दससीस ।

१.१८३.९

(ग) सुनि अ १ नरकहुँ नाक सँकोरी ।

१.२९.१

(घ) राज समाजहि लाज लजानी ।

१.२६६.६,६

(ङ) सुनि बिलाप दुखहू दुखु लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा ।।

२.१५२.८

(च) लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे ।

२ २९१ १

कठिनता, जप, जोग, विराग लज्जा, दुख, ज्ञान आदि भावो का मनुष्यवत् आचरण चित्रित हुआ है। अत परसोनीफिकेशन अलकार है ।

७ : पैथिटिक फैलेसी (Pathetic Falacy) :

(क) सबके हृदय मदन अभिलाषा। लता निहारि नवहिं तरु साखा॥
नदीं उमगि अंबुधि कहुँ धाईं। संगम करहिं तलाव तलाईं॥
१.८५.१-२

(ख) नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुर रूख लजाए।
१.२२७.५

(ग) नहि तृनु चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन वारि।
व्याकुल भए निषाद सब रघुबर बाजि निहारि॥
२.१४१

इन उदाहरणों में प्रकृति का मानवीय आचरण एवं मानव के प्रति सहानुभूति के भाव व्यक्त किये गये हैं, अतः पैथेटिक फैलेसी अलंकार है।

८ यूफेमिज्म (Euphemism) :

(क) हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहा चरन कहँ माथा॥
१.२८२.५

(ख) जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
१.२८२.३

(ग) राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयेउ सुरधाम॥
२.१५४

(घ) धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावनु प्रेरा॥
३.२१.५

(ङ) निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं॥
३.३०.३

इन उदाहरणों में वक्र पद्धति से अप्रिय बात छिपाई जा रही है। दशरथ की मृत्यु जैसी भयानक बात 'गयउ सुरधाम' जैसी ललित पद्धति से व्यक्त की गयी है, अतः यूफेमिज्म अलंकार है।

९ : ओनामाटोपोइया (Onomatopoeia) :

(क) कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्हीं॥
१.२३०.१-२

(ख) घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा॥
४.१४.१

(ग) [illegible]

१० : इपानफोरा (Epanphora) :

(क) तपबल रचै प्रपंचु बिधाता। तप बल बिष्नु सकल जग त्राता ॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरै महिभारा ॥
१-७३.३-४

(ख) सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लय लीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनबानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी ॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहि गुर आयसु अनुसरई ॥
सोचिअ गृही जो मोहबस करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग ॥
२.१७१.३-१०

(ग) धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पति ब्रत अनुसरी ॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई ॥
सो धन धन्य प्रथमगति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी ॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा ॥
७.१२७.५-८

"तपबल", "सोचिअ" तथा "धन्य" की इतने चरणो मे आवृत्ति हुई है कि उससे वर्णन मे अतिरिक्त सुषमा आ गयी है, अत यहाँ "इपानफोरा" अलंकार है।

इस तरह हमने देखा कि मानस मे उन पाश्चात्य अलंकारो का भी इन्द्रधनुषी बहुशः प्रयोग हुआ है, जो भारतीय अलंकारो से पृथक् अस्तित्व रखते हैं। इन अलंकृत स्थलो को देखकर गोस्वामी जी की असंख्य कथन-भंगिमा की रमणीयता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

६ : अलंकार-औचित्य

क्षेमेन्द्र ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "औचित्य-विचार-चर्चा" मे लिखा है कि काव्य के लिए अलकार तथा व्यर्थ परिगणित गुणो से क्या लाभ, जबतक काव्य का जीवन औचित्य सम्यक् परिशीलन से भी प्राप्त नहीं होता है।[1] उनके ही विचार से अर्थोचित अलकार से उक्त सूक्ति पीन-पयोधर पर लहराते हुए हार से युक्त मृगाक्षी की तरह सुशोभित होती है।[2]

रामचरितमानस मे गोस्वामी जी की कविता-कामिनी रंग-बिरगे आभूषणो से सजी चलती है। वैसे गोस्वामी जी ने अलंकार-प्रयोग मे औचित्य का पूरा ध्यान रखा है, फिर भी ऐसे कुछ स्थल हैं, जहाँ अनौचित्य दिखलाई पड़ता है।

---

१ : काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते। —४था श्लोक

२ : अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।—१५वाँ श्लोक

(१) वैदिक काल के सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली एवं दीप्ति-मंडित देवता इन्द्र हैं। महर्षि अत्रि ने भगवान् राम का स्तवन करते हुए उन्हें शचीपति का प्रियानुज[1] बतलाया है। गोस्वामी जी के रामचन्द्र राम स्वयं इन्द्र को सुजान कहकर सम्बोधित करते हैं तथा उनसे निहत भालू-बंदरों को जिलाने के लिए अनुरोध करते हैं।[2] इतना ही नहीं, गोस्वामी जी ने पर्ण-निकेत में विराजमान राम-सीता और लक्ष्मण की इन्द्र, शची और जयंत से उत्प्रेक्षा की है।[3] इसी इन्द्र की उपमा गोस्वामी जी ने "कौए" तथा "कुत्ते" से दी है, यह अनुचित मालूम पड़ता है।

क : काक समान पाकरिपु रीति। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥

१.३०१.२

ख : लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥

२.३०१.८

२ : मानस के अयोध्याकाड की एक अर्द्धाली है—

अँसिउ पीर बिहसि तेहि गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥

२.२७५

इस अर्द्धाली के अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार के अर्थ किये हैं, किन्तु यह उपमा मुझे किसी प्रकार से संगत नहीं मालूम पड़ती। न तो चक्रवर्ती सत्यसंध सम्राट् दशरथ की उपमा चोर से देना संगत है और न महारानी भरत-जननी कैकेयी की उपमा चोर नारी अर्थात् परपुरुषागमत परकीया से।

३. गोस्वामी जी जैसे मर्यादावादी भक्त कवि जब कठोरता एवं वीरता की अत्युक्ति वर्णित करने के लिए बार-बार गर्भपात का वर्णन करते हैं, तो वह भी खटकने लगता है। उदाहरण लें—

क : चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुर रवनी॥

१.१८२ ५

ख : मातु पितहि जनि सोचबस करसि महीस किसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥

१ २७२

ग : चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥

५.२८.२

घ : समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी॥

रुचिकर प्रतीत नहीं होता।[1] रामायणी इनका कोई न कोई समाधान ढूँढ लेते हैं। किन्तु, समाधान के लिए समाधान का कोई अर्थ मुझे मालूम नहीं होता।

गोस्वामी जी के प्रति पूरी श्रद्धा रखते हुए मुझे ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं है कि वे भी आखिर मानव ही थे और संसार मे ऐसा कोई कवि नहीं है, जिसकी रचना मे कला की दृष्टि से कोई दोष न दिखता हो। अत. एक दो स्थलो से गोस्वामी जी की कला मे कोई कमी नहीं आती।

कालिदास के शब्दो की सहायता लेकर हम कहना चाहेंगे कि अनेक गुणो के बीच एक-दो दोष वैसे ही छिप जाते हैं, जैसे चन्द्रमा की किरणो के बीच उसका धब्बा।[2]

## ७ : अलंकार-आवृत्ति :

मानस में अलंकार-विधान पर विचार करते समय अलंकारावृत्ति पर दो शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। आजतक मुझे रामचरितमानस के शोध या शोधेतर—किसी ग्रन्थ मे अलंकारो की आवृत्ति पर यत्किंचित् भी विचार पढ़ने को न मिला। वस्तुत इन आवृत्तियों के औचित्य, उपयोगिता-परीक्षण एवं सौंदर्य-विश्लेषण के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ-लेखन की आवश्यकता है।

मानस में रूढ़ उपमानो से निर्मित अलंकारों की आवृत्ति पर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। मानस में कमल, कामदेव और सुरपति से सम्बद्ध अलंकार तो अनगिन हैं। चन्द्रवदन, मृगलोचन, गजगमन, पिकवचन, तड़ित्-विनिंदक, मनोज-लजावन, कुमुदबन्धु-निन्दक, त्रिभुवन सीवा, वज्र-प्रहार आदि से सम्बद्ध अलंकार की भी बहुलता है। शताधिक अर्द्ध रूढ़ या नवीन उपमानो से सम्बद्ध अलंकार हैं कि जिनकी आवृत्ति अनेकश हुई है। एक-एक उपमान से सम्बद्ध अलंकार की आवृत्ति पूरे मानस मे जब दस दस, पन्द्रह-पन्द्रह बार होने लगती है, तो ऐसे समय कोई चाहे तो गोस्वामी जी की नव-नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगा सकता है। एक ही उपमान से निर्मित एक ही अलंकार की बहुश आवृत्ति से एकरसता आ जाती है, कवि के प्रस्तुत क्षेत्र एवं अलंकार-कोष की दरिद्रता का संदेह होने लगता है। ऐसी आवृत्ति वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति माघ जैसे महाकवियो की रचनाओ मे शायद ही दीख पड़े और तब गोस्वामी जी की कला पर पुनर्विचार करना पड़ जाता है।

---

१ : (क) राम सूर्य की तरह—

उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥ १.२५४

जय रघुबंस बनज बन भानू। गहन दनुज कुल दहन कृसानू॥ १.२८५.१

एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय सौमित्रि समेत॥ २.१२१

राम विधु की तरह—

लता भवन तें प्रगट भे तेहिं अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ॥ १.२३२

(ख) राम मणि की तरह—

जाइ दीख रघुबंस मनि नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघनिहि मनहुँ बृद्ध गजराजु॥ २.३९

(ग) राम दीप की तरह—

१ : निरखि बदनु कहि भूप रजाई। रघुकुल दीपहि चलेउ लवाई॥ २.३९.७

२ : गये जनक रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रबिकुल दीपा॥ २.२९५.२

२ : एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।—कुमारसंभव, प्रथम सर्ग, ३रा श्लोक

मानस मे उपमा, मालोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, उल्लेख, असम तथा स्वभावोक्ति—इन आठ अलंकारों की आवृत्ति अत्यधिक हुई है। इनमे कुछ उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्राण की तरह प्रिय वाली उपमा की आवृत्ति देखें—

१ : सब सुत प्रिय प्रान की नाईं। राम देत नहि बनै गोसाईं॥
१.२०८.५

२ : चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
२.४६.२

३ : सदा रामु येहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिल पनु ठाना॥
२.४७.६

४ : तात पितहि तुम प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥
२.५४.६

५ : गुर पितु मातु बन्धु सुर साईं। सेइअहि सकल प्रान की नाईं॥
२.५४.५

६ : रामु प्रान प्रिय जीवन जीके। स्वारथ रहित सखा सबही के॥
२.७४.६

७ : जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ रामु गोसाईं।
२.९१.५

८ : जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पियारे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥
२.१२९.८

९ : तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥
२.१८३.५

१० : पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रान पिआरे॥
२.१९९.२

११ : जौ सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥
५.४४.८

१२ : सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम।
५.४८

१३ : सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
७.३८.४

१४ : जननि जनक गुर बन्धु हमारे। कृपा निधान प्रान तें प्यारे॥
७.४७.२

१५ : सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
७.८७.५

१६ : भगतिवंत अति नीचौ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
७.८६.१०

इसी प्रकार अमृत के समान वाली उपमा उन्नीस बार, मणि के बिना फनि वाली उपमा ग्यारह बार, प्राण की तरह वाली उपमा दस बार, जल के बिना मछली वाली उपमा [illegible] बार, सूर्य की तरह वाली [illegible] उपमा छह बार, प्राण तथा पिता की तरह वाली उपमा [illegible] बार, [illegible] की तरह वाली उपमा चार चार, [illegible], [illegible] तथा पहाड़ की तरह वाली उपमा तीन

बार तथा नट, अर्वा, सिंहिनी और सियार, ब्रह्म-जीव के बीच माया, नट-मर्कट, पुच्छ-विषाणहीन पशु, बिल्व-बदर मूलो तथा सजीवनी लता वाली उपमा कम-से-कम दो वार आयी है। और भी अनेक उपमाएँ हैं, जिनकी आवृत्ति हुई है।

२ : मालोपमा :

कुंद इंदु दर गौर सरीरा। १.१०६ ६

कुंद इंदु दर गौर सुन्दरं। ७.३ श्लोक

३ : रूपक :

१ : पाप पुंज कुंजर मृगराजू। २ ३२५.७

२ : निशिचर करिवरूथ मृगराजः॥ ३.११.६

इस प्रकार मोहविपिन के लिए कृशानु, पंकज के लिए भृंग, सरोरुह कानन के लिए भानु, कुमुदकुल के लिए चाँद, कमलवन के लिए तुषार, भव-खग के लिए बाज, चकोर के लिए चाँद, संशय सर्प के लिए उरगाद जैसे अनेक रूपक मानस मे अनेकशः आवृत्त हुए हैं।[1]

४ : उल्लेख अलंकार

१ : तपबल तें जग सृजै विधाता। तपबल बिष्णु भए परित्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा॥ १·१६३.२-३

२ : तपबल रचै प्रपंचु बिधाता। तपबल बिष्णु सकल जगत्राता॥
तपबल संभु करहिं संघारा। तपबल सेषु धरै महिभारा॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी॥ १ ७३.३-५

५ : उत्प्रेक्षा :

रंक और धन से सबद्ध उत्प्रेक्षा तो मानस मे जितनी दुहराई गई है, उतनी और कोई नही। उदाहरण देखें—

रंक-धन :

१ : जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सँकुचाई॥ १·१४९ ५

२ : धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी॥ १.२२०.२

३ : देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥ १ २३१.४

४ : लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥ १ २५९ २

५ : सुखु बिदेह कर बरनि न जाई। जन्म दरिद्र मनहु निधि पाई॥ १·२८६.३

---

१ : इस शोध-प्रबन्ध का द्वितीय खंड देखें।

६ : जनम रंकु जनु पारस पावा । अंधहि लोचन लाभु सुहावा ॥
१.३५०.७

७ : प्रेम प्रमोदु न कुछ कहि जाई । रंक धनदपदवी जनु पाई ॥
२.५२ ५

८ : राम सप्रेम पुलकि उर लाहा । परम रंक जनु पारसु पावा ॥
२.११०.१

९ : बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी । लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी ॥
२ ११३ ५

१० : भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं । रंकन्ह रायरासि जनु लूटीं ॥
२.११६.८

११ . एह सुधि कोल किरातन्ह पाई । हरषे जनु नव निधि घर आई ॥
२.१३५.१

१२ : कंद मूल फल भरि-भरि दोना । चले रंक जनु लूटन सोना ॥
२.१३५.२

१३ : हरषहिं निरखि रामपद अंका । मानहुँ पारसु पाएउ रंका ॥
२.२३७.३

१४ . गहि पद लगे सुमित्रा अंका । जनु भेंटी संपति अति रंका ॥
२.२४४.३

१५ : अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदय बसे धनु जैसें ॥
५ ४८ ७

१६ : जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई । हरषहिं मनहु परी निधि पाई ॥
७.३९ ४

इस तरह "अमृत में मानो सने हुए" वाली उत्प्रेक्षा सात बार, विधि ने स्वयं निर्मित किया— वाली आठ बार, मानो धनराशि गँवाई वाली सात बार तथा मूर्तिमान वीर रस, बाज के झपटने पर लावा, मांजामीन वाली तीन बार तथा चुनौती वाली उत्प्रेक्षा दो बार आयी है । इसके अतिरिक्त भी अनेक उत्प्रेक्षाएँ हैं, जो दुहरायी-तिहरायी गयी हैं ।

प्रतीप :

१ : बिधु बदनी मृग सावक लोचनि । निज सरूप रति मानु बिमोचनि ॥
१.२६७.२

२ : बिधु बदनी सब-सब मृग लोचनि । सब निज तन छबि रति मदु मोचनी ॥
१.३१८.१

इसी तरह राम के 'कोटि मनोज लजावन वाले' प्रतीप की अनेकश: आवृत्ति हुई है ।

अनन्वय :

१ : गुरुन तुम्ह समान जग माहीं । भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥
१.२९४.५

२ : नहिं न [illegible] सौमित्र [illegible] । [illegible] जस पिता पुरारी ॥
२.१७२ ६

[illegible]

१ : [illegible] ॥
१.९१ ६

२ : जाना राम प्रभाउ तब पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु अमात ॥
१.२८४

३ : सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता ॥
१ २९१.१

४ : पितु आगमनु सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनन्द अमाई।
१.३०७ ४

४ : मिलत प्रेम नहि हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकत गाता ॥
७.२.१०

६ : श्री मुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेमु न हृदय समाई ॥
७.४२.१

कही-कही गोस्वामी जी ने अप्रस्तुत तो एक ही रखा है, किन्तु उससे अनेक अलंकारो का निर्माण किया है। व्याध-मृग के अप्रस्तुत के द्वारा उत्प्रेक्षा और रूपक और उपमा का निर्माण देखें—

क : करति विलाप जाति नभ सीता। व्याध बिबस जनु मृगी सभीता ॥
१ २९.२४

ख : राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥
३.४२ ८

ग : धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं ॥
४ ९.५

इस तरह के अनेकानेक उदाहरण मानस मे मिलते है।

मानस की इन आवृत्तियो को देखकर निष्कर्ष रूप मे यही कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने अपने को आवृत्ति-मुक्त करने की ओर ध्यान ही नही दिया है। वस्तुत वे भाववादी कवि है, कलावादी कवि नही। फैशन-परस्त और पूर्णत सजग कलाकार की भाँति उन्होने हर बार नवीन अप्रस्तुत के चयन की ओर ध्यान ही नही दिया। यही कारण है कि अनेकानेक अलकार बहुशः आवृत हुए है। जिस प्रसंग मे जो अलकार आया है, वह स्वाभाविक तथा परम उपयुक्त है। आनन्द, व्यथा, चिन्ता आदि भावो को विभिन्न स्थलो पर व्यक्त करना है तथा तत्तत् स्थलो पर भावानुरूप वे ही अलकार सटीक एवं सहज लगते है, जिनका प्रयोग गोस्वामी जी ने किया है। "सहज कवित्त" के उपासक गोस्वामी जी ने अलकारो के उन्ही पत्र-पुष्पो को प्रभु-चरणो पर बार-बार अर्पित किया हो तो इसमे उन्हे दोप देना ठीक नही जंचता।

गोस्वामी जी ऐसे पुजारी नही है, जो प्रदर्शन मात्र के लिए समय-स्थिति का ध्यान न रखते हुए नित नूतन भोगो को उपस्थित करने मे विश्वास रखते हो। यदि सुन्दर पदार्थ है, तो प्रभु के समक्ष बार-बार ले जाएँगे—क्योकि ये शबरी के बेर की तरह चखे तो है ही, वे प्रेमरस से सराबोर भी है। अतः ये आवृत्त अलंकार शबरी के जूठे-चखे-प्रेम-रस-सने बेर की तरह समर्प्य एवं अभीप्स्य है, खाद्य-प्रतियोगिता की प्रदर्शनो के लिए सजाये गये भोज्य पदार्थ नही।

दूसरी बात यह है कि ये "सरल कवित्त" और "कीरति विमल" के उपासक थे—

**सरल कबित्त कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान ।।**
**सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान ।।**

१ १४.१३-१४

इससे यह साफ जाहिर होता है कि गोस्वामी जी मस्तिष्क-शूल उत्पन्न करने वाले काव्य के पक्षपाती नही थे। अलकार तथा अन्य कवित्त-कौशल के द्वारा वे काव्य को दुष्प्रवेश-दुर्गम नही बनाना चाहते थे। हाँ, सरल ढंग से दूध मे शर्करा की तरह अलंकार आ जाएँ, तो इसमे उन्हे किसी प्रकार की आपत्ति नही थी। यही कारण है कि अलंकारशास्त्र का ज्ञान रखने वाले अल्पपठित व्यक्ति भी मानस से पूरा आनन्द प्राप्त करते है। गोस्वामी जी ने एक स्थान पर "उपमा" के बारे मे विचार व्यक्त किया है। अभी ऊपर हमने देखा है कि एक जगह वे "नाना अलंकृति" से अपनी अनभिज्ञता ज्ञापित करते है और दूसरी जगह वे "उपमा" के बारे मे अपना निगूढ सिद्धान्त निरूपित करते है।

**राम सीअ जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि बिलास मनोरम ।।** १.३७.३

यहाँ वे उपमा के बारे मे एक बहुत बडी बात कह देते हैं। उपमा 'भाव-समुद्र" मे वीचि-विलास" की तरह है। रामचरितमानस महासागर है जिसमे श्रीराम के सुयश का अमृत तुल्य जल भरा है। महासागर की शोभा के अनेक कारणो मे एक प्रमुख कारण है—उसके क्रोड मे हिल्लोल-कल्लोल करने वाली लहरो का नर्तन। क्या इसके आधार पर हम यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि गोस्वामी जी रामचरित रूपी महासागर की शोभा उपमा अर्थात् सादृश्यमूलक अर्थात् समग्र अलंकार (भागत्याग लक्षणा से) पर आधारित मानते है।

वीचि-विलास पवन की गति पर निर्भर करता है। मानस मे भी जब भाव तथा विचार का पवन जिस त्वरा से चलता है, तब उसी त्वरा से अलंकारो का ऊर्मि-नर्तन देखने को मिलता है। समग्र मानस मे ऐसा एक भी स्थल नही है कि जहाँ भाव का तूफान उठा हो या विचार की वायु बही हो और अलंकारो की मनोरम लहरें न उठी हो। ऐसे अवसर पर अलंकारो की लहरो पर लहरे आती है, हिलकोरो पर हिलकोरे उठती है।

मानस मे ये अलकार इसी लहर-क्रम मे आते है और क्योकि ये लहरे रामसीययश—पुरुष-प्रकृति की कीर्ति के अमृतवत् धवल सलिल से उठती है, इसलिए इनकी मनोरमता, पावनता, तप.पूतता एव लोकोत्तरता के बारे मे कहना ही क्या ? जिस प्रकार जल और जल की लहर मे कोई भेद नही होता, उसी प्रकार सीताराम की यशोगाथा से अलकार भी एकरूप हो गये है, अलंकारो का अस्तित्व बाह्य नही रह गया है। अत रीतिकालीन या अन्य कवियो के काव्य मे अलकार बाह्य-धर्मी पदार्थ भले ही हो, किन्तु रामचरितामानस मे तो वह वर्ण्य विषय का अभिन्न अविच्छेद्य अग बन गया है।

मानस अलंकारो का कुबेर कोष है, किन्तु इस कुबेरकोष को भावो के अक्षय मधुकोष तथा विचारो के अमरकोष से अलग करके देखना संभव नही है। पृथक्ता उतनी मात्रा मे ही दृश्य है, जितनी मात्रा मे जल और उसकी सतह पर तैरती हुई लहरो मे। जिस प्रकार जल से उसकी लहरों को हटाकर अलग रचना संभव नही है, उसी प्रकार मानस के अलकार-वीचि-विलास सीताराम--गुणगान के पावन जल से अलग हो नहीं सकते, होने हैं तो अपना अस्तित्व खो देते हैं। अलंकार और अलकार्य का, कविता और कला का ऐसा अर्द्धनारीश्वर सम्बन्ध मानस—केवल मानस का सर्ववैशिष्ट्य है।

OO

# सहायक ग्रन्थ-सूची

## संस्कृत


| | | | |
|---|---|---|---|
| १ : काव्यालंकार | भामह | आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा | बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९२५ ई० |
| २ : काव्यादर्श | दण्डी | ब्रजरत्नदास | श्री कमलमणि ग्रन्थमाला कार्यालय, बुलानाला, काशी, १९३१ ई० |
| ३ : काव्यालंकार सारसंग्रह | उद्भट | नारायण दास बनहट्टी | भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९२५ ई० |
| ४ : काव्यालंकार | रुद्रट | डॉ० सत्यदेव चौधरी | वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, १९६२ ई० |
| ५ : ध्वन्यालोक | आनन्दवर्द्धन | डॉ० नगेन्द्र | ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६२ ई० |
| ६ : सरस्वतीकंठाभरण | भोजराज | श्री रत्नेश्वर<br>श्री जीवानन्द विद्यासागर | रसिकलालपाल कलकत्ता, १८९४ ई० |
| ७ : काव्यप्रकाश | मम्मट सं० | डॉ० नगेन्द्र | ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, संवत् २०१७ |
| ८ : अलंकार-सर्वस्व | रुय्यक | डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी | मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६५ ई० |
| ९ : चन्द्रालोक | जयदेव | गौरीनाथ पाठक | मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स वाराणसी, १९५४ ई० |
| १० : अलंकाररत्नाकर | शोभाकर मित्र | सी० आर देवधर | ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, पूना १९४२ |
| ११ : एकावली | विद्याधर | | |
| १२ : प्रतापरुद्रीय | विद्यानाथ | | |
| १३ : साहित्यदर्पण | विश्वनाथ | शालिग्राम शास्त्री | मोतीलाल बनारसी दास, १९५६ ई० |
| १४ : अलंकारशेखर | केशव मिश्र | अनन्तराम शास्त्री | चौखंबा संस्कृत सीरिज, संवत् १९८४ |
| १५ : वाग्भटालंकार | वाग्भट | | चौखंबा संस्कृत सीरिज |
| १६ : चित्रमीमांसा | अप्पय दीक्षित | [illegible] | [illegible] वाराणसी—२ [illegible] |
| १७ : कुवलयानन्द | अप्पय दीक्षित | डॉ० भोलाशंकर व्यास | चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी—१ १९५६ ई० |
| १८ : रसगंगाधर (प्रथम भाग) | जगन्नाथ | पुरुषोत्तम शर्मा | नागरी प्रचारिणी सभा काशी |
| १९ : [illegible] | [illegible] | [illegible]<br>[illegible] | चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी—१ १९६३ ई० |
| २० : नाट्यदर्पण | [illegible] | [illegible] | दिल्ली [illegible] दिल्ली, १९६१ ई० |

२१ : अलंकार कौस्तुभ — कवि कर्णपूर — शिव प्र० भट्टाचार्य — बारेन्द्र रिसर्च सोसायटी राजशाही बंगाल, १९२६
२२ : वक्रोक्ति जीवितम् — कुन्तक — डॉ० नगेन्द्र — आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९५५ई०
२३ : काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति — वामन — डॉ० नगेन्द्र — आत्मा राम एण्ड सन्स, दिल्ली ६, १९५४ ई०
२४ : ऋग्वेद — गायत्री प्रकाशन, मथुरा
२५ . निरुक्त — निर्णय सागर प्रेस, १९३०
२६ · नाट्यशास्त्र — निर्णय सागर प्रेस, १९४३
२७ : अष्टाध्यायी — रामलाल कपूर, अमृतसर

## हिन्दी

१ : अलंकारमुक्तावली — आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा — ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
२ : अलंकारमंजरी — सेठ कन्हैयालाल पोद्दार — मथुरा, संवत् २००६
३ : काव्यदर्पण — पं० रामदहिन मिश्र — ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना–४, १९५१ ई०
४ : अलंकार-पीयूष — पं० रमाशंकर शुक्ल, रसाल — रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९२९ ई०
५ : अलंकार-प्रवेशिका — श्री चन्द्रशेखर — रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९६१ ई०
६ : भारती-भूषण — सेठ अर्जुनदास केडिया — भारतीभूषण कार्यालय, काशी, १९८७ वि०
७ : शिवराजभूषण — भूषण — तेजकुमार प्रेस बुकडिपो, लखनऊ, १९५० ई०
८ : पद्माभरण — पद्माकर — विहार पब्लिशिंग हाउस, खजाची रोड, पटना–४,
९ : मतिराम—ग्रथावली — मतिराम — सं० कृष्णविहारी मिश्र, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९९१ वि०
१० : कविप्रिया — केशवदास — लाला भगवान दीन, कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी–१, सं० २०१४ वि०

---

११ : रामचरितमानस — सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र — काशीराज संस्करण
१२ · हिन्दी साहित्य कोश — सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सवत् २०१५
१३ : तुलसी शब्दसागर — पं० हरगोविन्द तिवारी — हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९५४ ई०
१४ : रीतिकालीन अलंकार-साहित्य का शास्त्रीय विवेचन — डॉ० ओम् प्रकाश शर्मा — हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–७ १९६५ ई०
१५ : भिखारीदास ग्रन्थावली द्वितीय खण्ड — सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र — नागरी प्रचारिणी, सभा, काशी, सं० २०१४
१६ : हिन्दी अलंकार साहित्य — डॉ० ओम् प्रकाश — भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, १९५६

| | | | |
|---|---|---|---|
| १७ : | भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यलंकार | डॉ० भोलाशंकर व्यास | चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी—१, १९६५ ई० |
| १८ . | संस्कृत साहित्य में सादृश्यमूलक अलंकारो का विकास | डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा | गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर |
| १९ : | तुलसी साहित्य रत्नाकर | पं० रामचन्द्र द्विवेदी | सत्साहित्य प्रकाशक-मण्डल, नया टोला, पटना, संवत् १९८६ |
| २० : | मानस-पीयूस | श्री अंजनीनन्दन शरण श्री शीतला सहाय | गीता प्रेस, गोरखपुर सं० २०१७ |
| २१ : | सिद्धान्त तिलक | श्रीकान्त शरण | पुस्तक-भंडार, पटना—४ |
| २२ : | रामचरितमानस | टीकाकार-हनुमान प्र० पोद्दार | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| २३ : | मानसदीपिका | रघुनाथ दास | मानस-मयूख मे प्रकाशित |
| २४ : | रामचरितमानस का काव्यशास्त्रीन अनुशीलन | डॉ० राजकुमार पाडेय | अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर, १९६३ ई० |
| २५ : | तुलसी-काव्य-मीमांसा | डॉ० उदयभानु सिंह | राधाकृष्ण प्रकाशन, १९६३ ई० |
| २६ : | तुलसीदास | आचार्य चन्द्रवली पाडे | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१४ |
| २७ : | गोस्वामी तुलसीदास | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २००८ |
| २८ : | मानस माधुरी | डॉ० वलदेवप्रसाद मिश्र | साहित्य रत्नभडार आगरा, १९५८ ई० |
| २९ : | तुलसी रसायन | डॉ० भगीरथ मिश्र | साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहावाद, १९५४ ई० |
| ३० : | मानसदर्शन | डॉ० श्रीकृष्णलाल | आनन्द पुस्तक भवन, वनारस कैंट २००६ वि० |
| ३१ : | तुलसी मानस रत्नाकर | डॉ० भगवती सिंह | सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा, १९६२ ई० |
| ३२ : | तुलसीदास और उनका युग | डॉ० राजपति दीक्षित | ज्ञानमण्डल लिमिटेड वनारस, संवत् २००९ |
| ३३ : | तुलसीदास | डॉ० माताप्रसाद गुप्त | हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्व-विद्यालय, प्रयाग, १९५३ ई० |
| ३४ : | मानस-मीमांसा | रजनीकान्त शास्त्री | किताव-महल इलाहावाद, १९४९ ई० |
| ३५ : | साहित्य सम्राट् तुलसीदास | पं० गंगाधर मिश्र | सरस्वती-मन्दिर जतनवर, वाराणसी, संवत् २०१६ |
| ३६ : | तुलसीदास और उनका काव्य | पं० रामनरेश त्रिपाठी | राजपाल एण्डसन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, १९५३ ई० |
| ३७ . | गोस्वामी तुलसीदास | शिवनन्दन सहाय | विहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना १९६१ ई० |
| ३८ : | गोस्वामी तुलसीदास | श्यामसुन्दर दास पीताम्बर दत्त वड्थ्वाल | हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहावाद |
| ३९ : | मानस की रूसी भूमिका | ए०पी० वरान्निकोव अनु० डॉ० केसरीनारायण शुक्ल | विद्यामन्दिर, रानी कटरा, लखनऊ, १९५५ |

| | | |
|---|---|---|
| ४० : तुलसी | रामबहोरी शुक्ल | हिन्दी भवन, जालंधर १९५२ ई० |
| ४१ : हिन्दी नवरत्न | मिश्र बन्धु | |
| ४२ : वाल्मीकि और तुलसी | डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल | प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ, १९६६ |
| ४३ : काव्य में अभिव्यंजनावाद | डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु | ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना—४ संवत् २०१६ |
| ४४ : हिन्दी साहित्य | डॉ० हजारी प्र० द्विवेदी | अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, देहली, १९५२ ई० |
| ४५ : तुलसीदास की भाषा | डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव | लखनऊ विश्वविद्यालय सं० २०१४ |
| ४६ : मानसदर्पण | चन्द्रमौलि सुकुल | इंडियन प्रेस, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९२० ई० |
| ४७ : अलंकार-चन्द्रिका | लाला भगवान दीन | पुस्तकभंडार, लहेरियासराय, सं० १९९४ वि० |
| ४८ : अलंकार मंजूषा | लाला भगवान दीन | मलिक विद्या-प्रचारक बुकडिपो, कचहरी रोड, गया १९१६ ई० |
| ४९ : अलंकार-प्रकाश | पिंगल कौमुदी | हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग |
| ५० : तुलसी | डॉ० उदयभानु सिंह | राधाकृष्ण प्रकाशन ४-१४, रूपनगर, दिल्ली—७ |
| ५१ : रीतिकाव्य की भूमिका | डॉ० नगेन्द्र | गौतम बुकडिपो, दिल्ली १९४९ ई० |
| ५२ : काव्य बिम्ब | डॉ० नगेन्द्र | नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली—७ |
| ५३ : रामचरितमानस टीका | महावीर प्र० मालवीय | वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, संवत् १९८२ |
| ५४ : रामचरितमानस | स्वामी अवधबिहारी दास परमहंस | त्रिवेणी बाँध गुफा, दार गंज, प्रयाग सवत् १९८९ |
| ५५ : मानस रहस्य | सरदार कवि | भारत जीवन यन्त्रालय, काशी सवत् १८९५ |
| ५६ : मानस मयंक | पं० शिवलाल पाठक | खड्गविलास प्रेस, पटना-३ १९२० ई० |
| ५७ : जसवन्त जसोभूषण | मुरारि दीन | मारवाड़ स्टेट प्रेस, जोधपुर, १९५४ ई० |
| ५८ : काव्य-प्रभाकर | जगन्नाथप्रसाद भानु | लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना, कल्याण (बम्बई), संवत् १९६६ |
| ५९ मानस-मंथन | डा० स्वामीनाथ शर्मा | आशुतोष प्रकाशन चेतगंज, वाराणसी १९६६ |
| ०: मानस मार्तण्ड (प्रथम खंड) | जानकी शरण (स्नेहलता) | हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, बनारस संवत् १९९८ |
| ६१ मानस प्रदीप (सुन्दर प्रकाश) | रमाशंकर प्रसाद | रामायण भवन, प्रयाग, सवत् २००६ |
| ६२ भारतीय साहित्य शास्त्र | पं० बलदेव प्र० मिश्र | प्रसाद परिषद्, काशी |
| ६३ हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास | डॉ० भगीरथ मिश्र | लखनऊ विश्व-विद्यालय सवत् २००५ |
| ६४ : संस्कृत साहित्य का इतिहास (दूसरा भाग) | सेठ कन्हैयालाल पोद्दार | |
| ६५ : काव्य-प्रभाकर | | लक्ष्मी वेंकटेश्व प्रेस, कल्याण, बम्बई; संवत् १९६६ |

| | | |
|---|---|---|
| ६६ : साहित्य सागर (२ भाग) | | गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ |
| ६७ · काव्य मे उदात्त तत्त्व | डॉ० नगेन्द्र | राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, १६५८ |
| | | १६६४ संवत् |
| ६८ : उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन | जगदीश पाण्डेय | अर्चना प्रकाशन, आरा, ६६६४ ई० |
| ६९ : कालिदास ग्रंथावली | | विक्रम परिषद, काशी सं० २००७ |
| ७० : कवितावली | लाला भगवान दीन | |
| ७१ : तुलसी के भक्त्यात्मक गीत विशेषत: विनयपत्रिका | डॉ० वचनदेव कुमार | हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १६६४ |
| ७२ . चिंतन के धागे | डॉ० वचनदेव कुमार | नोवेल्टी एण्ड को० पटना–४ |

## अंग्रेजी

1. Some concepts of tne Alanker Sastra — V. Reghvan — The Adyar Aibrary, Adyar, 1942
2. Some Problems of Sanskrit Poetics — S. K. De — Pirma K. L. Mukho-Padhyay, Calcutta 1959.
3. Dictionary of Literary Terms—Shipley
4. Encylopaedia of Religion and E·hics
5. History of Sanskrit Poetics — P. V. Kane — Motilal Banarsidas, Delhi, 1951.
6. Aristotles Poetics and Phet ric — J. M. Dent & Sons Ltd. London, 195 .
7. The Imagery of Keats and Shelly — Richard Haster Fogle — The University of North Carolina Press, 1962.
8. Akbar the Great Mogul — Vircent A Smith — S Chand & Co. 1962
9. The Poetie Image — C. Day Lewis — Jonathan Cape Thirty Bedford Square London, 1958
10. The poetic Pattern — Robin Skelton — Routledge and Kegan Paul London. 1957.

## हस्तलेख एव अमुद्रित ग्रन्थ

१ : तुलसी भूषण — लेखक—रसरूप, लिपिकार—सावल दास हस्तलेख सं० ६३५ पत्र १-५६, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२ : तुलसी भूषण — शिव प्रसाद सुमति, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

३ : तुलसीदास के काव्य मे अलंकार-योजना (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) — नरेन्द्रकुमार दिल्ली, विश्वविद्यालय

४ : रामचरितमानस मे उपमान (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) १६६४ ई० — डॉ० लीला ओझा, प्रयाग विश्वविद्यालय

## पत्र-पत्रिकाएँ

१ : मानस-मयूख   २ : मानस   ३ : मानसमणि